

86

जनवरी-जून, 2024

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

ISSN 0974-0066

UGC Care List, Group-C (Multi disciplinary), Sl. no.-15

(अंक-86, जनवरी-जून, 2024)

संरक्षक

प्रो. नीलिमा गुप्ता

कुलपति

प्रधान सम्पादक

प्रो. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव

सम्पादक

डॉ. अनिल कुमार तिवारी

डॉ. आशुतोष कुमार मिश्र

डॉ. वंदना राजोरिया

डॉ. संजय यादव

डॉ. विवेक जायसवाल



डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश)-470003

सम्पादकीय परामर्श मण्डल

- प्रो. आनंद प्रकाश त्रिपाठी
- प्रो. अशोक अहिरवार
- प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत
- प्रो. डी.के. नेमा
- प्रो. नागेश दुबे
- प्रो. अनुपमा कौशिक

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

अंक-86, जनवरी-जून, 2024

ISSN 0974-0066 (पूर्व-समीक्षित अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका)

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

UGC Care List, Group-C (Multi disciplinary), Sl. no.-15

प्रकाशित रचनाओं के अभिमत से डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है तथा यहाँ प्रकाशित आलेखों की 'प्लेजिरिज्म' (Plagiarism) सम्बन्धी शुचिता की जिम्मेदारी लेखकों की है।

सम्पादकीय पत्र व्यवहार:

मध्य भारती

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर - 470003 (म.प्र.)

सदस्यता शुल्क		आजीवन
प्रति अंक	व्यक्तिगत	संस्थागत
रु. 150 / -	रु. 2000 / -	रु. 4000 / -
रु. 200 / -		

ई-मेल : madhyabharti_ss@dhsgsu.edu.in

मुद्रण:

जैना ऑफसेट प्रिंटर

शाहिबाबाद (यू.पी.)

अनुक्रम

नयी कविता और रामविलास शर्मा रूपेश कुमार	7
भारतीय संस्कृति में यमुना नदी का बहुआयामी स्वरूप श्रुति राय	17
प्रेमचंद का प्रेमाश्रम: औपनिवेशिक भारत का कृषितंत्र और किसान त्रासदी विवेकानंद उपाध्याय	26
रहली की वैष्णव प्रतिमाओं का स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प गोविन्द सिंह दांगी	36
महायानी साधना पद्धति के प्रमुख तत्त्व मुकेश कुमार सिंह, राघवेंद्र प्रताप सिंह	45
विद्यार्थियों के समग्र विकास हेतु पंचकोश सिद्धांत की एकात्मता भावना तिवारी, धर्मेन्द्र कुमार सराफ	56
बच्चों की घरेलू भाषा और शिक्षक छाया राजोरा	66
आर्य समाज और नारी शिक्षा अनिल कुमार तिवारी	80
भारतीय सामाजिक संरचना के निर्माण में प्राकृतिक संसाधनों की भूमिका ब्रजेन्द्र कुमार, अभितोधन बाबूराव कांबले	92
महात्मा गांधी का हिन्द स्वराज और सुन्दरलाल बहुगुणा आभा नवनी	105

Decomposing Value of Ecosystem Services: A Case of Panchaganga River <i>Prakash Kamble</i>	119
Reconstructing the Lives of the Zamindars of Bankura District in Pre-colonial and Colonial Period <i>Ramyajit Sarkar</i>	129
A Place Called Home: The Inter-subjective Belongingness among the Bangladeshi Hindu Migrants <i>Vandana Kumari</i>	148
New Vistas of Cinema: Breaking Social Stereotypes of Gender <i>Saloni Sharma, Vivek Jaiswal</i>	161
Globalisation and Changing Family Structure <i>Haresh Narayan Pandey</i>	173
Anthropometric Assessment of Nutritional Status of Birhor School Going Children and Adolescent of Korba District Chhattisgarh, India <i>Dhansay, Sarvendra Yadav, A. N. Sharma</i>	182
Critical Reflection on Electronic Evidence in the Bhartiya Sakshya Adhiniyam 2023 <i>Vivek Dubey</i>	194
Motherhood and Resistance in Amrita Pritam's <i>Pinjar</i> <i>Mitali Mishra, Surbhi Saraswat, Krishna Menon</i>	206
Politeness Strategies in Khortha: A Linguistic Study <i>Akash Kumar, Bablu Ray</i>	220

Shakti and the Sacred Feminine: Tracing the Cult of the Mother Goddess in Early India <i>Vibha Rathod</i>	229
Ritual to Recreation: A Continuum in Bundelkhand Folklore <i>Anamika Shukla</i>	241
The Nature of Consciousness: Metaphysical Presuppositions of Advaita Vedānta <i>L Vijai, Padmakumar P. R.</i>	250

नयी कविता और रामविलास शर्मा

रूपेश कुमार

सारांश :

रामविलास शर्मा का नयी कविता संबंधी चिंतन अन्य मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी दोनों तरह के आलोचकों से भिन्न और मौलिक है। वह नयी कविता आन्दोलन के पीछे साहित्यिक परिवर्तन कम व्यक्तिगत कारण अधिक मानते हैं, उनकी दृष्टि में नयी कविता और प्रयोगवाद की बुनियाद एक है। यही कारण है कि नयी कविता में प्रयोगवाद का निषेध और विस्तार दोनों के लक्षण देखने को मिलते हैं। नयी कविता के लेखकों ने प्रगतिशील कविता के विरोध में उसी अस्तित्ववादी दर्शन को अपनाया, जिसको प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी और फ्रांस के कुछ बुद्धजीवियों ने साम्यवादी आन्दोलन और पूँजीवादी तानाशाही से खुद को अलग करते हुए स्वीकार किया था। अस्तित्ववादी प्रभाव के कारण ही नयी कविता में अजनबीपन, आत्महत्या, घुटन, बेचैनी, कुंठा आदि की अभिव्यक्ति हुई है, जो उस समय के समाज का सही आइना नहीं दिखाती है; क्योंकि भारत में आजादी के बाद वैसी परिस्थितियाँ नहीं थीं, जिस प्रकार से प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान यूरोप में थीं।

बीज शब्द : प्रयोगवाद, मार्क्सवाद, प्रगतिशील, छायावाद, साम्राज्यवाद, अस्तित्ववाद

हिंदी साहित्य के इतिहास में नयी कविता नाम का प्रयोग कई तरह की कविताओं के लिए किया जाता है। सबसे पहले इस नाम का प्रयोग प्रगतिवाद के दौर में मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिशील कविता के लिए किया गया। बाद में जब इलाहाबाद की परिमल संस्था से जुड़े विद्वानों ने मार्क्सवाद और प्रयोगवाद से अलग पहचान के लिए नयी कविता आन्दोलन चलाया तो उनके द्वारा इस नाम का प्रयोग किया गया। यह आन्दोलन 'नयी कविता' नामक पत्रिका के प्रकाशन से आरम्भ हुआ। प्रवेशांक के साथ ही इस पत्रिका की खूब चर्चा हुई। 1954 ई. से 1968 ई. तक 'नयी कविता' पत्रिका के कुल आठ अंक निकले, जिसमें उसकी सैद्धांतिकी से संबंधित लेख और उस धारा के महत्वपूर्ण कवियों की अनेक कविताएँ प्रकाशित हुईं। नयी कविता संबंधी विवेचन में इस पत्रिका का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि प्रकाशन के काफी समय बाद तक नयी कविता संबंधी विवेचन पत्रिका से जुड़े रचनाकारों की चर्चा-परिचर्चा तक सीमित रहा, लेकिन जैसे-जैसे नयी कविता आन्दोलन की ख्याति बढ़ती गई उसके समर्थन और विरोध के साथ स्वतन्त्र रूप में अलग-अलग नामों से कई अन्य आन्दोलन चलाये गये। इन

आंदोलनों के लिए पत्रिकाओं के विशेषांक निकले या लेख लिखकर नये नामों की घोषणाएँ की गईं। प्रत्येक आन्दोलन में नयेपन का दावा करने के साथ उसके औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास किया गया। ऐसे कुछ नामों और स्थापनाओं ने थोड़े समय के लिए सबका ध्यान भी आकर्षित किया, लेकिन हिंदी साहित्य के इतिहास में उनको कोई खास स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई, जिसके कारण इन सबको भी नयी कविता आन्दोलन का हिस्सा माना गया। यही कारण है कि 'नयी कविता: किसिम किसिम की कविता' नामक लेख में जगदीश गुप्त ने लिखा कि "मेरी दृष्टि में नयी कविता के स्वरूप में अभी परिवर्तन, के रूप में नाम वैविध्य और थोड़ी अनेक रूपता ही सामने आयी है, आंतरिक विघटन आरम्भ नहीं हुआ है। आत्मलक्षी पत्र-पत्रिकाओं के प्रचारक वक्तव्यों से ऐसा कोई भ्रम नहीं होना चाहिए और न किसी विवेक सम्पन्न आलोचक को होगा ही। अपने को अलग दिखाना एक बात है और वस्तुतः अलग हो जाना दूसरी बात है।"¹ स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर या बीसवीं शती के उत्तरार्ध में नयी कविता का प्रयोग जिस अर्थ हुआ है, उसमें बहुत अधिक विविधता है, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि अब ऐसी सभी कविताओं के लिए नयी कविता नाम रूढ़ हो चुका है। रामविलास शर्मा अपने कविता संबंधी विवेचन में नयी कविता नाम का प्रयोग मार्क्सवादी से प्रभावित प्रगतिशील कविता और 1954 के बाद नयेपन का दावा करने वाली सभी कविताओं के लिए किया है। अर्थात् नयी कविता नाम का प्रयोग वह नये और पुराने दोनों अर्थों में करते हैं। ऐसे में रामविलास शर्मा के नयी कविता संबंधी विवेचन में बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता पड़ती है।

नयी कविता का प्रयोग 1954 ई. के बाद जिस अर्थ में रूढ़ हो गया है, उसकी चर्चा बीसवीं शदी के उत्तरार्ध में 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन से आरम्भ होती है। एक ओर उत्तर छायावादी दौर में 'तारसप्तक' की केन्द्रीयता के कारण अज्ञेय का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया था, इसलिए 1951 में जब उनके संपादन में 'दूसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ तो उसमें भी नयेपन की खोज आरम्भ हुई। दूसरी ओर परिमल संस्था से जुड़े जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी और विजयदेव नारायण साही आदि विद्वानों ने प्रयोगवाद से अपने को अलग कर लिया और 'नयी कविता' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "नई कविता, प्रयोगवाद से भिन्न होकर, एक रूढ़ अर्थ में तब प्रयुक्त होने लगी जब १९५४ में इलाहाबाद से 'नई कविता' नामक संकलन प्रकाशित होने लगा। आरम्भ में ये नई कविता वाले प्रयोगवाद से अपना संबंध जोड़ते थे। किन्तु प्रयोगवाद पर अज्ञेय का एकाधिकार था, अज्ञेय से प्रयोगवाद के आचार्यों की खटक गयी, तब नयी कविता की धारा प्रयोगवाद से अलग हटकर प्रवाहित होने लगी।"² स्पष्ट है कि नयी कविता आन्दोलन के पीछे साहित्यिक परिवर्तन कम व्यक्तिगत कारण से ज्यादा रहे, जिसे योजनाबद्ध ढंग से चलाया गया। इस आन्दोलन की आवश्यकता प्रगतिशील कविता विरोधियों को इसलिए पड़ी क्योंकि प्रगतिवाद के विरोध में खड़े किये गए प्रयोगवाद को 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में स्वयं अज्ञेय द्वारा यह कहकर ध्वस्त कर दिया गया कि "प्रयोग कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे हैं।"³ इससे प्रयोगवाद के समर्थकों को काफी झटका लगा। कविता में अज्ञेय की केन्द्रीयता से क्षुब्ध इलाहाबाद के प्रयोगवादी समर्थक आचार्यों से उनके खटकने का यह भी एक कारण बना। प्रयोगवाद को 'तारसप्तक' के आधार पर खड़ा किया गया था, लेकिन अज्ञेय के खंडन से उसमें दरार पैदा हुई, जिसका लाभ

प्रगतिशील कविता को मिलना स्वाभाविक था। ऐसी स्थिति में प्रगतिशील कविता को रोकने के लिए परिमल संस्था से जुड़े घोषित गैर मार्क्सवादी प्रयोगवादी आचार्यों ने नयी कविता आन्दोलन चलाया। रामविलास शर्मा लिखते हैं कि “नयी कविता का आन्दोलन प्रगतिशील साहित्य के विरोध में चलाया गया था, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है।”⁴ यही कारण है कि नयी कविता आन्दोलन में जितना दूरी प्रयोगवाद से बनाने का प्रयास किया उससे कहीं अधिक दूरी प्रगतिवाद से बनाया गया। यह अलग बात है नयी कविता बहुत दूर तक प्रयोगवाद से खुद को अलग नहीं कर सकी और उसमें प्रयोगवाद का निषेध और विस्तार दोनों लक्षण देखने को मिलता है।

प्रारम्भ में प्रयोगवाद और नयी कविता आपस में इतने संबद्ध थे कि जो कुछ प्रयोगवाद के बारे में कहा गया, वही सब नयी कविता के बारे में कहा जाने लगा। डॉ. रामविलास शर्मा ‘नयी कविता और अस्तित्ववाद’ पुस्तक में दोनों के बीच इस घनिष्ठ संबंध का उल्लेख कई जगह करते हैं। इसका एक उदाहरण ‘स्वाधीनता के बाद नयी कविता’ नामक अध्याय में है, जिसमें वह लिखते हैं कि “सन् ‘५४ में डॉ. जगदीश गुप्त और उनके मित्रों ने इलाहाबाद से ‘नई कविता’ का प्रकाशन आरम्भ किया। पहले अंक में नई कविता पर पंत का लेख छपा। तीन साल पहले रेडियों गोष्ठी में पंत ने प्रयोगवाद पर जो कुछ कहा था, वही शीर्षक बदलकर अब नई कविता पर छाप दिया गया।”⁵ इससे पता चलता है कि नई कविता के शिल्पकारों ने प्रयोगवाद से खुद को अलग तो किया लेकिन शुरुआत में वह यह बताने में असमर्थ रहे कि नयी कविता प्रयोगवाद से अलग कैसे है? यद्यपि बाद में नयी कविता को अलग साबित करने के लिए बहुत सारे तर्क दिए गये, लेकिन सब कुछ प्रयोगवाद की विरासत पर था। रामविलास शर्मा लिखते हैं कि “सन् ‘४७ में नेमीचन्द्र जैन ने जो अंतर्मुखी साहित्य और सामाजिक चेतना के साहित्य में भेद किया था, उसी को नयी कविता के सिद्धांतकारों ने पुष्पित और पल्लवित किया।”⁶ विदित हो कि प्रगतिवाद में यथार्थ का आग्रह था और प्रयोगवाद में अनुभूतिजन्य सत्य को आधार बनाया गया। यह सत्य सभी प्रयोगवादी कवियों का अलग-अलग था। यही कारण है कि “उनमें मतैक्य नहीं है, सभी विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्यवस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है।”⁷ जिसके चलते प्रयोगवाद की कोई निश्चित दिशा तय नहीं हो पायी और यह प्रगतिशील कविता के भीतर छायावादी प्रयोग मात्र बनकर रह जाता है। नयी कविता में इसी प्रयोग को दोहराया गया और इसके लिए परम्परा से जोड़ने के साथ अनुभूति तत्त्व पर पहले से ज्यादा बल दिया गया, लेकिन यह प्रयास भी बहुत सफल नहीं हुआ। नामवर सिंह लिखते हैं कि “जो केवल अपनी अनुभूति-क्षमता के मिथ्याभिमान के बल पर नई कविता को समझ लेने तथा समझकर मूल्य-निर्णय का दावा करते हैं, व्यवहार में उसकी अनुभूति की सीमा प्रकट होने के साथ यह तथ्य भी प्रकट हो जाता है कि काव्य-समीक्षा में हवाई ढंग से सामान्य अनुभूतियों का सहारा लेना भ्रामक है। महाभारत के बाद अर्जुन का गांडीव जिस तरह दस्युओं के सम्मुख व्यर्थ हो गया था, उसी प्रकार नई कविता के समक्ष पुरानी अनुभूतियों से निर्मित सहृदय की विफलता निश्चित है। सैद्धांतिक स्तर पर इस सहृदय को चाहे जितने शब्दों एवं युक्तियों से सुसज्जित किया जाए, किन्तु एक छोटी-सी नई कविता भी सिद्धांत के बड़े-से-बड़े गुब्बारे के

लिए आलपिन हो जाती है।⁸ स्पष्ट हैं कि एक तो नई कविता में वह अनुभूति नहीं है, जिसका सैद्धांतिक स्तर पर दावा किया गया। दूसरा अगर है भी तो अनुभूति के स्तर पर कविता में नयेपन का दावा उसी तरह का है जैसा कि प्रयोग के नाम पर प्रयोगवाद में किया गया, जिसका खंडन स्वयं अज्ञेय ने 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में यह कहकर किया कि "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।"⁹ तात्पर्य प्रयोग और अनुभूति के आधार पर किसी कालखंड की कविता को अलग नहीं किया जा सकता है। प्रयोग हर कालखंड में हुआ है और इसी के आधार पर कविता निरंतर विकसित होती रही है। प्रयोग की तरह ही अनुभूति भी है, वह कविता में अंतर्भूत होती है, उसके बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती है।

प्रयोगवाद और नयी कविता की बुनियाद को एक मानने के कारण रामविलास शर्मा दोनों में बहुत अंतर नहीं करते हैं। वह प्रयोगवाद की तरह नई कविता पर भी खुलकर प्रहार करते हैं, उनकी दृष्टि में छायावाद की जिन कमजोरियों से नाता प्रयोगवाद ने जोड़ा था, नयी कविता भी उसी से संबद्ध रही। प्रयोगवाद की तरह नयी कविता में भी छायावाद के समर्थ पक्ष और साम्राज्यवाद विरोधी स्वाधीनता की भावना का अभाव है। वह लिखते हैं कि "नयी कविता की धारा स्वाधीनता की विरासत को, और छायावाद के साथ प्रगतिशील कविता की उपलब्धियों को, नकारते हुए आगे बढ़ी। कम्युनिष्ट पार्टी में इस समय जो विसर्जनवादी प्रवृत्तियां उभरीं, उनसे इस प्रक्रिया में सहायता मिली।"¹⁰ स्पष्ट है कि रामविलास शर्मा प्रगतिवाद की तरह नयी कविता की कमजोरियों की चर्चा ही नहीं करते हैं बल्कि प्रगतिशील विचारधारा के भीतर की उन ताकतों की भी आलोचना करते हैं, जिसके कारण इस आन्दोलन को बल मिला, लेकिन दोनों के विवेचन में फर्क है। एक तो प्रयोगवाद के संबंध में रामविलास शर्मा उसको बल प्रदान करने वाली प्रगतिवादी ताकतों को संकीर्णतावादी कहते हैं और प्रयोगवादियों के साथ कोई सहानुभूति नहीं दिखाते हैं, जबकि नयी कविता के संदर्भ में वह उसको बल प्रदान करने वाली प्रगतिशील ताकतों को विसर्जनवादी कहते हैं और नयी कविता के समर्थकों के बारे में कहते हैं कि वे संकीर्णतावादी नहीं थे। कह सकते हैं कि समय के साथ रामविलास शर्मा की आक्रामकता में थोड़ा परिवर्तन आया, जिसके दो कारण हैं। एक तो प्रयोगवादियों ने जिस तरह से प्रगतिवादियों पर आक्रमण किया उस तरह से उन पर नयी कविता के समर्थकों ने नहीं किया। दूसरा नयी कविता के पक्षधर लेखकों में आन्दोलन की सीमाओं और अन्य लेखकों के सच को स्वीकारने का साहस था, जिसके कारण वह रामविलास शर्मा को प्रतिक्रियावादी नहीं लगते हैं। इस संदर्भ में वह आलोचना जुलाई ५४ में छपे लक्ष्मीकान्त वर्मा के लेख 'प्रयोगवादी जिसे हम नई कविता भी कहते हैं' का उल्लेख करते हैं, जिसके शीर्षक में ही उन्होंने प्रयोगवाद और नयी कविता को एक माना था, एक अन्य उल्लेख आलोचना, अक्टूबर ५१ में छपे डॉ. रघुवंश के लेख की करते हैं, जिसमें उन्होंने पंत के नव रहस्यवादी कविताओं का समर्थन किया था। जहाँ तक प्रगतिशील कवियों का सवाल है तो प्रगतिवादी दौर में प्रगतिशीलता के नाम पर कुछ लेखकों में आत्ममुग्धता, उग्रता और परम्परा के प्रति नकार की भावना रामविलास शर्मा को आवश्यकता अधिक दिखाई पड़ती है, जबकि नयी कविता के समय इसमें कमी आयी, लेकिन इसके बावजूद वह सबको साथ लेकर चलने में असमर्थ रहे। यही

कारण है कि प्रगतिशील लेखकों के प्रति भी वह थोड़ा नरम पड़ते हैं और उन्हें संकीर्णतावादी के बजाय विसर्जनवादी कहते हैं, यानि ऐसे लेखक जो बहुत कुछ छोड़कर आगे बढ़ रहे थे।

रामविलास शर्मा नयी कविता का मूल्यांकन करते हुए जहाँ भी अवसर मिलता है प्रगतिशील लेखकों के ऐसे कदमों की आलोचना करते हैं, जिससे प्रगतिशील साहित्य का दायरा सीमित होता है। वह प्रगतिशील विचारधारा के रचनाकार आलोचक थे और मार्क्सवादी के प्रति उनकी प्रतिबद्धता दूसरे मार्क्सवादी लेखकों से कहीं अधिक थी, लेकिन वह उनकी तरह रेडिकल नहीं थे। रामविलास शर्मा अन्य प्रगतिशील आलोचकों से भिन्न हैं, उनका चिंतन गहरा और उद्देश्य निश्चित था। वह भारतीय संदर्भ में प्रगतिशील विचारधारा धारा को विकसित और विस्तृत करना चाहते थे, इसके मार्ग में प्रगतिशील विचारधारा के भीतर या बाहर उन्हें जो भी बाधा दिखाई पड़ी, उस पर उन्होंने खुलकर प्रहार किया। प्रगतिशील रचनाकार होने के बावजूद रामविलास शर्मा को अन्य कई प्रकार की रचनाएं भी बहुत प्रिय थीं, जिसमें छायावादी साहित्य में देश की स्वाधीनता और जनतंत्र की आकांक्षा का स्वर है। यही कारण है कि स्वतंत्र्योत्तर काल में भी जब प्रयोगवाद और नयी कविता पर बहस चल रही थी, वह प्रगतिशील परम्परा के साथ छायावादी प्रकृति की कविताओं की खोज कर रहे थे। वह लिखते हैं कि “नयी कविता के हितैषी संभावनाओं पर बल देते हैं। सन् '३८ से नई कविता से कविता की शुरुआत माने तो तीस साल, सन् '४७ से मानें तो बीस साल में ये संभावनाएं किस रूप में चरितार्थ हुई हैं? 15 साल के छायावाद की उपलब्धियों की तुलना में बीस-तीस साल की उपलब्धियाँ कैसी ठहरती हैं? पिछले बीस साल में जो कविताएँ लिखी गई हैं, उनसे छायावादी और प्रगतिशील ढंग की रचनाएं अलग कर दें तो जो बच रहती हैं, वे कोई मूल्यवान निधि नहीं हैं।”¹¹ यहाँ रामविलास शर्मा नयी कविता के सभी अर्थों को एक साथ समेटते हुए छायावाद के बाद स्वतंत्र्योत्तर दौर में कई तरह की बहसों के बीच यह घोषित करते हैं कि कविता में जो कुछ महत्वपूर्ण और मूल्यवान है वह छायावादी और प्रगतिशील ढंग की रचनाएं ही हैं।

रामविलास शर्मा नयी कविता का मूल्यांकन करते हुए छायावाद की चर्चा बार-बार करते हैं, इसके तीन प्रमुख कारण हैं। पहला कारण यह है कि वह छायावाद की उस वैक्तिक अनुभूति को जो उसका सर्वथा कमजोर पक्ष था, उसे नयी कविता से जोड़ते हैं और लिखते हैं कि “नयी कविता ने छायावाद की कमजोरियों से नाता जोड़ा है, उसका समर्थ पक्ष छोड़ दिया है।”¹² यह समर्थ पक्ष जनतंत्र और स्वाधीनता की भावना का था। दूसरा कारण रामविलास शर्मा ने छायावादी कविता के भीतर यथार्थ की अभिव्यक्ति जो उसका मजबूत पक्ष माना जाता था, उसे प्रगतिशील कविता की विरासत के रूप में व्याख्यायित किया। वह इस संबंध में लिखते हैं कि “छायावादी कविता में आरम्भ से ही भाषा, भाव, शिल्प, इन सबके सम्मिलित स्तर पर एक अन्य धारा विकसित हो रही थी। यह धारा यथार्थवाद की थी।”¹³ आगे चलकर यही धारा प्रगतिशील कविता के रूप में प्रवाहित होती है। तीसरा कारण रामविलास शर्मा छायावाद के बाद के दौर में अन्य कई प्रकार की छायावादी कविताओं की बात करते हैं। वह लिखते हैं कि “जैसे किसिम-किसिम की नयी कविता, वैसे किसिम-किसिम की नयी छायावादी कविता।”¹⁴ जिसमें वह कुल सात किस्म की छायावादी कविताओं का उल्लेख

करते हैं। रामविलास शर्मा की दृष्टि में स्वतंत्रोत्तर नयी कविता उतनी महत्वपूर्ण नहीं है इसलिए उस दौर में भी वह प्रगतिशील के साथ छायावादी काव्य परम्परा की खोज करते हैं और नयी कविता में गिने जाने वाले बहुत-से कवियों को उसमें शामिल करते हैं। रामविलास शर्मा इससे नयी कविता की आलोचना करते हुए भी उसके बहुत-से कवियों की प्रशंसा करते हैं। वह नयी कविता में केवल उन्हीं कवियों को रखते हैं जिन पर अस्तित्ववाद का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है।

छायावाद की तरह ही नयी कविता के मूल्यांकन में रामविलास शर्मा द्वारा नामवर सिंह की चर्चा का उल्लेख भी अत्यंत आवश्यक और महत्वपूर्ण है। इसका पहला कारण दोनों प्रगतिशील विचारधारा के बड़े आलोचक हैं और नयी कविता के संबंध में भिन्न मत रखते हैं। दूसरा कारण नयी कविता के संबंध में बहुत-सी स्थापनाएं वह नामवर सिंह की स्थापनाओं को खारिज करते हुए करते हैं। तीसरा नयी कविता के एक महत्वपूर्ण कवि मुक्तिबोध के संबंध में दोनों के विचारों का विपरीत होना है। नामवर सिंह ने जब 1968 ई. में 'कविता के नये प्रतिमान' नामक पुस्तक लिखी तो नयी कविता संबंधी स्थापनाओं के साथ रामविलास शर्मा के चिंतन पर कुछ प्रश्न खड़े किये। ऐसे में रामविलास शर्मा ने जब 1977 ई. में 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' पुस्तक लिखी तो उसमें नामवर सिंह की जहाँ कुछ स्थापनाओं को निर्मूल साबित किया, वहीं कुछ को नयी कविता के शिल्पकार विजयदेव नारायण साही और लक्ष्मीकांत वर्मा आदि के अनुरूप व्याख्यायित करते हुए उनके साथ खड़ा कर दिया। इस संदर्भ में 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' पुस्तक का 'नयी कविता: नये प्रतिमानों की खोज' नामक अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसमें रामविलास शर्मा नामवर सिंह की स्थापनाओं के स्रोतों का संदर्भ सहित उल्लेख करते हैं। वह अध्याय के प्रारंभ में ही लिखते हैं कि "पुरानी कविता के उपमान मैले हो गए थे। नयी कविता में नये उपमान की जरूरत हुई। कवि प्रेमिका के लिए नया उपमान ढूँढ़ लाया— कलगी बाजरे की। कुछ आलोचकों का विचार है कि कविता के प्रतिमान भी मैले हो गए हैं। नयी कविता के लिए भी नये प्रतिमान चाहिए।"¹⁵ इसकी आवश्यकता सबसे पहले नयी कविता के सूत्रधारों में एक विजयदेव नारायण साही ने अनुभव की, उसके बाद लक्ष्मीकांत वर्मा ने कविता आलोचना में नये प्रतिमानों की खोज के लिए 'नयी कविता के प्रतिमान' पुस्तक लिखी, लेकिन बात नहीं बनी। बात तब बनी जब नामवर सिंह ने 'कविता के नये प्रतिमान' पुस्तक लिखी। रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "साही तो सुझाव देकर अलग हो गये। इस कार्य का दायित्व निबाहा नामवर सिंह ने। यदि लक्ष्मीकांत वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान' पुस्तक में अपना दायित्व निबाहा होता तो नामवर सिंह को परिश्रम न करना पड़ता।"¹⁶ स्पष्ट है कि रामविलास शर्मा की दृष्टि में नामवर सिंह द्वारा कविता के नये प्रतिमानों की खोज स्वतंत्रोत्तर नयी कविता को ही पुष्ट करता है। नामवर सिंह के ऊपर यह आरोप इसलिए लगा क्योंकि उन्होंने नयी कविता के भीतर दो धाराएं मानी— एक प्रगतिशील धारा, दूसरी प्रगति विरोधी धारा। आगे वह प्रगतिशील धारा को वस्तुगत सत्य से जोड़ते हैं और प्रगति विरोधी धारा आत्मगत सत्य से। आत्मगत सत्य के आधार पर वह अज्ञेय की आलोचना करते हैं और वस्तुगत सत्य के आधार पर नयी कविता का सबसे बड़ा कवि मुक्तिबोध को घोषित करते हैं। वह लिखते हैं कि "मुक्तिबोध को छोड़कर नयी कविता का स्वीकृत होना इस बात का पक्का प्रमाण है कि नई कविता ने कहीं-न-कहीं पूर्ववर्ती रोमांटिकता के साथ

चुपचाप समझौता कर लिया था। इस बारे में नई कविता के अंतर्गत मुक्तिबोध की स्थिति बहुत-कुछ वही है, जो छायावाद के अंतर्गत निराला की थी। छायावाद में सबसे पहले विरोध पंत का हुआ और वही सबसे पहले स्वीकृत भी हुए, फिर प्रसाद और अंत में महादेवी। छायावाद के समाप्त होने तक निराला स्वीकृत नहीं हो पाए थे। नई कविता में सबसे पहले विरोध अज्ञेय का हुआ और स्वीकृत भी सबसे पहले वही हुए। मुक्तिबोध पर ध्यान तब गया जब वे मृत्युशय्या पर थे।¹⁷ इन स्थापनाओं को लेकर रामविलास शर्मा और नामवर सिंह में काफी मतभेद है। रामविलास शर्मा प्रगतिशील धारा को नयी कविता के भीतर की धारा मानने के बजाय स्वतंत्र्योत्तर हिंदी कविता के दौर में तीन स्वतन्त्र धाराओं की चर्चा करते हैं— पहली नयी कविता की धारा, दूसरी प्रगतिशील कविता धारा और तीसरी छायावादी कविता की धारा। रामविलास शर्मा नयी कविता को अस्तित्ववाद से जोड़कर उस पर खुलकर प्रहार करते हैं, जबकि प्रगतिशील और छायावादी कविता को उसकी परम्परा के साथ रखकर परखते हुए, उनसे जुड़े कवियों की प्रशंसा करते हैं। यही कारण है कि नामवर सिंह जिस अज्ञेय की आलोचना करते हैं रामविलास शर्मा छायावाद की परम्परा में रखकर उन्हें सबसे बड़ा कवि घोषित करते हैं। वह लिखते हैं “छायावाद के औपचारिक रूप दिवंगत होने के बाद जिस कवि ने छायावादी भावधारा को हिंदी काव्य-भूमि में प्रवाहित किया, वह हैं अज्ञेय”¹⁸ स्पष्ट है कि रामविलास शर्मा स्वतंत्र्योत्तर दौर की नयी कविता से अज्ञेय को अलग कर छायावाद की परम्परा में उनके महत्त्व को भी स्थापित करते हैं। नामवर सिंह ने नयी कविता के भीतर प्रगतिशील धारा का महत्त्वपूर्ण कवि मुक्तिबोध को माना तो रामविलास शर्मा ने नागार्जुन और शमशेर बहादुर सिंह को उनसे अधिक महत्त्व दिया। वह मुक्तिबोध को अस्तित्ववाद, रहस्यवाद और मार्क्सवाद बीच उलझे हुए ऐसे कवि के रूप में चित्रित करते हैं, जिसकी रचनाओं में दुनिया की विक्रिताकृतिबिम्ब उभरता है।

रामविलास शर्मा का सम्पूर्ण लेखन प्रगतिशील परम्परा की खोज का साहित्य है, इसीलिए कविता का मूल्यांकन करते हुए प्रतिमानों की खोज के बजाय वह स्वस्थ परम्परा के निर्माण पर बल देते हैं। रामविलास शर्मा की प्रगतिशीलता ऊपर से ओढ़ी हुई नहीं थी और न ही मार्क्सवाद के दायरे तक सीमित थी। वह जिस प्रगतिशील परम्परा की खोज में थे, उसके दरवाजे सबके लिए खुले थे। यही कारण है कि उनका चिंतन समकालीन अन्य प्रगतिशील साहित्यकारों से अलग है। हिंदी कविता की स्वस्थ परम्परा के निर्माण में कालखंडों का विभाजन बाधक था इसलिए वह अपने चिंतन में कालखंडों के सीमित दायरे में देखने के बजाय उसके अविच्छिन्न प्रवाह को रेखांकित करते हैं। एक कालखंड के भीतर कविता की अनेक धाराओं का प्रवाह होता है। रामविलास शर्मा प्रत्येक धारा के स्रोत और उनके कवियों का विस्तृत विवेचन करने के बाद तुलनात्मक पद्धति से प्रगतिशील धारा के महत्त्व को स्थापित करते हैं।

रामविलास शर्मा स्वतंत्र्योत्तर नयी कविता के वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीति कारणों की समीक्षा ही नहीं करते हैं बल्कि उसके वैचारिक आधार को खोजकर उसका गहन मूल्यांकन भी करते हैं, इसके लिए वह उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिक किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी चिंतन तक जाते हैं। किर्केगार्ड डेनमार्क के धर्म चिंतक और जर्मन विचारक हेगल के विरोधी थे, जिसके सिद्धांत को आध

गार बनाकर मार्क्सवाद विकसित हुआ। रामविलास शर्मा लिखते हैं "अस्तित्ववाद पर उस पुराने दर्शन का प्रभाव है जो द्वंद्ववाद का विरोधी है। आत्मगत और वस्तुगत यथार्थ संबद्ध न होकर उसके लिए अलग हैं, भूत और चेतना, व्यक्ति और समाज इसी तरह अविच्छिन्न इकाइयाँ हैं। अस्तित्ववाद पर समकालीन धार्मिक अंधविश्वासों का गहरा असर है। उसकी शुरुआत किर्कगार्ड से हुई जो, चर्च की आलोचना करते हुए भी, ईसाइयत के मार्ग से ही मुक्ति का अन्वेषी था।"¹⁹ यह दर्शन किर्कगार्ड के जीवित रहते लोकप्रिय नहीं हुआ लेकिन उसकी मृत्यु (1855) के काफी समय बाद प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति से उपजी परिस्थितियों ने उसे अचानक लोकप्रिय बना दिया था। फ्रांस के बहुत से बुद्धजीवी इसके प्रभाव में आये, जिसमें साम्यवादी आन्दोलन और पूँजीवाद दोनों से दूरी बनाने वाले बौद्धिक वर्ग के अग्रणी लेखक सार्त्र भी थे। अस्तित्ववाद से प्रभावित सार्त्र ने 'अस्तित्व और शून्य' (लेत्र ए ल नेऑ) नामक दार्शनिक ग्रन्थ लिखने के साथ भाषण दिए जो बाद में पुस्तक के रूप में छपे और 1938 में उबकाई (ला नौसे) नाम का एक उपन्यास लिखा। रामविलास शर्मा नयी कविता के लेखकों पर अस्तित्ववाद का प्रभाव दिखाने के लिए सार्त्र के चिंतन और उनके उपन्यास उबकाई की समीक्षा करते हैं। उपन्यास का नायक अन्त्वान रोकांतें सार्त्र के अस्तित्ववादी चिंतन का प्रतीक है, जिसको हर चीज सड़ी, चिकनी, लिजलिजी मालूम होती है और उसे उबकाई आती है। वह संसार में जो कुछ है उसे व्यर्थ और फालतू मानता है, यहाँ तक कि वह स्वयं को भी अनावश्यक समझता है और आत्महत्या करने के बारे में सोचता है। रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "हिंदी के अधिकांश नई कविता लिखने वालों का हाल रोकांतें जैसा है। ऊब, उबकाई, अकेलापन, बुरे-बुरे सपने, त्रास, आत्महत्या की चाह, सडँध का बोध, भीड़ में अजनबीपन की समस्या से परेशानी आदि—आदि लक्षण इसमें भी मिलते हैं।"²⁰ इससे पता चलता है कि नयी कविता के लेखकों ने प्रगतिशील कविता के विरोध में उसी अस्तित्ववादी दर्शन को अपनाया, जिसको प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी और फ्रांस के कुछ बुद्धजीवियों ने साम्यवादी आन्दोलन और पूँजीवादी तानाशाही से खुद को अलग करते हुए स्वीकार किया था।

भारत ही नहीं दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अस्तित्ववाद का प्रभाव दुनिया भर में फैला, जिसका सबसे बड़ा कारण महायुद्ध के बाद फैली निराशा के साथ कम्युनिस्ट और पूँजीवादी तंत्र के बीच दुनिया का बटवारा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत जैसे कई देश उपनिवेशवाद की गुलामी से मुक्त तो हुए लेकिन उनके सामने विकट आर्थिक समस्याएँ और वैश्विक स्तर पर राजनीतिक दबाव था। भारत में आजादी के साथ हुए विभाजन और सांप्रदायिक हिंसा ने भी बौद्धिक वर्ग को प्रभावित किया। ऐसे में प्रगतिशील लेखकों ने संघर्ष का रास्ता अपनाया तो उनसे अलग जो पूँजीवादी तंत्र के साथ भी नहीं थे, उन्होंने स्वयं अपने मूल्य और मानवीयता को गढ़ने का प्रयास किया, जिसमें वह असफल रहे और उनके भीतर उदासीनता ने जन्म लिया। रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "नयी कविता रचने वाले देश, जनता और इतिहास को जिस ढंग से याद करते हैं, उससे अंदाजा होता है कि जनतंत्र खत्म हो जाय और फासिस्ट तानाशाही कायम हो तो इन्हें कोई खास तकलीफ न होगी। जीवन व्यर्थ है, इतिहास व्यर्थ है, इसलिए दो तरह की शासन—व्यवस्थाओं में भेद करना व्यर्थ है।"²¹ यह व्यर्थता बोध ही है जो नयी कविता के लेखकों को मृत्यु के समीप लाता है, जहाँ उनके उपमानों

में मकड़ी, केचुए, केकड़े, कछुए, कनखजूरे ही नहीं रेंगते बल्कि पिरामिडों में रखी ममियां भी करवट लेती हैं। रामविलास शर्मा ने कैलास वाजपेई, जगदीश चतुर्वेदी, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, गिरिजा कुमार माथुर, भरत भूषण अग्रवाल, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि रचनाकारों की ऐसे उपमानों वाली अनेक कविताओं का उदाहरण प्रस्तुत किया है जो हिंदी कविता के लिए नये थे।

रामविलास शर्मा ने स्वतंत्र्योत्तर नयी कविता की जितनी आलोचना की है उतनी किसी अन्य काल के कविता की नहीं की है। हिंदी साहित्य के इतिहास में छायावाद और रीतिकाल की आलोचना सबसे अधिक हुई। छायावादी की आलोचना कल्पना की अतिशयता के कारण और रीतिकाल की आलोचना रुढ़िबद्धता के कारण की गई। रामविलास शर्मा नयी कविता के भीतर इन दोनों कालों की कविताओं में जो कमजोरियां थीं उसकी और अधिकता पाते हैं। वह लिखते हैं कि "नयी कविता ने अपने भावबोध और उपमानों का ऐसा कल्पनालोक रच लिया है जो छायावाद से कहीं ज्यादा काल्पनिक और रीतिकाल से कहीं ज्यादा रुढ़िबद्ध है। गनीमत यही है कि पिछले बीस साल में बहुत-सी कविता अस्तित्ववाद से अलग हटकर लिखी गयी हैं।"²² स्पष्ट है कि नयी कविता रामविलास शर्मा की दृष्टि में पूरे हिंदी साहित्य के इतिहास में सबसे कमजोर कविता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि रामविलास शर्मा का नयी कविता संबंधी चिंतन अन्य मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी दोनों तरह के आलोचकों से भिन्न और मौलिक है। वह अकेले ऐसे लेखक है जो स्वतंत्र्योत्तर हिंदी कविता की तीन स्वतंत्र धाराओं की चर्चा करते हैं, जिसमें पहली परिमल संस्था के आन्दोलन से निकली नयी कविता की धारा, दूसरी प्रगतिशील कविता धारा और तीसरी पुनर्जीवित छायावाद की धारा है। रामविलास शर्मा की दृष्टि में तीनों धाराओं में मूल्यवान प्रगतिशील और छायावादी धारा की कविताएं हैं जो हिंदी साहित्य की समृद्ध परम्परा से संबंध रखती हैं। नयी कविता का संबंध वह अस्तित्ववाद से जोड़ते हैं। यह ऐसी विचारधारा है जिसको प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितियों में छाया हताशा के क्षणों में फ्रांस के कुछ बुद्धजीवियों ने अपनाया जिसका नेता सार्त्र था और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत सहित दुनिया के अन्य देशों को इस दर्शन ने प्रभावित किया। रामविलास शर्मा की दृष्टि में अस्तित्ववादी प्रभाव के कारण ही नयी कविता में अजनबीपन, आत्महत्या, घुटन, बेचैनी, कुंठा आदि की अभिव्यक्ति हुई है जो उस समय के समाज का सही आइना नहीं दिखाती है, क्योंकि भारत में आजादी के बाद वैसी परिस्थितियाँ नहीं थीं, जिस प्रकार से प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान यूरोप में थीं।

हिंदी साहित्य विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
dr.roopeshsingh@gmail.com

सन्दर्भ :

1. गुप्त, जगदीश. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. साही, विजयदेवनारायण, नयी कविता: सैद्धांतिक पक्ष (2000), इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ-131-132
2. शर्मा, रामविलास. नयी कविता और अस्तित्ववाद (1993), नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण की भूमिका से
3. अज्ञेय. संकलन कर्ता और संपादक, दूसरा सप्तक (1951), नयी दिल्ली, प्रगति प्रकाशन, भूमिका से
4. शर्मा, रामविलास. नयी कविता और अस्तित्ववाद (1993), नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, दूसरे संस्करण की भूमिका से
5. वही, पृष्ठ-34
6. वही, पृष्ठ-34
7. अज्ञेय, संकलन कर्ता और संपादक तारसप्तक (2003), नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण की भूमिका
8. सिंह, नामवर. कविता के नये प्रतिमान (2006), नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-22
9. अज्ञेय. संकलन कर्ता और संपादक, दूसरा सप्तक (1951), नयी दिल्ली, प्रगति प्रकाशन, भूमिका से
10. शर्मा, रामविलास. नयी कविता और अस्तित्ववाद (1993), नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, दूसरे संस्करण की भूमिका से
11. वही, पृष्ठ-38
12. वही, पृष्ठ-41
13. वही, दूसरे संस्करण की भूमिका से
14. वही, पृष्ठ-67
15. वही, पृष्ठ-56
16. वही, पृष्ठ-56
17. सिंह, नामवर. कविता के नये प्रतिमान (2006), नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-34
18. शर्मा, रामविलास. नयी कविता और अस्तित्ववाद (1993), नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-78
19. वही, पृष्ठ-108
20. वही, पृष्ठ-115
21. वही, पृष्ठ-120
22. वही, पृष्ठ-131

भारतीय संस्कृति में यमुना नदी का बहुआयामी स्वरूप

श्रुति राय

सारांश :

भारतीय संस्कृति में नदी मात्र प्रवाहमान जलधारा नहीं है, अपितु इसका सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक महत्त्व भी है। नदी स्त्री रूप मानी जाती है, अतः नारीशक्ति के रूप में भी उसका अवबोधन होता है। स्पष्ट है कि भारत में नदियों का स्वरूप मात्र भौतिक नहीं है, अपितु उसमें चेतना भी है। भारत की प्रमुख नदियों में से एक नदी यमुना है, जिसका नाम ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है। इसका अस्तित्व ऋग्वैदिक काल से है। अतः यमुना भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है। उसके बहुआयामी पक्ष हैं। वह भक्तिप्रेम से श्रीकृष्ण की पटरानी है। श्रीराधा से ऐकात्म्य स्थापित करके श्रीकृष्ण से अभिन्न है। वह बृजवासियों की यमुना मैया है। बल्लभपन्थियों की यमुना देवी के रूप में श्रीनाथ अर्थात् कृष्ण के साथ पूजनीया है। भौतिक नदी के रूप में पृथ्वी पर अवतरित होकर जड़-अजड़ सृष्टि का संरक्षण तथा पोषण करती है। अन्ततः हमें जीवन देते हुए हमारे मलों का भार वहन करते हुए, हमारे पापों को धोते हुए सर्वतोमुखेन आज के युग में भी हमारा उद्धार कर रही है। अतः इस लेख में यमुना के इसी बहुआयामी स्वरूप को समझने का प्रयास किया जा रहा है, जिससे भारतीय संस्कृति में परम्परया नदी का चेतनात्मक स्वरूप भी स्पष्ट होता है।

बीज शब्द : यमुना, भक्त, नदी, नारी, त्रिविध लोक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, भौतिक।

1.0 शोध परिचय

यमुना नदी भारत की आध्यात्मिक एवं धार्मिक संस्कृति की धरोहर है। यह यमुनोत्री से निकली है, तथा गंगा नदी की सबसे महत्त्वपूर्ण सहायक नदी के रूप में स्थापित है। ऋग्वैदिक काल से इसकी महत्ता बनी हुई है, अर्वाचीन नदियों में भी इसका नाम अग्रणी है। इसका कारण यह है कि नदियों के सन्दर्भ में भारतीय प्रज्ञा अत्यन्त संवेदनशील है। अतः भारत की संस्कृति नदियों की संस्कृति कही जाती है। यहां नदियों का महत्त्व केवल भौगोलिक नहीं है, अपितु इनका आध्यात्मिक तथा आधिदैविक स्वरूप भी प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद के नदीसूक्त 10.75 में नदियों का भरपूर गुणगान किया गया है। पौराणिक कथाओं में भी नदियों को विशेष स्थान दिया गया है। मत्स्यपुराण में इस बात का निर्देश है कि भारतवर्ष में नदियों की बहुत अधिकता है।¹ ये नदियां पुण्यजला, चारो ओर प्रवाहमान, समुद्र में गिरने वाली, निखिल विश्व की मातृकास्वरूपा है, सम्पूर्ण पाप को नष्ट करने वाली तथा मङ्गलदायिनी हैं²। हमारे शास्त्रों में इन नदियों की व्याख्या

त्रिविधस्तरीय है—आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं भौतिक। इसकी पुष्टि ऋग्वेद के भाष्य में सायणाचार्य से भी होती है, जिन्होंने नदियों की त्रिविध स्तरीय व्याख्या की है। इनके अनुसार सात सात नदियां त्रिविध लोक—अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा पृथ्वीलोक में विद्यमान हैं।³ त्रिविधलोकों के अनुसार उसका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न माना गया है। द्युलोक में सूर्य की किरणें सात नदियां मानी जाती हैं। अन्तरिक्षलोक में विद्युत की तरंगें नदियां हैं एवं भूलोक में प्रत्यक्ष दिखने वाली गंगा, यमुना आदि नदियां हैं।

प्रतीकात्मक रूप में नारीशक्ति से भी नदी का सम्बन्ध माना जाता है। नदी सदैव ऊपर से नीचे की ओर आती हैं, अतः उसे निम्ना भी कहते हैं। ऋग्वेद में कहते हैं कि यह उसी प्रकार नम्र है, जिस प्रकार पुत्र को दुध पिलाती हुई माता नम्र होती है, तथा युवती कन्या, पिता अथवा भाई के आलिंगनार्थ नम्र हो जाती है—

नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचौ ते।— ऋग्वेद, 3.33.10

तात्पर्य यह है कि नदियां पर्वतों से निकलकर नीचे पृथ्वी पर आती हैं, अतः वह विनम्रता तथा समर्पण की द्योतक हैं। वह अपने साथ जड़ीबूटीयों, औषधियों तथा उर्वरक तत्त्वों को भी लाती हैं। अपने आसपास की भूमि को उर्वर बनाती है, अतः उसमें जननी का भी भाव है। ऋग्वेद में नदी की इस विशेषता की ओर संकेत है। नदियां अन्न प्रदान करने वाली औषधियों, सस्यों, वृक्षों, वनों आदि को सींचती हैं।⁴ नदियां जङ्गम प्राणियों का आधार होती हैं।⁵ पुराणों के अनुसार ये नदियां सकल चराचर जगत् की माता है। जैसे पर्वत पिता है, वैसे नदी माता है। मानव समाज में ऐसी विनम्रता, समर्पण, मातृत्वभाव केवल स्त्रियों में होती है, इन्हीं समानताओं के कारण यहां नदी को स्त्री मानते हैं। स्त्रीरूप होने के कारण नदियों के नाम भी स्त्रीलिङ्ग में होते हैं। ऋग्वेद⁶ (10.75.5, 5.52.17, 7.18.19), मत्स्यपुराणम् (114.20, 21), श्रीमद्भगवत्पुराण (5.19), आदि पुराणों में महत्त्वपूर्ण नदियों की सूची दी गयी है, तथा उनकी महिमा का गुणगान किया गया है। इन सभी में यमुना नदी का भी नामोल्लेख किया गया है। तथा उन्हें देवीस्वरूपा माना गया है। निरुक्त के अनुसार यमुना का अर्थ है— यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा। वियुतं गच्छतीति वा।⁷ सायण ने निरुक्तसम्मत यमुना के इस अर्थ को स्वीकार किया है।⁸ निरुक्त, 9.26 में दुर्गाचार्य ने इस अर्थ को स्पष्ट किया है कि यमुना अपने पानी को अन्य नदियों के साथ मिलाती हुई चलती है। इस प्रकार यमुना में मिश्रण की प्रधानता होने के कारण उसका यह नाम पडा। श्रीगर्गमहामुनि द्वारा विरचित गर्गसंहिता जो वैष्णव सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है, उसमें यमुना के पृथ्वी पर अवतरित होते समय उसका गंगा आदि अन्य नदियों के साथ मिश्रण की घटना की चर्चा है। इसी ग्रन्थ के 18 वें अध्याय में “यमुनासहस्रनाम”, पृ. 244 में यमुना को “नानाजलसमन्विता” कहा है। वहां इसे सरितां वरा (नदियों में श्रेष्ठ), भारती (भारतवर्ष की नदी), मुख्या (प्रधान नदी), शिखा (नदियों की शिखाभूता) आदि की उपाधि भी दी गयी है।⁹

1.02 यमुना नदी का परिचय—

यमुना का आविर्भाव द्वापर युग में चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन हुआ था। अतः यह पावन तिथि यमुना जयंती के नाम से प्रसिद्ध हो गई। यमुना सूर्य की पुत्री हैं, इनके जल में सूर्य

की रश्मियों के सारे गुण प्राप्त हैं। मार्कण्डेय पुराण के मतानुसार गंगा-यमुना सगी बहनें हैं। जिस तरह गंगा का उद्गम गंगोत्री के समीप स्थित गोमुख से हुआ है। उसी तरह यमुना जी जब भूलोक में पधारीं, तब उनका उद्गम यमुनोत्री के समीप कालिंदगिरि से हुआ।¹⁰ गर्गसंहिता में यमुनासहस्रनाम में उसे मार्तण्डतनुजा (सूर्यपुत्री), कलिन्दगिरिनन्दिनी (कलिन्द पर्वत की पुत्री), संज्ञासुता (संज्ञा की पुत्री), शनैश्चरानुजा (शनैश्चर की छोटी बहिन), यमानुजा एवं यमस्वसा (यम की बहिन) कहा है¹¹। मत्स्य पुराण के दशम अध्याय में यम-यमी के जन्म का वृत्तान्त का वर्णन है। विवस्वान् की तीन पत्नियां थी, जिसमें से संज्ञा अर्थात् त्वाष्ट्री की तीन सन्ताने हुईं।¹² इनमें से यम तथा मनु नाम के दो पुत्र एवं यमुना नामक एक पुत्री थी। यम और यमुना यमल थे, यह बात यहां भी कही गयी है।¹³ इस पुराण में सूर्यपुत्री यमुना का नदी के रूप में परिवर्तित होने की भी कथा है।¹⁴ इस विवरण से यमुना के आधिदैविक उत्पत्ति का ज्ञान होता है।

यमुना का आदिस्वरूप यमी है। यमी ऋग्वेद में यम-यमी संवाद (10.10) की ऋषिका हैं, तथा स्वयं इस संवाद की एक पात्र भी हैं। पुराणों में यमी का यमुना बनने की कथा प्राप्त होती है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। प्राचीन काल से विद्यमान होने के कारण यमुना ऋग्वेद काल से लेकर वर्तमान काल तक की अनेक ऐतिहासिक तथा महत्वपूर्ण घटना की साक्षी है। ऋग्वेद में यमुनावासियों के द्वारा इन्द्रदेव को प्रसन्न करने के लिये उनको उपहार देने की घटना का वर्णन है, जब इन्द्र ने नास्तिक भेद का वध किया था।¹⁵ ऋषि श्यावाश्च आत्रेय को मरुद्गणों ने सैकड़ों गायें तथा अश्व दिये थे, जिनको ऋषि यमुना नदी में साफ करते हैं।¹⁶ रामायण में भी यमुना का जिक्र है। द्वापर युग में कृष्ण के जन्म के समय से यमुना नदी उनके साथ है। भगवान् कृष्ण ने संसार में अपनी दिव्य लीलाओं का शुभारम्भ यमुना नदी के अभिषेक से किया था। भगवान् कृष्ण के जन्म के बाद उनके पिता वासुदेव मथुरा से नदी के दूसरे तट पर गोकुल में भगवान् को ले गए। यमुना राधा तथा गोपियों संग रची हुई कृष्ण की लीलाओं की साक्षी हैं। यमुना ब्रजमंडल की आराध्या हैं। सिक्ख धर्म में भी यमुना का महत्त्व है। सिक्खों के दसवें गुरु 'गुरु गोविंद सिंह' ने दशम ग्रंथ की स्थापना यमुना नदी किनारे की थी। किंवदन्ती हैं कि उस समय यमुना नदी कोलाहल करती थी, और गुरु गोबिंद सिंह के अनुनय करने पर श्री पौंटा साहिब गुरुद्वारे के समीप से बहने वाली यमुना नदी शांत हो गई और आज भी शांति से बहती है। इस प्रकार यमुना भारतीय संस्कृति के समृद्ध विकास की केवल साक्षी नहीं हैं, अपितु इन घटनाओं की महत्वपूर्ण पात्र भी हैं। अतः संस्कृत लौकिक साहित्य की भी यह अनिवार्य अंग रही है। उदाहरण के लिये माघकृत काव्यग्रन्थ शिशुपालवधम् के चौथे और बारहवें सर्ग में इसकी प्राकृतिक सुन्दरता का वर्णन है। दुर्गादत्तकृत स्तोत्रग्रन्थ श्रीयमुनालहरी में इनकी स्तुति की गयी है।

1.03 यमुना का कृष्ण से नित्य सम्बन्ध-

श्रीयमुना का श्रीकृष्ण से नित्य सम्बन्ध है। बृहन्नारदीयपुराणम् में राधाकृष्णसहस्रनाम में कृष्ण को यमुनाजलसिक्ताङ्ग, यमुना का सौख्यदायक कहा है।¹⁷ यमुना कृष्ण के वामाङ्ग से निकली है। यमुना का स्थायी निवास स्थान गोलोक है, जो श्रीकृष्ण का आलय है। अतः

उसे गोलोकवासिनी, गोलोकतटिनी (गोलोकधाम की नदी) आदि भी कहा गया है। श्रीकृष्ण चाहे मानवावतार रूप में पृथ्वी पर हों अथवा अपने सत्य स्वरूप में गोलोक में हों, यमुना सदैव उनसे अभिन्न है। गोलोक में यह अभिन्नता साक्षात् है तथा पृथ्वी लोक में भक्त बनकर भगवान के साथ एकात्म्यभाव में रहती हैं। यमुना कृष्ण की श्रेष्ठतम भक्तों में से एक है, श्रीकृष्ण की प्राप्ति का मार्ग है। पुराणों में यमी का यमुना बनकर पृथ्वी पर अवतरित होने तथा श्रीकृष्ण की पटरानी बनने की कथा भी श्रीकृष्णभक्ति से सम्बद्ध है, यद्यपि इस पौराणिक घटना के कई संस्करण हैं। एक कथा के अनुसार यमी का वर्ण श्याम था। अतः उनका विवाह नहीं हो पा रहा था। वह दुखी होकर भगवान् विष्णु के पास गयीं तथा अपनी व्यथा व्यक्त किया। तब भगवान् विष्णु ने कहा है कि जब मैं कृष्णावतार में पृथ्वी पर आऊंगा, मैं स्वयं तुमसे विवाह करूंगा। इतनी लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा की बात सुनकर यमी और खिन्न तथा उद्विग्न हो गयीं और हिमालय में जाकर विराजमान हो गयीं। वहीं से यमी श्यामवर्णा श्रीयमुना के रूप में पृथ्वी लोक में अवतरित हुई। दूसरी कथा इसप्रकार है कि गोलोक में श्रीकृष्ण ने राधा से भूतल पर अवतरित होने का आग्रह किया था। किन्तु राधा ने वहां वृंदावन, यमुना व गोवर्धन न होने की बात कही, ऐसे में भूलोक जाकर सुखानुभूति न होने की बात कही। तब श्रीकृष्ण ने यमुना आदि को ब्रज-मंडल में अवतरित कराया। अतः राधा को भी यमुना अत्यन्त प्रिय थीं। इसलिये राधा को यमुनातीर (यमुनातीरनिलया)¹⁸ पर रहने वाली, यमुना में स्नान करने वाली (सूर्ययपुर्त्यवगाहिनी)¹⁹ कहा जाता है। गर्गसंहिता की कथा के अनुसार गोलोक से निकलकर यमुना कलिन्दशिखर पर जा पहुँचीं। वहाँ जाकर उस पर्वत से प्रकट होनेके कारण उनका नाम 'कालिन्दी' पडा। गर्गसंहिता में एक कथा यह भी है कि यमुनाजी साक्षात् परिपूर्णतम भगवान् श्रीकृष्ण को अपना पति बनाना चाहती थीं, इसलिये वे परम दिव्य देह धारण करके खाण्डव वन में तपस्या करने लगीं। यमुना के पिता भगवान् सूर्य की जल के भीतर ही एक दिव्य गेह का निर्माण कर दिया था, जिसमें आज भी वे रहा करती हैं।²⁰ यमुना का यमुना नदी में रहने का वर्णन श्रीमद्भागवतपुराण में भी है।²¹ श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम स्कन्ध, 58.16-23 की कथानुसार यमुना अर्थात् कालिन्दी ने श्रीकृष्ण के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की है। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने पवित्र लग्न में कालिन्दी का पाणिग्रहण किया। तात्पर्य यह है कि जलरूप नदी तो यमुना का भौतिक स्वरूप है, किन्तु आधिदैविक रूप में वह श्रीकृष्ण की विवाहिता है। उन्हें श्रीकृष्ण की पटरानी भी कहते हैं, अतः यमुना को 'परिपूर्णतमा कृष्णा यमुना'²³ भी कहा गया है। यमुनासहस्रनाम में उन्हें आराध्या, श्रीकृष्णवरमिच्छति (श्रीकृष्ण को पति बनाने की इच्छा वाली), स्वकीया (श्रीकृष्ण की विवाहिता पत्नी), अधीरा (भगवद्दर्शन के लिये अधीर रहने वाली), गोविन्दहृतमानसा (श्रीकृष्ण का चित्त चुरा लेने वाली), सखी (राधारानी की सखी), वेणुनादिनी (वेणुनाद करने वाली), गोपगोपीश्वरी (गोपों तथा गोपांगनाओं की आराध्या ईश्वरी), कृष्णप्राणाधिका, राधा (श्रीकृष्ण की आराध्यास्वरूपा) भी कहते हैं। विरहकाल में भी यमुना को श्रीकृष्ण के साहचर्य का अनुभव होता रहता है। अतः वह सदैव प्रसन्न रहती हैं। श्रीमद्भागवद् महापुराण में ऐसी एक घटना का वर्णन है। एक बार की बात है, जब कृष्ण की सोलहहजार रानियां उनके विरह से व्याकुल रहने लगीं थीं। किन्तु वह रानियां अपने प्रियतम पतिदेव की चतुर्थ पटरानी कालिन्दी अर्थात् यमुना को सदैव आनन्दित देखती थीं। अतः एकदिन

वे सभी रानियां यमुना के पास गयीं और कृष्ण के विरहकाल में भी प्रसन्न रहने का कारण पूछा।²⁴ उत्तर में यमुनाजी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि श्रीकृष्ण की आत्मा में श्रीराधा बसती हैं। अतः मैं दासी की भाँति भगवान श्रीकृष्ण की आत्मा राधाजी की सेवा करती रहती हूँ, उनकी सेवा का ही यह प्रभाव है कि प्रियतम से विरह मुझे स्पर्श ही नहीं करता है।²⁵ एक आख्यान के अनुसार कृष्णप्राप्ति के लिये दुर्वासा मुनि ने गोपियों को 'कृष्णपञ्चाङ्ग' दिया था, जिसमें यमुनाजी का पाठ है, यमुना का पाठ करके गोपियों ने श्रीपति को वररूप में वरण किया। अतः यमुनाजी का पञ्चाङ्ग सदा समस्त सिद्धियों तथा पृथ्वी को देनेवाला तथा श्रीकृष्ण के सारूप्य की प्राप्ति कराने वाला है। स्वयं यमुनाजी के आधिदैविक एवं आध्यात्मिक स्वरूप को भी तभी अनुभव किया जा सकता है, जब भक्त कृष्ण की उपस्थिति में उनके गोलोक में हों। लेकिन इन दोनों स्वरूपों का सार उनके तीसरे स्वरूप के माध्यम से हमारे सांसारिक क्षेत्र में यमुना (कालिंदी) नदी के मूर्त रूप में प्रवाहित होता रहता है। इस प्रकार यमुना भक्ति की अनुपम प्रतिमा है। उन्होंने कृष्ण द्वारा बताये गये तीन मार्ग—ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग में से भक्तिमार्ग का चयन किया, जो भक्त और ईश्वर के प्रेम पर आधारित है।²⁶

1.04 यमुना भक्ति की धारा हैं

निस्संदेह यमुना भक्ति का वह धारा है, जो निरंतर बहती रहती है। यमुना की भक्ति में मात्र प्रेम की प्रकृति रहती है, अतः ईश्वर से मिलन सर्वथा व्यवधानरहित, अबाध और अनन्त काल तक रहता है। अतः इसमें अपने प्रिय से विरह का भय नहीं रहता है। इसी कारण यमुना कभी भी विरहभावना से व्याकुल नहीं होती हैं। यमुनादेवी के विवाहिता होने का तात्पर्य भी सांकेतिक है। वह कृष्ण की परकीया नहीं है, अपितु स्वकीया हैं। वह अयोनिज है, उसे विवाह जैसे मानवीय क्रियाओं की क्या आवश्यकता है? वह कृष्ण की स्वरूपभूता अन्तरंगा शक्ति हैं। यमुना मात्र पृथ्वीलोक में प्रकट होकर मनुष्यलोक को भक्ति की शक्ति की शिक्षा देती हैं। वह यह सिद्ध कर देती है कि भक्ति की कोई सीमा नहीं है। भक्ति मार्ग में बिना किसी भेदभाव के सबका प्रवेश सम्भव है।

1.05 यमुना का परब्रह्म स्वरूप-

श्रीकृष्ण से तादात्म्य होने के कारण गर्गसंहिता में यमुनासहस्रनाम में यमुना को परब्रह्म तथा परधाम भी कहा गया। अतः पौराणिक यमुना नदी मात्र न रहकर शक्तिस्वरूपा सृष्टि की उत्पत्ति एवं संचालन का कारण भी बन जाती है। परमानन्दमयी, पूर्णब्रह्मप्रिया (पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण की प्रेयसी), परा (पराशक्तिस्वरूपा), ब्राह्मी (ब्रह्मशक्तिस्वरूपा), परब्रह्म, प्रकृति परा(पराप्रकृतिस्वरूपा), प्रचेतना (प्रकृष्ट चेतनास्वरूपा), चतुर्थी (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से अतीत तुरीयावस्था), चतुरक्षरा (प्रणव के चार अक्षर), अध्यात्मम् (अध्यात्मस्वरूपा), अधिदैवम् (आधिदैविकस्वरूपवाली), द्विधा (प्रकृति-पुरुषरूप दो शरीर वाली), त्रिधा (क्षर, अक्षर तथा पुरुषोत्तम-त्रिविध रूप वाली), क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति आदि रूप में यमुना की स्तुति की गयी है। तात्पर्य यह है कि यमुना को कृष्ण की अन्तरंग शक्ति कहते हैं, अतः परमब्रह्म रूप में उनकी उपासना अन्ततः श्रीकृष्ण की उपासना है। ठीक उसी प्रकार जैसे शिव की शक्ति की उपासना शिव की उपासना है।²⁷ यही शक्ति सृष्टि की जननी होती है। गर्गसंहिता के

माधुर्यखण्ड में श्रीयमुनाकवच, श्रीयमुनास्तोत्र तथा श्रीयमुनासहस्रनाम नामक त्रिविध पाठ हैं जिसमें श्रीयमुना के सभी स्वरूपों का वर्णन है। श्रीगर्गसंहिता के 18वें अध्याय में “यमुनासहस्रनाम” में यमुना के एक सहस्र नामों का उल्लेख है। श्रीयमुनास्तोत्र का पाठ करने से भूतल पर समस्त सिद्धियों की प्राप्ति होती है, एवं यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थों का फल देने वाला है।²⁸

यमुना भी गंगा के समान पाप आदि से भी मुक्ति दिलाती है। अतः गंगा यमुना को प्रणाम करके उनका गुणगान करती है कि हे कृष्ण! सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को पावन बनानेवाली तो तुम हो, अतः तुम्हीं धन्य हो। श्रीकृष्ण के वामाङ्ग से तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है। तुम परमानन्दस्वरूपिणी हो। साक्षात् परिपूर्णतमा हो। समस्त लोकों के द्वारा एकमात्र वन्दनीया हो। परिपूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्ण की भी पटरानी हो। अतः हे कृष्ण! तुम सब प्रकार से उत्कृष्ट हो। तुम कृष्णा को मैं प्रणाम करती हूँ तुम समस्त तीर्थों और देवताओं के लिये भी दुर्लभ हो। गोलोक में भी तुम्हारा दर्शन दुष्कर है।²⁹ आदिवाराह पुराण के अनुसार यमुनाजी में स्नान करने से जन्मान्तर के पाप भस्म हो जाते हैं। इतना ही नहीं जो व्यक्ति दूर रहकर भी भक्ति भावना के साथ यमुनाजी का स्मरण करता है वह भी पवित्र हो जाता है। कूर्मपुराण, षट्त्रिंशत् अध्याय, प्रयागमहात्म्य के अनुसार³⁰ जो पुरुष गंगा और यमुना में प्राण त्याग करता है, वह अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त करता है। यमुना के जल तथा उसमें स्नान का महत्त्व ‘पद्मपुराण’ के स्वर्गखण्ड के 29 वें अध्याय में बड़े ही विशद ढंग से वर्णित है।

1.06 पुष्टिमार्ग में यमुना

पुष्टिमार्ग में श्री यमुनाजी को “श्रीनाथजी की प्रियतमा” के रूप में स्थान प्राप्त है। श्री राधिकाजी और श्री यमुनाजी दोनों श्री ठाकुरजी की सखियाँ या आत्माएँ हैं। दिव्य रास के दौरान जब श्री राधिकाजी श्री ठाकुरजी के सहसा ओझल होने से परेशान थीं तब श्री कृष्ण ने श्री यमुनाजी को अपनी वेशभूषा और आभूषणों में भेजा। वह श्री राधिकाजी के चेहरे से उदासी को मिटाने के लिए बिल्कुल श्री कृष्ण की तरह दिख रही थीं। तब से श्री यमुनाजी हमेशा श्रीनाथजी (श्री कृष्ण) के समान वस्त्र और आभूषणों में दिखाई देती हैं। अतः जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ यमुना है।

1.07 संगीत से यमुना का अन्तःसम्बन्ध

संगीत से भी यमुनादेवी का अन्तःसम्बन्ध है। गान्धारी, मञ्जरी, टोडी, गुर्जरी, आसावरी, जया, कर्णाटी— ये समस्त विशेष रागिनियाँ यमुना जी से अभिन्न हैं।³¹ यह चतुश्चन्द्रा, कलाहेरी, तैलङ्गी, विजयावती, ताली—आदि रागरागिनियों एवं ताल से भी अभिन्न हैं, यह तलस्वरा (ताली बजाकर स्वर की सूचना देने वाली), गाना (गानस्वरूपा) हैं। संगीत से यमुना का सम्बन्ध भी उसे श्रीकृष्णभक्ति के समीप ही लाता है। संगीत एक प्रकार की सौन्दर्यसाधना है। भारतीय संगीत प्रधानतः आध्यात्मिक है। सच्चिदानन्द सत्यं शिवं सुन्दरम् हैं। संगीत का सौन्दर्य आध्यात्मिक है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि वेदों में मैं सामवेद हूँ।³² विश्व में व्याप्त समस्त सौन्दर्य में मेरा ही तेज विद्यमान है, अथवा विश्व का समस्त सौन्दर्य मुझ में निहित है।³³

तैत्तिरीय उपनिषद्³⁴ में भी कहा गया है— ब्रह्म ही रस है। संगीतोपयोगी ध्वनि को नाद कहते हैं। संगीतशास्त्र में नाद में ही सजीवता, गति, शक्ति एवं प्रकाश अथवा ज्ञान का समुच्चय माना गया है। संगीत रत्नाकर ग्रन्थ में नाद ब्रह्मस्वरूप है, यह समस्त प्राणियों का चौतन्य है, आनन्दरूप है, उपास्य है।³⁵

1.08 पांचभौतिक जगत् में यमुना-

पांचभौतिक जगत् में यमुना नदी प्रकृति का अभिन्न अंग है। यमुना सबको आश्रय देने वाली है, वह गूंजते हुए भ्रमर और जलपक्षियों से युक्त कलिन्दनन्दिनी है, वृन्दा (वृन्दावन की अधिष्ठात्री देवी), वृन्दावनलता (वृन्दावन की लताओं के साथ तादात्म्य प्राप्त की हुई), कुसुमाम्बरभाविनी (पुष्पमय वस्त्र से सुशोभित), गोवर्धिनी (गोवर्धननाथ की शक्ति अथवा गौवों की वृद्धि करने वाली), गोधनाढ्या (गोधन से सम्पन्न), सारसी (सारस पक्षियों की आश्रयभूता), गिरिराजप्रसूः (गिरिराज हिमालय के कालिन्दपर्वत से प्रकट), शकुन्तला (पक्षियों का स्वागत करने वाली), दर्पणीभूता (अपने जल की निर्मलता के कारण दर्पण का काम देने वाली), कामलता (कामना पूरी करने वाली कल्पलतास्वरूपा), पशव्यदा (पशुओं के लिये हितकर घास प्रदान करने वाली), दया करने वाली है। भृति (भरण—पोषण का साधन बनी हुई), विश्वम्भरा (विश्व का भरण—पोषण करने वाली), पापहारिणी, लोकदृष्टि (जगत् को दिव्य दृष्टि प्रदान करने वाली), पुण्यसंधा (पुण्यसमुदायरूपा), नन्दिनी (सबको आनन्दित करने वाली) हैं।³⁶ इस प्रकार यमुना भौतिक नदी के रूप में भी मातृवत् कल्याणकारी है।

उपरोक्त विवेचना से यमुना के बहुआयामी सन्दर्भों के द्वारा यमुना का सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक स्वरूप को समझने का प्रयास किया गया। भारतीय संस्कृति में नदी में भी चेतना है, जो आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं भौतिक स्तर पर विभिन्न रूपा में प्रकट होती है। एक नदी के रूप में इसमें सृष्टि के कल्याणार्थ सबके प्रति समता तथा ममता का भाव अनुस्यूत है। अतः यमुना पूर्णता, समग्रता, ममता तथा समता— इनका सार है।

संस्कृत विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय

srai@sanskrit.du.ac.in

सन्दर्भ :

¹मत्स्यपुराणम्, 114.20:पिबन्ति बहुला नद्यो गङ्गा सिन्धु सरस्वती ।

²वही, 114.33: सर्वाः पुण्यजलाः पुण्याः सर्वगाश्च समुद्रगाः । विश्वस्य मातरः सर्वाः पापहराः शुभाः ।

³वही, सायण भाष्य, मण्डल 10, अनुवाक 6, सूक्त 75, मन्त्र 1: ता नद्यः सप्तसप्त भुत्वा त्रेधा पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि चेति त्रिधा त्रिप्रकारं प्रावहन् ।

⁴ऋग्वेद, 10.75.2: प्र तेऽरदद् यातवे पथः सिन्धो यद् वाजा अभ्यद्रवद् त्वम् ।

भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यद् एषाम् अग्रं जगताम् ईरज्यसि ।।

⁵ऋग्वेद, सायण भाष्य, मण्डल 10, अनुवाक 6, सूक्त 75, मन्त्र 2: जगताम् जङ्गमानां प्राणिनाम् अग्रं प्रत्यक्षम् ईरज्यसि ईशिषे ।

⁶वही, 10.75.5: इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्या ।

असिकन्या मरुद्वधे वितस्तयार्जीकिये शृणुह्या सुषोमया ।

⁷निरुक्त, 9.26 में दुर्गाचार्य टीका

⁸ऋग्वेद, सायण भाष्य, मण्डल 10, अनुवाक 6, सूक्त 75, मन्त्र 5

⁹श्रीगर्गसंहिता, माधुर्यखण्ड, "यमुनासहस्रनाम", पृ. 244 ¹⁰वही, पृ. 246 ¹¹वही, पृ. 245 ¹²मत्स्यपुराण, 10.4

¹³वही, 11.3: सुषुवे त्वाष्ट्री संज्ञा तथा मनुम् । मत्स्यपुराण, 11.4: यमश्च यमुना चौव यमलौ तु बभूवतु

¹⁴वही, 11.39: यमुना तपती चौव पुनर्नद्यौ बभूवतुः ।

¹⁵ऋग्वेद, 7.18.19: आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत् । अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्ररुरश्व्यानि ।

¹⁶वही, 5.52.17: सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः । यमुनायामधि श्रुतमुद्राधो गव्यं मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे ।

¹⁷बृहन्नारदीयपुराणम्, 82...76: यमुनाजलसिक्ताङ्गो यमुनासौख्यदायकः ।

¹⁸वही, 82.146

¹⁹वही, 82.191

²⁰गर्गसंहिता, वृन्दावन खण्ड, 3.15–16: पित्रा विनिर्मिते गेहे जलेऽद्यापि समाश्रिता ।

ततो वेगेन कालिन्दी प्राप्ताऽभूद्भ्रजमण्डले ।

वृन्दावनसमीपे च मथुरानिकटे शुभे ।

श्रीमहावनपार्श्वे च सैकते रमणस्थले ।।

कालिन्दीति समाख्यात वसामि यमुनाजले ।

²¹श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम स्कन्ध, 58.22: निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम् ।।

²²वही, दशम स्कन्ध, 58.29: अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्तवृक्ष ऊर्जिते । वितन्वन् परमानन्दं स्वानां परममंगलम्

²³गर्गसंहिता, वृन्दावन खण्ड, 3.3: परिपूर्णतमां कृष्णां तस्मात्कृष्णस्य नन्दराट् ।

परिपूर्णतमस्यापि पट्टराज्ञीं विदुर्जनाः ।।

²²वही, दशम स्कन्ध, 58.29: अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्तवृक्ष ऊर्जिते । वितन्वन् परमानन्दं स्वानां परममंगलम्

²³गर्गसंहिता, वृन्दावन खण्ड, 3.3: परिपूर्णतमां कृष्णां तस्मात्कृष्णस्य नन्दराट् ।

परिपूर्णतमस्यापि पट्टराज्ञीं विदुर्जनाः ।।

²⁴श्रीमद्भागवत महापुराण, द्वितीय खण्ड, श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, 2.8

²⁵वही, द्वितीय खण्ड, श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, 2.11: आत्मारामस्य कृष्णस्य/रुवमात्मास्ति राधिका ।

तस्या दास्यप्रभावेण विरहोऽस्मान् न संस्पृशेत् ।।

²⁶वही, द्वितीय खण्ड, 11.20.6: योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नान्योपयोऽस्ति कुत्रचित् ।।

²⁷वही, माधुर्यखण्ड, 18.78,79, 80, 82: परं धाम परं ब्रह्म पौरुषा प्रकृतिः परा ।

तटस्था गुणभूर्गीता गुणागुणमयी गुणा ।

चिद्घना सदसन्माला दृष्टिर्दृश्या गुणाकरी ।

महत्तत्त्वमहंकारो मनो बुद्धिः प्रचेतना ।

चेतो वृत्तिः स्वांतरात्मा चतुर्थी चतुरक्षरा ।

त्रिधाधिभूतमध्यात्ममधिदैवमाधिस्थितम् ।

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः सर्वदेवताधिदेवता ।

²⁸गर्गसंहिता, 17वां अध्याय, यमुनास्त्रोत, 2: सर्वसिद्धिकरं भूमौ चातुर्वर्ग्यफलप्रदम् ।

²⁹वही, वृन्दावन खण्ड, 3.25–26: हे कृष्णे त्वं तु धन्याऽसि सर्वब्रह्माण्डपावनी ।

कृष्णवामांससंभूता परमानन्दरूपिणी ।।

परिपूर्णतमा साक्षात्सर्वलोकैकवन्दिता ।

पूर्णपूर्णतमस्यापि श्रीकृष्णस्य महात्मनः ।।

³⁰कूर्मपुराण, 36.33: गंगायमुनमासाद्य त्यजेत्प्राणानप्रयत्नः ।

ईप्सिताल्लभते कामान्चदन्ति मुनिपुंगवा ।।

³¹गर्गसंहिता, माधुर्यखण्ड, श्रीयमुनासहस्रनाम, पृष्ठ 239

³²श्रीमद्भगवद्गीता, 10.22: श्रीमद्भगवद्गीता, 10.22: वेदानां सामवेदोऽस्मि ।

³³वही, 10.22: यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ।

³⁴तैत्तिरीयोपनिषद् 2.7.2: रसो वै सः । रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।

³⁵संगीतरत्नाकर, प्रथम स्वरगताध्याय, प्रकरण तृतीय, पृष्ठ 62: चौतन्त्र्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना ।

नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ।

संदर्भ पुस्तकें :

1. अथर्ववेदसंहिता, भाग 6. (2021). वाराणसी: चौखम्भा विद्याभवन.
2. ऋग्वेदसंहिता, खण्ड 2. (2019). दिल्ली: परिमल पब्लिकेशन्स.
3. ऋग्वेदसंहिता, खण्ड 3. (2019). दिल्ली: परिमल पब्लिकेशन्स.
4. कम्बोज, ज. (अनुवादक). (2012). ऋग्वेदसंहिता, खण्ड 7. दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन.
5. कम्बोज, ज. (अनुवादक). (2013). ऋग्वेदसंहिता, खण्ड 8. दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन.
6. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, भाग 2. (1985). नई दिल्ली: मेहरा आफसेट प्रेस.
7. सायणाचार्य, श्री. (1868). ऋग्वेदसंहिता (श्रीमद्सायणाचार्यविरचितभाष्यसमेता), चतुर्थ भाग. तिलक महाराष्ट्र यूनिवर्सिटी: वैदिक संशोधन मण्डल.
8. सरस्वती, म. द. (2024). ऋग्वेदभाष्यभूमिका. वाराणसी: चौखम्भा क्लासिक.
9. बृहन्नारदीयपुराणम् (पूर्वभागः). (2012). प्रयाग: हिन्दी साहित्य सम्मेलन.
10. मारकण्डेय पुराण. (1941). मथुरा: श्यामकाशी प्रेस.
11. तैत्तिरीय उपनिषद्. (1993). गोरखपुर: गीता प्रेस.
12. स्कन्दमाहेश्वर (निरुक्तभाष्यटीका टीका). (2012). दिल्ली: परिमल पब्लिकेशन्स प्राईवेट लिमिटेड.
13. मत्स्यपुराणम् (पूर्वभागः). (1989). प्रयाग: हिन्दी साहित्य सम्मेलन.
14. यास्क. (2012). निरुक्तम् (निघण्टु सहितम्) (प. सीताराम शास्त्री, अनुवादक). दिल्ली: परिमल पब्लिकेशन्स.
15. राजशेखर. (विसं 2011). काव्यमीमांसा. पटना: बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्.
16. श्रीमद्भागवत महापुराण, द्वितीय खण्ड. (संवत् 2080). गोरखपुर: गीताप्रेस.
17. शार्ङ्गदेव. (2023). संगीतरत्नाकर. दिल्ली: राधा पब्लिकेशन्स.
18. Altekar, A. S. (2014). *The position of women in Hindu civilization*. Motilal Banarsidass Publishers Private Limited.
19. Beauvoir, S. D. (1956). *The second sex*. Jonathan Cape.
20. Maxmuller, F. (1864). *Lectures on the science of language* (2nd series). Longman, Green, Longman] Roberts & Green.
21. आष्टे, व. श. (1989). *संस्कृति हिन्दी कोश*. मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स.
22. वेद कथाङ्क. (2066). कल्याण. गीताप्रेस.
23. रघुवीर वेदालंकार. (2007). *वैदिक शब्दार्थ विमर्श*. ईस्टर्न बुक लिंक्स.
24. त्रिपाठी, ग. (2011). *वैदिक देवता, उद्भव और विकास*. डी.के. प्रिन्टवर्ल्ड.
25. वेदालंकार, र. (2016). *वेदों की वर्णनशैलियाँ*. श्री घूढमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास.

प्रेमचंद का प्रेमाश्रम : औपनिवेशिक भारत का कृषितंत्र और किसान त्रासदी

विवेकानंद उपाध्याय

सारांश :

प्रेमचंद ने किसान जीवन से जोड़कर उपन्यास का भारतीयकरण किया। हिन्दी में किसान जीवन पर प्रेमाश्रम नाम का पहला उपन्यास लिखने का श्रेय उनको ही है। प्रेमचंद के लेखन की परिधि इतनी विस्तृत है कि उसमें भारतीय कृषि-संस्कृति के प्रायः सभी पक्ष प्रस्तुत हो गये हैं। सदियों से गांव सनातन भारत की सभ्यता का केन्द्र रहा है। उस सभ्यता का आधार कृषि थी और आज भी है। किसान जीवन पर प्रेमचंद का लेखन अत्यंत विपुल परिमाण में है और उसे उनके संपूर्ण लेखन का प्राण भी कहा जा सकता है। प्रेमचंद ने केवल किसानों की गाथा ही नहीं सुनायी है बल्कि उसके परिवार, उसके मित्रों और शत्रुओं, उसके खेतों के साथ गाय एवं बैलों की भी आत्मीय कथा लिखी है। यह गाथा किसान जीवन से उनके गहरे परिचय एवं प्रेम का भी पता देती है। इसलिए प्रेमचंद का लेखन स्वराज के लिए साहित्यिक सत्याग्रह है।

बीज शब्द : प्रेमचंद, प्रेमाश्रम, उपन्यास, सभ्यता, किसान सत्याग्रह, गाथा

प्रेमचंद का स्थान आधुनिक हिन्दी ही नहीं बल्कि भारतीय भाषाओं के साहित्य में अन्यतम है। उनके लेखन की परिधि इतनी विस्तृत है कि उसमें भारतीय कृषि-संस्कृति के प्रायः सभी पक्ष प्रस्तुत हो गये हैं। सदियों से, गांव सनातन भारत की सभ्यता का केन्द्र रहा है। गांव के लोग सामुदायिक संस्कृति में संगठित थे। उस सभ्यता का आधार कृषि थी और आज भी है। इसके अतिरिक्त भारतीय सभ्यता की जो विशेषताएँ बतायी जाती हैं या बतायी जा सकती हैं उनमें सबसे बड़ी चीज है संलग्नता का सर्वव्यापी भाव और परिवेश की पवित्रता का भाव। एक गहरा धर्मबोध जिसमें सत्य, त्याग, तप, संयम, दया, अहिंसा और परोपकार के साथ न्यायप्रियता, स्वाभिमान और संतोषी जीवन वृत्ति भारतीयों के जीवन में पायी जाती रही है। लोक और वेद दोनों के केन्द्र में वह धर्मभाव ही था जिसमें मनुष्य के साथ मनुष्य और मनुष्येतर के संबंध को भारतीय सभ्यता में एक विशिष्ट, दिव्य और पवित्र रूपाकार प्रदान किया। पर, सभ्यता के सनातन बोध का वह ढांचा भीतर और बाहर से अंग्रेजों ने तोड़ दिया। भारत में उपनिवेशवाद की जो परियोजना शुरू की गयी उसका सबसे विषैला दांत भारतीय कृषि संस्कृति की देह में गड़ाया गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे किसान गरीब से दरिद्र हो गया। उसका भौतिक और नैतिक ऐश्वर्य समाप्त

होने लगा। अपमान और आत्महीनता का यह संकट भारतीय किसान के लिए सबसे भयानक था जिसे आलोचकों ने मरजाद के संकट के रूप में ठीक ही पहचाना है। उस कुशासन के दुष्परिणाम भारतीय किसान आज भी भुगत रहा है। जो कृषि-संस्कृति भारतीय सभ्यता का केन्द्र थी वह किसान के गले की फांस बनकर रह गयी है। उस कुख्यात औपनिवेशिक कृषि तंत्र के कुछ महत्वपूर्ण आयाम इस प्रकार थे।

- भूमि के मालिकाना हक में परिवर्तन।
- भूमि को खरीद बिक्री की वस्तु बना देना।
- कुटीर उद्योगों और हस्तशिल्प के व्यापक विनाश से कृषि पर बोझ का बढ़ना।
- जमींदारों, साहूकारों तथा राजस्व एवं प्रशासन का अपवित्र गठबंधन।
- कृषि का ऋणात्मक विकास और कृषि का लाभकारी न रह जाना।
- सार्वजनिक विमर्श में किसानों की नगण्य उपस्थिति।
- किसानों को बेगार के लिए मजबूर करना।
- करों का बोझ बढ़ना।
- किसानों को अपमानित और दंडित करना।

इस पूरी प्रक्रिया ने भारत के आंतरिक और विदेशी व्यापार को नष्ट कर दिया। भारत कुल मिलाकर कच्चे माल का उत्पादक और खेतिहर देश बन गया। जमींदार वर्गों के सहयोग से अंग्रेजों ने किसानों के उत्पीड़न के लिए जमींदार, साहूकार और सरकारी अमले का एक मजबूत गठबंधन तैयार कर दिया। परिणामस्वरूप किसान पूरी तरह निर्धन, अपमानित और असहाय बनकर दया का पात्र होकर रह गया। प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य में उसी उत्पीड़न की चक्की में पिस रहे किसान की महागाथा अंकित की है। किसान जीवन पर प्रेमचंद का लेखन अत्यंत विपुल परिमाण में है और उसे उनके संपूर्ण लेखन का प्राण भी कहा जा सकता है। प्रेमचंद ने केवल किसानों की गाथा ही नहीं सुनायी है बल्कि उसके परिवार, उसके मित्रों और शत्रुओं, उसके खेतों के साथ गाय एवं बैलों की भी आत्मीय कथा लिखी है। यह गाथा किसान जीवन से उनके गहरे परिचय एवं प्रेम का भी पता देती है।

कार्ल मार्क्स ने भारत में अंग्रेजी राज द्वारा ढाए गये कहर का एक विवरण 19वीं सदी के मध्य में देते हुए उस बर्बादी का चित्र प्रस्तुत किया है। यह संदर्भ इसलिए आवश्यक है क्योंकि भारत में अंग्रेजी राज के गुण गाने वाले आज भी बहुतायत हैं। दूसरी बात यह कि खुद मार्क्स की भी दृष्टि में भारत की छवि एक गतिहीन और अपरिवर्तनशील देश की थी। इसलिए जो मार्क्स ने लिखा है वह द्रष्टव्य है, “यद्यपि भारत का राजनैतिक इतिहास परिवर्तनशील प्रतीत होता है, परंतु भारत का समाज अनंत प्राचीन काल से 19वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक लगभग अपरिवर्तित रहा है। इसके लाखों चरखों और हथकरघों ने असंख्य कातने वालों तथा बुनकरों को जन्म दिया तथा वे इस समाज के केंद्र बिंदु बने रहे। अनगिनत काल से यूरोप में भारतीय कामगारों द्वारा उत्पादित बढ़िया कपड़ा आता रहा जिसके बदले में उसे भी स्वर्णकारों को धातुएं मिलती रहीं। यह स्वर्णकार उसके समाज का

एक अपरिहार्य सदस्य था। वह समाज जिसमें सबसे निकृष्ट वर्ग भी जो कि लगभग नंगा रहता था कानों में बालिएं, जो प्रायः सोने की होती थीं तथा गले में सोने का कंठा पहनता था। हाथों तथा पांव की उंगलियों पर भी अंगूठी अथवा छल्ले होते थे। स्त्रियां तथा बच्चे भी प्रायः सोने अथवा चांदी के भारी-भारी कंगन तथा नूपुर पहनते थे। उनके घरों में मिलते भिन्न-भिन्न देवी देवताओं की मूर्तियों पर भी यह आभूषण शोभा देते थे। यह अंग्रेजी घुसपैठिया ही था जिसमें भारतीय हथकरघे को और चर्खे को तोड़ दिया है। इंग्लैंड ने पहले यूरोप की मंडियों से भारतीय कपड़े को निकाला तथा फिर बटा हुआ धागा भारत में लाया और फिर सूती कपड़े के देश में भी मानो सूती कपड़े की बाढ़—सी आ गई हो। 1818 से 1836 के बीच इस बटे हुए धागे का भारत को निर्यात 1 से 5200 गुना बढ़ गई। 1824 में भारत को भेजी गई मलमल कठिनता से लगभग 10 लाख गज ही थी, परंतु 1837 में यह 6 करोड़ 40 लाख गज हो गई। उस समय ढाका की जनसंख्या 150000 से हटकर 20000 ही रह गई परंतु इस कपड़े के लिए प्रसिद्ध नगरों की अवनति केवल एक प्रमुख घटना नहीं थी। अंग्रेजों की भाप तथा विज्ञान में हिंदुस्तान के उद्योग तथा कृषि के समस्त भूतल को ही बदल दिया है।¹ भारत के बारे में मार्क्स के विचार तथा उसका मानस कैसा था वह भी देखने लायक है। भारत की समृद्धि की प्रशंसा के बाद भी भारत में इतिहास जैसी कोई चीज नहीं थी इसके बारे में मार्क्स को एकदम पक्के तौर पर पता था। मार्क्स लिखता है, “भारत का संपूर्ण प्राचीन इतिहास यदि कुछ है तो यह भारत पर ही विजयों का इतिहास है। भारतीय समाज का कोई इतिहास नहीं है। कम से कम ज्ञात इतिहास अथवा जिसे हम इतिहास कर सकते हैं वह तो अनुक्रमिक आक्रांताओं का ही इतिहास है उन्होंने अपने साम्राज्य यहां स्थापित किए, क्योंकि यहां का समाज का अपरिवर्तनशील, निष्क्रिय तथा अविरोधनीय था।”² उस प्रकार हम देख सकते हैं, कि भारत के बारे में मार्क्स के विचार तत्कालीन यूरोपीय मानस से भिन्न नहीं थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत की यह छवि औपनिवेशिक कुप्रचार का हिस्सा रही है और भारत के तमाम मार्क्सवादी बुद्धिजीवी उसी की देखा देखी भारतीय समाज और उसकी समृद्ध ऐतिहासिक विरासत तथा समकालीन जीवंतता के सूत्रों के प्रति सकारात्मक रुख नहीं रख पाते। प्रेमचंद के संदर्भ में यह याद रखना आवश्यक और अनिवार्य है कि किस तरह प्रेमचंद के लेखन को मार्क्सवादी कुप्रचार का औजार बनाने की कोशिश की गयी। प्रेमचंद गांधीजी की ही तरह सनातन भारतीय सभ्यता के हिमायती थे जिसका आधार धर्म हो न कि आर्थिक लाभ। हिन्द स्वराज में जिन लोक परंपराओं के सूत्र हमें मिलते हैं, प्रेमचंद का साहित्य उसके संदेवनात्मक साक्ष्य प्रस्तुत करता है। इसलिए प्रेमचंद का लेखन स्वराज के लिए साहित्यिक सत्याग्रह है।

प्रेमचंद के पहले हिन्दी उपन्यास बहुत शैशवावस्था में था। प्रेमचंद ने किसान जीवन ने जोड़कर उसका भारतीयकरण किया। हालांकि उड़िया में फकीर मोहन सेनापति कृत छमाण आठ गुंठ किसी भी भारतीय भाषा में लिखा गया पहला उपन्यास है। सन् 1897-99 में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होकर यह रचना 1902 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। लेकिन हिन्दी में किसान जीवन पर पहला उपन्यास लिखने का श्रेय प्रेमचंद को ही है। उन्होंने 1922 में इस उपन्यास की रचना अवध में बाबा रामचंद्र के नेतृत्व में हुए किसान आंदोलन की जमीन में की। प्रेमाश्रम उपन्यास ग्रामीण जीवन के सहज सरल सौंदर्य तथा किसानों की व्यवस्था एवं दुर्दशा की झांकी प्रस्तुत करता है। यहां पर

केवल किसानों की ही कथा नहीं कहीं बल्कि एक तरफ से भारत की पारंपरिक सभ्यता का सजीवन भी किया है। वह सभ्यता जिसके केंद्र में नगर न होकर गांव हैं जहां आश्रम से प्रेम हो और सत्य और स्वाभिमान सबसे बड़े मानवीय मूल्य हैं। लोग और लाभ के परिणाम कितने भयानक हो सकते हैं यहां हम देख सकते हैं। कितना दिलचस्प है कि अंग्रेज भारत में कानून का शासन स्थापित करने का दावा करते रहे और उनके मानस पुत्र उनके इस दावे को आज भी सत्य मानते हैं। जबकि कभी भी कोई किसान शायद ही जमींदारों के विरुद्ध कोई मुकदमा जीत पाया हो। प्रेमाश्रम में किसान आंदोलन बहुत हद तक सफल है, और प्रेम पूर्ण जीवन जीने की आकांक्षा विजय होती दिखाई देती है। हृदय परिवर्तन इस उपन्यास की मुख्य प्रेरक शक्ति है। हृदय परिवर्तन के मूल में यह धारणा है कि हर मनुष्य मूलतः अच्छा होता है और अनुकूल प्रेरणा और परिस्थिति पाकर उसकी वहीं विशेषता प्रकट हो जाती है। यह अवधारणा दार्शनिक रूप से तो ठीक है, पर शासन संचालन का आधार हृदय परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रेमाश्रम में प्रेमचंद ने किसान जीवन के दुखों की मीमांसा की है। किसान बातचीत में अपने दुख के कारण और स्रोत की पहचान करते हुए दिखायी देते हैं। प्रेमाश्रम में किसानों की बातचीत के कुछ उल्लेखनीय बिन्दु सामने आते हैं। वह पूरी बातचीत कुछ इस प्रकार है।

“मनोहर ने कहा, भाई हाकिम तो अंग्रेज अगर यह न होते तो इस देश के हाकिम हम लोगों को पीसकर पी जाते। दुखहरण भगत ने इस कथन का समर्थन किया ‘जैसा उनका अकबाल है वैसा ही नारायण ने स्वभाव भी दिया है। न्याय करना यही जानते हैं, दूध का दूध और पानी का पानी, घूस रिश्वत से कुछ मतलब नहीं। आज छोटे साहब को देखो मुंह अंधेरे घोड़े पर सवार हो गए और दिन भर पड़ताल की। तहसीलदार पेशकार कानूनगो एक भी उनके साथ नहीं पहुंचा था। ... दुखहरण—कहते हैं कि विद्या से आदमी की बुद्धि ठीक हो जाती है पर यहां उल्टा ही देखने में आता है। यह हातिम और अमले तो पढ़े लिखे विद्वान होते हैं लेकिन किसी को दया धर्म का विचार नहीं होता।³ सुक्खू—यह विद्या का दोष नहीं देश का अभाग हैं। मनोहर ‘न विद्या का दोष है न देश का अभाग, यह हमारी फूट का फल है सब अपना दोष है। विद्या से और कुछ नहीं होता तो दूसरों का धन ऐंठना आ जाता है।”⁴

जमींदारों, साहूकारों और सरकारी अमले के पीछे अंग्रेजी राज है, यह वे किसान न समझ पाते थे। अंगरेजों का कुप्रचार कुछ था ही ऐसा कि आज भी अंगरेजों को भारत में एकता और सुशासन का श्रेय दिया जाता है। और कुछ नहीं तो कानून का राज स्थापित करने का श्रेय तो दिया ही जाता है। जबकि सच्चाई यह है कि अंग्रेजों ने ये सारी व्यवस्था भारतीयों के व्यवस्थित शोषण के लिए ही निर्मित की थी। अंग्रेजों ने भारतीयों के सामने भारतीयों को ही खड़ा किया जिससे मासूम किसान समझते हैं कि उनके असली दुश्मन अंगरेजों के भारतीय कर्मचारी हैं खुद अंगरेज नहीं। खुद अंग्रेज तो बहुत न्यायप्रिय तथा कर्मयोगी लोग हैं। अंग्रेजों की न्यायप्रियता का कुछ संकेत मार्क्स के हवाले से ऊपर हो चुका है। अंगरेजों ने भारत पर कब्जा झूठ, छल और फरेब से किया था न कि किसी पराक्रम से। इसी के साथ प्रेमचंद अंग्रेजी शिक्षा की एक गहरी विसंगति की ओर दुखहरण के हवाले से देते हैं जब वह कहता है कि ये कैसी विद्या है, कि लोगों में दया धर्म का विचार ही नहीं

रह गया। अर्थात् यह अंग्रेजी शिक्षा भारतीयों को उनकी जड़ों से काट कर उन्हें अपने ही समाज में अजनबी और आत्महीन बना रही थी। सुखू इसे देश का दुर्भाग्य मानता है और मनोहर कहता है कि यह हमारी फूट का फल है और विद्या से लोग कुछ और नहीं दूसरों का धन ऐंठना सीख जाते हैं। किसानों की यह चर्चा तत्कालीन भारतीय मानस और प्रेमचंद की बौद्धिक समझ पर प्रकाश डालती है। हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों की दुर्दशा की ऐसी ही मीमांसा गांधी जी ने हिंद स्वराज में भी की है। भारतीयों की यह फूट कोई स्वाभाविक चीज नहीं थी बल्कि अंग्रेजों द्वारा बहुत सोच समझकर भारतीयों को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने की रणनीति का हिस्सा था। उपन्यास में प्रेमाश्रम की स्थापना करने वाले लाला प्रेमशंकर भी किसानों के स्वभाव, परिस्थिति और शासन की मीमांसा करते हुए दिखायी देते हैं।

समस्याओं की इस मीमांसा तथा किसानों के लिए बुने गए इस मकड़जाल को प्रेमाश्रम में प्रेमचंद ने जमींदारों के हृदय परिवर्तन और प्रेमश्रम की स्थापना के द्वारा हल कर लिया। भावी पीढ़ी का युवा जमींदार द्रवित होकर अपनी जमींदारी छोड़ देता है। वह कहता है, कि जमींदार जमीन के मालिक नहीं किसानों के सेवक होने चाहिये। मायाशंकर कहता है, “महोदय ने कहा है कि तालुकेदार अपनी प्रजा का मित्र, गुरु और सहायक है। मैं बड़ी विनय के साथ निवेदन करूंगा कि इतना ही नहीं, कुछ और भी है, वह अपनी प्रजा का सेवक भी है। यही उसके अस्तित्व का उद्देश्य और हेतु है, अन्यथा संसार में उसकी कोई जरूरत न थी, उसके बिना समाज के संगठन में कोई बाधा न पड़ती। वह इसलिए नहीं है कि प्रजा के पसीने की कमाई को विलास और विषय भोग में उड़ाए, उनकी टूटी-फूटी झोपड़ी के सामने अपना ऊंचा महल खड़ा करे, उनकी नम्रता को अपने रत्न जड़ित वस्त्रों से अपमानित करे, उनकी संतोषमय सरलता को अपने पार्थिव वैभव से लज्जित करे, अपनी स्वाद लिप्सा से उनकी छुधा पीड़ा का उपहास करे। अपने स्वत्वों पर जान देता हो, पर अपने कर्तव्य से अनभिज्ञ हो ऐसे निरंकुश प्राणियों से प्रजा की जितनी जल्द मुक्ति हो उनका भार प्रजा के सिर से जितनी जल्द दूर हो उतना ही अच्छा हो।”⁵

वस्तुतः जमींदारी प्रथा कोई प्राकृतिक चीज नहीं थी। इसे अंग्रेजों ने अपनी जरूरत के हिसाब से बहुत योजनापूर्वक और कुशलतापूर्वक बनाया था। जमींदारी पाने के लिए समाज में गलाकाट प्रतियोगिता हो रही थी। प्रेमाश्रम इसका संकेत देता है। इसलिए जमींदार इतनी आसानी से अपना अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं थे। फिर भी प्रेमाश्रम में हृदय परिवर्तन का जो उत्साह दिखायी देता है वह प्रेमचंद के दूसरे उपन्यासों के जमींदारों में नहीं दिखायी देता। इस कुप्रथा का जल्द से जल्द अंत हो इस कामना से प्रेमाश्रम का सुखद अंत होता है। भारत में अंग्रेजों के पालतू बुद्धिजीवियों ने उन्हें कई सारी कुप्रथाओं के अंत का श्रेय दिया है पर जमींदारी जैसी भयानक कुप्रथा के जनक खुद अंगरेज थे यह कोई नहीं कहता दिखायी देता। वस्तुतः भारत के दुर्भाग्य का कारण वह अंग्रेजी राज तथा उसकी कृषि पद्धति थी। अंग्रेजों ने भारत में किया वह उनकी परंपराओं के अनुकूल था। किसानों से बेगार लेना उनको अपमानित करना अंग्रेजों के लिए आम बात थी। भारत में भी उन्होंने वही फैशन चलाया। बेगारी व बेदखली भारत के किसानों के लिए अंग्रेजों की देन है। जमींदारी प्रथा

में किसानों से निपटने का एक चित्र प्रेमाश्रम में आया है वह निम्नवत् है।

“जब तक इलाके का प्रबंध इलाके का प्रबंध लाला प्रभा शंकर के हाथों में था वह गौस खां को अत्याचार से रोकते रहते थे। अब ज्ञान शंकर मालिक और मुख्तार थे। उनकी स्वार्थ प्रियता ने खान साहब को अपनी अभिलाषा पूर्ण करने का अवसर प्रदान कर दिया था। वर्षात पर उन्होंने बड़ी निर्दयता से लगान वसूल किया। एक कौड़ी भी बाकी ने छोड़ी। जिसने रुपए न दिए या न दे सका उस पर नालिश की, कुर्की कराई और एक का डेढ़ वसूल किया। सिकमी आसामियों को समूल उखाड़ दिया और उनकी भूमि पर लगान बढ़ाकर दूसरे आदमियों को सौंप दिया। मौरूसी और दखलीकार आसामियों पर भी कर वृद्धि के उपाय सोचने लगे। वह जानते थे की कर वृद्धि भूमि की उत्पादक शक्ति पर निर्भर है और इस शक्ति को घटाने बढ़ाने के लिए केवल थोड़ी सी वाक चतुरता की आवश्यकता होती है। सारे इलाके में हाहाकार मच गया।”⁶

किसानों की इन समस्याओं की कहीं कोई सुनवायी नहीं होती थी। जिन अधिकारियों के यहाँ मामले पेश होते वे खुद जमींदार परिवार से ही होते थे।

मनोहर कहता है कि ‘ऐसा कोई कानून नहीं बन जाता कि बेसी का मामला इन हाकिमों के इजलास में न पेश हुआ करें। हाकिम लोग आप भी तो जमींदार होते हैं इसलिए वह जमींदारों का पक्ष करते हैं।’

भयानक गरीबी के कारण लोगों को भरपेट खाना भी नहीं मिलता। अन्न उपजाने वाले को ही अन्न खाने को नसीब न हो यह कितनी बड़ी कुव्यवस्था थी। पर इस कुव्यवस्था के जनक बड़ी बेशर्मी से अपने को भारत का भाग्य विधाता कहलवाते थे। बलराज कहता है ‘यह भी कोई खाना है कि एक आदमी खाए और घर के सब आदमी उपवास करें। गांव में सुख चौधरी को छोड़कर और किसी के घर दोनों बेला चूल्हा जलता है किसी को एक जून चबेना मिलता है कोई चुटकी भर सत्तू फांककर कर रह जाता है दूसरी बेला भी पेट भर रोटी नहीं मिलती।”⁷

खेती की हालत यह हो गयी कि किसान को मजदूरी आसान लगने लगे इस विडंबना की सहज ही कल्पना की जा सकती है। “बलराज बात तो सच्ची कहता है इस खेती में कुछ रह नहीं गया मजदूरी भी नहीं पड़ती। लेकिन इस खेती में दिन रात लगे रहते हैं फिर भी किसी को पेट भर दाना नहीं मिलता।”⁸

किसान किसी भी सूरत में किसानी नहीं छोड़ना चाहता क्योंकि किसानी में उसे मरजाद दिखायी देती है। यह मरजाद उस किसान का सनातनी ऐतिहासिक स्वाभिमान और स्वधर्म है। अंग्रेजी राज में स्वधर्म पालन की कोई संभावना नहीं रह गयी थी। वह नौकरी और गुलामी तथा जी हुजूरी सिखाने वाली व्यवस्था थी। इसीलिए चाहे अनचाहे किसान खेती नहीं छोड़ना चाहते। मरजाद की समस्या गोदान के प्रसंग में ही नहीं बल्कि प्रेमाश्रममें बहुत महत्वपूर्ण है जिसका पता हमें डपट सिंह की बात से चलता है।

“डपट— बस एक मरजाद रह गई है दूसरों की मजदूरी नहीं करते बनती इसी बहाने से किसी तरह निबाह हो जाता है नहीं तो बलराज की उमिर में हम लोग खेत के डाँढ़ पर न जाते थे। न जाने क्या हुआ कि जमीन की बरकत ही उठ गई जहां बीघा पीछे बीस-बीस मन होते थे वहां अब चार-पांच मन से आगे नहीं जाता।”⁹

एक तरफ किसानों की गरीबी, भुखमरी और दूसरी तरफ सरकारी कर्मचारियों और अधिकारियों का उन्हीं गरीब किसानों के ऊपर परजीवी की तरह पलना। सरकारी अधिकारियों के लिए गांवों का दौरा किसी आनन्दोत्सव जैसा होता था। लेकिन वह समय किसानों के लिए सिर्फ आर्थिक तंगी और शोषण का ही समय नहीं होता था बल्कि वह उनके लिए मार, अपमान और गुलामी का दौर भी हो जाता था। बेगारी और बेदखली जैसी चीजें किसानों के जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन गयीं।

“अधिकारी वर्ग और उनके कर्मचारी विरहिणी की भांति इस साल के दिन गिना करते हैं शहरों में तो उनकी दाल नहीं गलती या गलती है तो बहुत कम वहां प्रत्येक वस्तु के लिए उन्हें जब में हाथ डालना पड़ता है किंतु देहातों में जब की जगह उनका हाथ अपने सोटे पर होता है या किसी दीन किसान की गर्दन पर। स्वप्न में भी दर्शन नहीं होता था उन पदार्थों की यहां केवल जिह्वा और बाहु के बल से रेल-पेल हो जाती है। जितना खा सकते हैं खाते हैं बार-बार खाते हैं और जो नहीं खा सकते वह घर भेजते हैं। घी से भरे हुए कनस्तर, दूध से भरे हुए मटके, उपले और लकड़ी घास और चारे से लदी हुई गाड़ियां शहरों में आने लगती हैं। घरवाले हर्ष से फूले नहीं समाते, अपने भाग्य को सराहते हैं क्योंकि अब दुख के दिन गए और सुख के दिन आए। उनकी तरी वर्षा के पीछे आती है, वह खुशकी में तरी का आनंद उठाते हैं। देहात वालों के लिए वह बड़े संकट के दिन होते हैं। उनकी शामत आ जाती है मार खाते हैं, बेकार में पकड़े जाते हैं, दासत्व के दारुण निर्दय आघातों से आत्मा का भी हास हो जाता है।”¹⁰

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसानों के जीवन का यह संकट कितना जटिल और बहुस्तरीय था जिसमें किसी एक शत्रु को सीधे-सीधे चिह्नित करना कठिन था। पर जमींदार, सरकारी कर्मचारी और कानून तथा सबके पीछे अंग्रेजी राज मिलकर एक ऐसी पारिस्थितिकी निर्मित कर रहे थे जिसमें किसान का किसान बने रहना लगातार असंभव होता जा रहा था। प्रेमाश्रम में हम समस्या का सहज समाधान जमींदारों के हृदय परिवर्तन और प्रेमाश्रम की स्थापना के माध्यम से देखते हैं, लेकिन समस्या कहीं ज्यादा गहरी थी। इसलिए कर्मभूमि और गोदान में हमें किसान खुशी मनाते नहीं दिखायी देते।

गोदान को किसान जीवन का महाकाव्य कहा जाता है। भारतीय किसान के परिवार में पत्नी बच्चे ही नहीं आते हैं बल्कि उसकी गाय भी उसके परिवार का अभिन्न हिस्सा होती है। गाय किसान की इहलौकिक और पारलौकिक इच्छाओं की पूर्ति का साधन है। गोदान की त्रासदी मूलतः होरी की इहलौकिक और पारलौकिक साधारण आकांक्षाओं की भी पूर्ति न हो पाने और जीवन के उत्तरोत्तर कठिन होते जाने से जुड़ी है। होरी का सामर्थ्य एक गाय तो क्या एक बकरी खरीदने की भी नहीं है। वह आर्थिक रूप से अत्यन्त विपन्न है। इसलिए कुछ आलोचकों ने गोदान के संदर्भ में गाय के

धार्मिक प्रश्न को जानबूझ कर बहुत तूल देने की कोशिश की है। ऐसा वे इसलिए करते हैं कि ताकि वे गाय और गोदान के नाम पर इसे एक हिन्दू होने के अंधविश्वास से जोड़ कर गोदान की एक आम हिन्दू की आकांक्षा को लांक्षित कर सकें। वस्तुतः होरी की स्थिति कोई भी इच्छा तो छोड़िए दैनिक जीवन की जरूरत भी पूरी करने लायक नहीं है। बच्चों को पर्याप्त भोजन न मिल पा रहा हो, लड़कियों के विवाह का संकट हो तो शिक्षा-दीक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह अकारण नहीं है कि प्रेमचंद के ग्रामीण जीवन के कथा प्रसंगों में शिक्षा प्राप्त करने की कोई आकांक्षा किसानों में नहीं दिखायी देती। आर्थिक रूप से विपन्न होने के बाद भी होरी आत्महीन नहीं है। जिस मरजाद की रक्षा के संदर्भ किसानों के प्रसंग में प्रेमचंद के यहाँ बार-बार आते हैं, वह मरजाद भारतीय किसानों की गौरवशाली परंपरा का ऐतिहासिक और जीवंत रूप है। होरी का संघर्ष केवल जीने और खाने का संघर्ष नहीं है। अगर इतना ही होता तो होरी मजदूर बनकर भी जी लेता। उसका संघर्ष जीवन को सुंदर तरीके से जीने का संघर्ष है। वह भरसक किसान बने रहना चाहता है लेकिन वह औपनिवेशिक कृषि तंत्र उसे किसान बने नहीं रहने देने चाहता। मूल प्रश्न है कि गोदान में अगर होरी नायक है तो खलनायक कौन है? इसके आसान उत्तर हो सकते हैं कि जमींदार, महाजन और पुरोहित तथा होरी के अंधविश्वास तथा खेती से उसका झूठा लगाव जिसे वह मरजाद कहता है। लेकिन अगर हम देखें तो ये सतह पर दिखने वाली सच्चाई है। प्रेमाश्रम में ही जमींदार प्रेमशंकर स्पष्ट कह देता है।

“कृषकों को शायद ही मैं कोई ऐसी बात बता सकता हूँ जिसका उन्हें ज्ञान न हो। परिश्रमी तो इन से अधिक कोई संसार में न होगा। मितव्ययिता में, आत्म संयम में, गृह प्रबंधन में वे निपुण हैं। उनकी दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर नहीं बल्कि उन परिस्थितियों पर है जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है और यह परिस्थितियाँ क्या है आपस की फूट स्वार्थपरता और एक ऐसी संस्था का विकास जो उनके पांव की बेड़ी बनी हुई है, लेकिन जरा और विचार कीजिए तो यह तीनों कहानियाँ एक ही शाखा से फूटी हुई प्रतीत होंगी और यह वही संस्था है जिसका अस्तित्व कृषकों के रक्त पर अवलंबित है। आपस में विरोध क्यों? उन दुरवस्थाओं के कारण जिनकी इस वर्तमान शासन ने सृष्टि की है। परस्पर प्रेम और विश्वास क्यों नहीं है इसलिए कि यह शासन इन सद्भाव को अपने लिए घातक समझता है और उन्हें पनपने नहीं देता। इस परस्पर विरोध का सबसे दुख जनक फल क्या है? भूमि का क्रमशः अत्यंत अल्प भागों में विभाजित हो जाना और उसके लगान की अपरिमित वृद्धि।”¹¹

किसान का जमीन पर मालिकाना अधिकार न होने के कारण उसका जीवन पूरी तरह दूसरों की दया पर निर्भर हो गया। लगान की दर ऊँची होने और कृषि लागत अधिक होने के कारण लगान का भुगतान समय पर किसान कभी भी नहीं कर पाता था। लगान समय पर न देने का परिणाम था से भूमि से किसान की बेदखली। अपनी जमीन बचाने के लिए किसान महाजन से बहुत ऊँची दर पर ऋण लेता था और ऋण का ब्याज भी नहीं चुका पाता था। ब्याज चुकाते चुकाते ही जीवन चला जाता था पर मूल धन जिस का तस पड़ा ही रहता था। महाजन ऋण अदायगी की रसीद भी नहीं देते थे। इसलिए किसान उनके चंगुल में पड़ा ही रहता था। और उस तरह धीरे-धीरे किसान से मजदूर

में बदलता रहा। मजदूर मार्क्सवाद की चिंतकों के लिए किसान की तुलना में ज्यादा क्रांति का आधार होता है। लेकिन प्रेमचंद मजदूर की समस्याएँ और नियति भी जानते थे। इसलिए क्रांतिकारी लगता हुआ गोबर एक उम्मीद जगाकार भी असफल हो जाता है। चूंकि भारत को अंग्रेजों ने अपनी जरूरतों के हिसाब से चलाने की कोशिश की इसलिए वे भारत के औद्योगिक विकास में भी रुचि नहीं रखते थे। भारत में औद्योगिक विकास हुआ वह भारत की राष्ट्रीय राजनीति से जुड़कर और उसकी प्रेरणा से ही हुआ। भारत के औद्योगिक घरानों को कोई सरकारी सहायता प्राप्त नहीं हुई। इसलिए पूँजी की शक्ति से भारत का जो विकास होना था वह उस युग में हुआ ही नहीं। इस कारण उससे जुड़ा हुआ मजदूर भी बहुत सुखी और संपन्न नहीं हो पाया। गोबर का किसान से मजदूर के रूप में वर्गांतरण कुछ लोगों को ऐतिहासिक सत्य लगता है। ऐसे विद्वान वस्तुतः विश्व बैंक की आर्थिक नीतियों की भाषा बोलते हुए लोग हैं। जब एक किसान अपना घर और गांव छोड़कर शहरी मजदूर बनता है तो सिर्फ उसका घर ही नहीं छूटता बल्कि उसके तीज त्योहार, नाते-रिश्ते, उसकी प्रकृति और वह पूरा परिवेश छूट जाता है जिसमें उसके पूर्वज, उनकी लोक कथाएँ, गीत तथा विभिन्न रीति रिवाज और कुलाचार होते हैं। इस प्रकार वह मनुष्य पूरी तरह से अपनी जड़ों से उखड़ कर अपना और किसी औद्योगिक निगम का पेट भरने वाला औजार भर बन जाता है।

प्रेमचंद के संपूर्ण किसान विमर्श में असली खलनायक है वह कृषि तंत्र जिसके हिस्से जमींदार और साहूकार तथा सरकारी अमले हैं। इस कृषितंत्र के जनक और संरक्षक अंग्रेज थे। इसलिए अकारण नहीं है कि प्रेमचंद के साहित्य सृजन का लक्ष्य स्वराज है और इसी अर्थ में उनका लेखन उस युग का साहित्यिक सत्याग्रह है। किसानों का भला कुछ जमींदारों के हृदय परिवर्तन से संभव नहीं। गोदान में होरी का जीवन और मृत्यु इसी सत्य की नाटकीय प्रस्तुति है। यहां किसान आंदोलन नहीं। होरी को समाज के प्रबुद्ध वर्ग से कोई उम्मीद नहीं। वह अपना पूरा श्रम और सामर्थ्य लगाने के बाद भी सुखी नहीं। यह स्थिति सिर्फ उसकी ही नहीं बल्कि सब की है। खेती उसके गले की फांस बन चुकी थी। पूस की रात कहानी में हल्कू मवेशियों द्वारा क्षेत्र लेने पर भी खुश होता है कि अब इतनी सदी में खेत में तो नहीं सोना पड़ेगा। गोदान में होरी कोई प्रतिरोध नहीं करता उसने अपनी परिस्थिति की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया है और किसान से मजदूर होकर वह मर जाता है। गाय एक हिंदू के इस लोक और परलोक की कामनाओं का संयुक्त प्रतीक है। घर पर गाय रखने की इच्छा उसकी पूरी होते-होते खंडित हो जाती है। उसकी मृत्यु पर गोदान के लिए धनिया के पास केवल कुछ पैसे हैं। उपन्यास एक गहरी करुणा के बोध के साथ समाप्त होता है। जैसे कि किसान जीवन के इस गहन अंधकार पूर्ण रात्रि की कोई सुबह नहीं होने वाली। किसान जीवन का वह संकट स्वतंत्रता के बाद भी बना रहा और आज भी हजारों किसान आत्महत्या करने को मजबूर हैं। होरी अपनी विवशता की मौत मरा पर उसने आत्महत्या नहीं की।

ऐसा नहीं है कि प्रेमचंद को किसान जीवन के संकट और और पूरे कुचक्र का ज्ञान गोदान के पहले नहीं था। वस्तुतः वे उस संकट के पहले से ही समझते थे पर देश की राजनीति के पास उस संकट का कोई समाधान नहीं था, वे यह जान गए थे। यही अंतर है प्रेमाश्रम और गोदान का।

इसलिए गोदान में कोई किसान आंदोलन नहीं है, जबकि जब गोदान लिखा जा रहा था तब देश में किसान आंदोलन की बाढ़ आयी हुई थी।

प्रेमचंद शहर और गांव को साथ-साथ प्रस्तुत करते हैं। प्रेमाश्रम में यह समीकरण साथ-साथ चलता है। किसान की समस्याओं पर शहरी भद्र वर्ग में सहानुभूति और चिंता भी है लेकिन वे कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाते। उसका कारण वह अंग्रेजी राज ही था जिसमें सब कैदी थे। लेकिन किसान ही वह आधार था जिस पर सब आश्रित थे। यह कितना रोचक है कि जिस किसान के सहारे सब थे वह किसान खुद कितना बेसहारा था। प्रेमचंद की कलात्मकता यह है कि उन्होंने उस पूरी बौद्धिक और आर्थिक पारिस्थिक तंत्र को प्रेमाश्रम में एक गहरी संवेदनात्मक अनुभूति के साथ प्रस्तुत किया है जो उस युग के इतिहास की प्रामाणिक पुस्तकों में भी नदारद है। यही उनके उपन्यास प्रेमाश्रम का ऐतिहासिक महत्व और औदात्य है।

हिन्दी विभाग,

एम. एम. वी., काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (उ.प्र.) 221005

vivekanand27@gmail.com

सन्दर्भ :

1. बी एल ग्रोवर एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, एस चंद एंड कंपनी नई दिल्ली 2001, पृष्ठ— 468, से उद्धृत
2. वही पृष्ठ— 471
3. प्रेमचंद, प्रेमाश्रम वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली 2002 पृष्ठ— 5
4. वही पृष्ठ— 6
5. वही पृष्ठ— 358
6. वही पृष्ठ— 40
7. वही पृष्ठ— 42
8. वही पृष्ठ— 43
9. वही पृष्ठ— 43
10. वही पृष्ठ— 43
11. वही पृष्ठ— 45

रहली की वैष्णव प्रतिमाओं का स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प

गोविन्द सिंह दांगी

सारांश :

वर्तमान में भारतीय संस्कृति मंत्रालय एवं मध्यप्रदेश शासन के संयुक्त तत्वाधान में भारतीय ज्ञान परम्परा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किये जा रहे हैं वहीं राष्ट्रीय शिक्षा नीति – 2020 में भी ऐसे अनेक प्रावधान शामिल किये गए हैं जो भारतीय ज्ञान परम्परा के क्षेत्र में आशातीत कार्य करेंगे। प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना था, जो उसे जीवन पर्यंत उपयोगी होता था। इसी को दृष्टिगत रखते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति – 2020 में जो रोजगार मूलक विषयों को शामिल किया गया वह निश्चित ही विद्यार्थियों के व्यक्तित्व विकास में सहायक सिद्ध होंगे साथ ही समाज को एक नवीन दिशा प्रदान करेगी।

वर्तमान में भारतीय ज्ञान परम्परा में प्राचीन धर्म, दर्शन, योग, विज्ञान, गणित, आध्यात्म, आदि महत्वपूर्ण विषयों पर मुख्य रूप से विचार-विमर्श किया जा रहा है। जिससे हमारी प्राचीन संस्कृति में व्याप्त ज्ञान का लाभ वर्तमान समाज को प्राप्त हो सके। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धर्म मानव जीवन का मुख्य आधार स्तम्भ रहा है। प्राचीन भारतीय समाज विविध धर्मों – (शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, जैन, बौद्ध आदि) में आस्था रखता था वहीं व्यक्ति संबंधित धर्म के साहित्य का अध्ययन-अध्यापन करता था एवं अपने धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु महत्वपूर्ण कार्य करता था। धर्म के प्रचार-प्रसार एवं स्थायित्व के उद्देश्य से ही उसने मंदिरों में मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ किया होगा जो वर्तमान में भारतीय ज्ञान परम्परा का महत्वपूर्ण अंग हैं। वर्तमान में इन मंदिरों एवं मूर्तियों के अध्ययन से हमें प्राचीन ज्ञान परम्परा के अध्ययन में निश्चित ही सहायता प्राप्त होती है।

प्राचीन भारतीय धर्म एवं विज्ञान के इसी तारतम्य में तात्कालीन समय में वर्तमान सागर जिले के रहली तहसील में वैष्णव धर्मावलम्बियों ने वैष्णव धर्म संबंधी मन्दिर एवं मूर्तियों का निर्माण कराया जो उल्लिखित क्षेत्र के तात्कालीन धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, आदि पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। यह स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प संबंधी पुरावशेष निश्चित ही इस सम्पूर्ण क्षेत्र में प्राचीन ज्ञान के अध्ययन में सहायक होंगे।

बीज शब्द : पुरावशेष, कर्णाभूषण, ग्रैवेयक, अलंकरण, आयुध, किरीट मुकुट, यज्ञोपवीत, अधोवस्त्र, पाश्वस्तम्भ

मध्यप्रदेश के सागर जिले में स्थित रहली, तहसील मुख्यालय है जो सागर-जबलपुर सड़क मार्ग पर सुनार नदी के तट पर सागर से 42 किलोमीटर की दूरी पर 23° 39' 09" उत्तरी अक्षांश तथा 79° 03' 45" पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित हैं। सुनार नदी रहली के मध्य से प्रवाहित होती है जिससे मनोरम दृश्य प्रदर्शित होता है। सुनार नदी के बायें तट पर एक सूर्य मंदिर स्थापित है

जिसे एकाधिक मंदिरों के स्थापत्य खण्डों से पुनः निर्मित किया गया है। इस मंदिर की भित्तियों पर विविध धर्मों (शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य आदि) से संबंधित प्रतिमाएँ प्रदर्शित हैं। जिसमें वैष्णव धर्म से संबंधित प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। सर्वेक्षण में रहली नगर के मध्य में स्थित खेरमाता मंदिर नामक स्थल से भी वैष्णव धर्म से संबंधित अनेक प्रतिमाएँ दृष्टव्य हुईं। स्थानीय लोगों के बताये अनुसार यहाँ स्थित देवी मंदिर के निर्माण के समय नींव की खुदाई में ये सभी प्रतिमाएँ एवं प्राचीन मंदिर के भग्नावशेष निकले हैं। इन पुरावशेषों में एक चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा उल्लेखनीय है। दृष्टव्य भग्नावशेषों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ कोई प्राचीन विष्णु मंदिर विद्यमान रहा होगा।

वैष्णव धर्म की प्राचीनता :

प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति ने विविधता में एकता के सिद्धांतों का अनुशरण किया है। जहाँ प्रचलित विविध धर्म एवं सम्प्रदायों ने भारत को एक प्रथक पहचान प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर विविध (शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, जैन, बौद्ध आदि) धर्माबलम्बियों ने अपने धर्म के संरक्षण, संवर्धन एवं प्रचार-प्रसार हेतु अनेक कार्य किये साथ ही इसे चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से उन्होंने स्थापत्य कला एवं मूर्तिशिल्प का सहारा लिया। यह कलावशेष आज प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

भारतीय संस्कृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत के सभी प्राचीन धर्म एवं सम्प्रदायों में वैष्णव धर्म सबसे प्रचलित धर्म रहा है। विष्णु के नाम से प्रतिष्ठित वैष्णव संप्रदाय, वैष्णव उपासकों में भागवत, नारायण, आदि नामों से भी जाना जाता है। प्राचीनता की दृष्टि से सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में समाविष्ट पौराणिक देव भगवान विष्णु को सृष्टि का संचालनकर्ता, पालनकर्ता आदि विशेषताओं से परिपूर्ण माना गया है। ऋग्वैदिक (शर्मा, 1934) के देव 'विष्णु' तीन पगों में पार्थिव लोकों की परिक्रमा कर विशाल विक्रम में सर्वलोक को समाविष्ट किये हैं। 'देवानां श्रेष्ठ इति' (सिंह, 1982) से विभूषित विष्णु के प्रति जनमानस की श्रद्धा धीरे-धीरे बढ़ती गई और कालांतर में वह वैष्णव सम्प्रदाय के अधिष्ठात्र देव बन गए। महाभारत के नारायणी खण्ड में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। (सिंह, 2013) महाकाव्य एवं पौराणिक काल तक आते-आते विष्णु परमेश्वर का स्थान प्राप्त कर लेते हैं। भक्ति भावना से वृष्णि वीरों की आराधना विष्णु आराधना के विकास का प्रमुख आधार रही है। वृष्णि वीरों की आराधना ही बाद के काल में 'व्यूहवाद' का कारण बनी और वासुदेव, कृष्ण, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को भगवान माना जाने लगा और कालांतर में 'व्यूह' ही 'विभववाद' (अवतारवाद) के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। (आयुक्त, 1991) विष्णुपुराण (शर्मा, 1967), वायुपुराण (शर्मा, 1967), अग्निपुराण (शर्मा, 1968), मत्स्यपुराण (शर्मा, 1970), आदि पुराणों में विष्णु का उल्लेख अनेक संदर्भों में पृथक-पृथक स्थानों पर किया गया है। महाभारत में विष्णु का उल्लेख निम्न श्लोक से ज्ञात होता है (उपाध्याय, 1982), -

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

(गीता 4/3-4)

साहित्यिक उल्लेखों के साथ-साथ पुरातात्विक प्रमाणों में घोसुण्डी अभिलेख (गोयल, 1982), विदिशा के निकट बेसनगर में स्थित हेलियोडोरस का गरुण स्तम्भ लेख (गोयल 1982), जूनागढ़ लेख (गुप्त, 2002), आदि से भी वैष्णव धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। जिनमें विष्णु मंदिर एवं विष्णु मूर्ति स्थापित करने की बात कही गई है। विष्णु प्रतिमा के निर्माण विधान का प्राचीनतम विवरण वृहत्संहिता में उपलब्ध होता है—

कार्योऽष्टभुजो भगवांश्चतुर्भुजो द्विभुज एव वा विष्णु।

श्री वत्सांकितवक्षाः कौस्तुभमणिभूषितोरस्कः ॥ (वृहत्संहिता, 58/31)

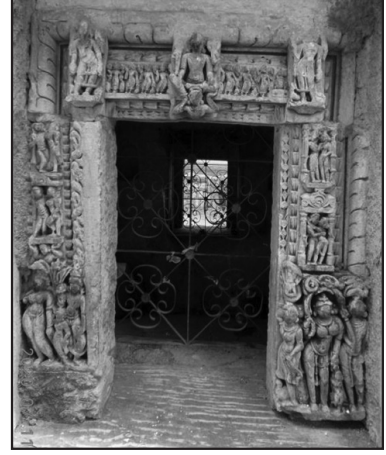
विष्णु भगवान की प्रतिमा अष्टभुज, चतुर्भुज अथवा द्विभुज बनाना चाहिए। उनके वक्षः स्थल को शोभायमान करने के लिए 'श्रीवत्स' नामक चिन्ह और कौस्तुभमणि बनाये (वृहत्संहिता, 2018)। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार विष्णु प्रतिमा निर्माण हेतु विष्णु को एक मुखी तथा द्विभुजी गदा, चक्रधारी बनाने का विधान है (सिंह, 2013)। विष्णु प्रतिमा निर्माण के निर्देश अग्निपुराण (शर्मा, 1968), वराहपुराण (चतुर्वेदी, 1968), मत्स्यपुराण (शर्मा, 1970), स्कन्धपुराण (शर्मा, 1970), समरांगणसूत्रधार (कुमार, 1998), तथा रूपमण्डन (श्रीवास्तव, 1996), आदि में भी दिये गये हैं। विष्णु प्रतिमाओं में 'पर' 'विभव' और 'व्यूह' ये तीन प्रमुख समूह माने गये हैं। वैखानस आगम में वर्णित प्रतिमा में प्रदर्शित देवता की स्थिति के आधार पर उनके 'स्थानक' 'आसन' और 'शयन' ये तीन वर्ग बताये गये हैं (झा, 1989)। गोपीनाथराव ने विष्णु प्रतिमाओं को योग, भोग, वीर और अभिचारिक इन चार उप-विभागों में विभाजित किया है।

कुषाण कालीन मूर्तिकला में विष्णु का स्पष्ट अंकन दृष्टव्य होता है। विष्णु की प्राचीनतम प्रतिमा कुषाणकालीन मथुरा में निर्मित हुई (उपाध्याय, 1982)। गुप्तकालीन शासकों ने वैष्णव धर्म के विकास में प्रमुख योगदान दिया तथा विष्णु मंदिर एवं मूर्तियों के निर्माण में रुचि दिखाई। जिसका स्पष्ट प्रमाण सागर जिले के एरण नामक पुरास्थल पर दृष्टव्य गुप्तकालीन विष्णु मंदिर एवं वैष्णव प्रतिमाएँ हैं (दुबे, 1997)। ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सागर जिले का बड़ा भू-भाग चन्देल एवं कलचुरि शासकों के अधीनस्थ रहा। जिन्होंने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक आदि क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन शासकों ने वैष्णव धर्म को संरक्षण देने के साथ-साथ धर्म के विकास में योजनाबद्ध रूप से कार्य किया एवं इस सम्पूर्ण क्षेत्र में वैष्णव धर्म से संबंधित मंदिरों एवं मूर्तियों के निर्माण में योगदान दिया (तिवारी एवं कमलगिरि, 1991)। सागर जिले के रहली एवं उसके आस-पास के क्षेत्र का सर्वेक्षण के दौरान वैष्णव धर्म से संबंधित स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प संबंधित पुरावशेष दृष्टव्य हुये। इन पुरावशेषों में मंदिरों के ध्वंशावशेष तथा विष्णु एवं उनके विविध अवतारों से संबंधित प्रतिमाएँ प्रमुख हैं। ये पुरावशेष रहली नगर, एवं आस-पास के तिंसी, नृसिंह पिपरिया, छिरारी, चांदपुर, अनन्तपुर आदि पुरास्थलों पर दृष्टव्य हैं, प्रमुख पुरावशेषों का विवरण निम्नानुसार है —

रहली के सूर्य मंदिर में स्थापित विष्णु मंदिर का सिरदल एवं द्वारशाखा -

प्रस्तुत विष्णु प्रधान सिरदल सूर्य मंदिर की उत्तरी भित्ति पर स्थापित है। जिसमें एक

शिलाफल पर त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) को प्रदर्शित किया गया है। जिसमें मध्य में गरुड़ासीन चतुर्भुजी विष्णु अर्धपर्यंक मुद्रा में मानवरूपी गरुड़ पर विराजमान हैं। विष्णु ऊपरी दायीं भुजा में गदा एवं बायीं भुजा में चक्र धारण किए हैं। शेष नीचे की दोनों भुजाएँ भग्न हैं। विष्णु के कर्णकुण्डल, यज्ञोपवीत, वनमाला, आदि अल्प अलंकरण दृष्टव्य हैं। विष्णु के बायीं ओर चतुर्भुजी शिव विराजमान हैं। त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित शिव की तीन भुजाएँ एवं सिर भग्न है। बायीं नीचे की भुजा में धारण कमण्डल मात्र दृष्टव्य है। प्रतिमा भग्न होने से देव के अलंकरण आदि अस्पष्ट हैं। शिव के दायीं ओर उनका वाहन भग्न नंदी दृष्टव्य है। विष्णु के दायीं ओर चतुर्भुजी ब्रह्मा त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित हैं। ब्रह्मा का मुख एवं दायीं दोनों भुजाएँ भग्न हैं। देव बायीं ऊपरी भुजा में वेद एवं नीचे की भुजा में कमण्डल धारण किये हैं। प्रतिमा भग्न होने से ब्रह्मा के अलंकरण आदि अस्पष्ट हैं। देव के दायीं ओर उनका वाहन भग्न हंस दृष्टव्य है। विष्णु के दोनों ओर दांयी तरफ से क्रमशः सूर्य सहित नवग्रहों (सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, तथा राहु-केतु) का अंकन है। स्थानक सूर्य दोनों भुजाओं में सनाल कमल धारण किये हैं। त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित अन्य ग्रहों की दायीं भुजा अभय मुद्रा में एवं बायीं भुजा में कमण्डल लिए हैं। अंत में राहु-केतु हाथ जोड़े अंकित हैं। शिलाफलक में विष्णु के दोनों ओर अलंकृत पुष्पलताओं का अलंकरण है (दांगी, 2021)। सिरदल लाल पत्थर से निर्मित है। **छायाचित्र क्रमांक 01** (काल 11वीं 12वीं शताब्दी ईस्वी)



छायाचित्र क्रमांक 01 में ही सिरदल के नीचे दृष्टव्य द्वारशाखाओं को स्थापित किया गया है। दोनों द्वारशाखाओं में परिचारिकाओं सहित नदी देवी गंगा को प्रदर्शित किया गया है। (सामान्यतः प्रवेश द्वार पर गंगा-यमुना प्रदर्शित होती हैं जो मूल विष्णु मंदिर में रही होगी) त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित परिचारिकाएँ विविध अलंकरणों से सुशज्जित हैं दोनों द्वारशाखाओं में परिचारिकाओं के पीछे त्रिभंग मुद्रा में एक-एक सेवक खड़े हैं। दोनों के सिर पर छत्र दृष्टव्य है। द्वारशाखा के ऊपरी भाग में युगल आकृति एवं मिथुन आकृति प्रदर्शित की गई है। पुष्पवल्लरी आदि से द्वारशाखाएँ अलंकृत हैं। दोनों को विविध गंधर्व, मिथुनाकृति, नागवल्लरी, पत्रवल्लरी आदि से अलंकृत किया गया है। (काल 11वीं 12वीं शताब्दी ईस्वी)

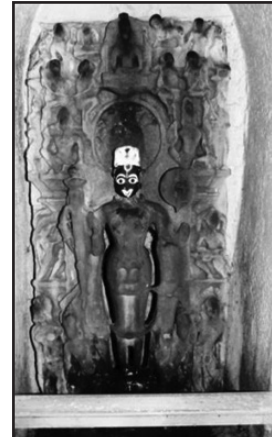
स्थानक विष्णु

स्थान : रहली नगर, (खेरमाई नामक स्थल)

पत्थर : लाल बलुआ पत्थर

माप : 122×59 से.मी.

काल : 11वीं-12वीं शताब्दी ई. (कलचुरिकालीन)



प्रस्तुत चतुर्भुजी स्थानक विष्णु प्रतिमा रहली नगर के मध्य स्थित खैरमाता नामक स्थल पर एक दुर्गा मंदिर में स्थापित है। जिसे स्थानीय लोग खैरमाई (देवी) के रूप में पूजते हैं। प्रभामण्डल से युक्त चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा की दायीं ऊपर की भुजा में गदा एवं बायीं ऊपर की भुजा में चक्र दृष्टव्य है, जबकि नीचे की दोनों भुजाएँ भग्न हैं। विष्णु किरीटमुकुट, कर्णकुण्डल, वनमाला, अधोवस्त्र आदि से सुसज्जित हैं। स्थानक विष्णु के पैरों के दोनों ओर शंख पुरुष, चक्र पुरुष त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित हैं। प्रतिमा परिकर युक्त है, जिसमें परिकर के ऊपर मध्य में योग विष्णु एवं उनके दोनों ओर मालाधारी युगल विद्याधर प्रदर्शित हैं। विष्णु के स्कंध के दोनों ओर ब्रह्मा एवं शिव आसनस्थ हैं, किन्तु प्रतिमा भग्न होने के कारण उनके आयुध, अलंकरण आदि अस्पष्ट हैं। विष्णु के दायीं ओर प्रत्याआलीढ मुद्रा में वराह एवं बायीं ओर नृसिंह प्रतिमा प्रदर्शित हैं। विष्णु प्रतिमा के दोनों ओर अंत में नीचे अन्य अनुचरों का अंकन है। **छायाचित्र क्रमांक 02**

स्थानक विष्णु

स्थान : रहली, सूर्य मंदिर

पत्थर : लाल बलुआ पत्थर

माप : 72×32 से.मी.

काल : 11वीं-12वीं शताब्दी ई. (कलचुरिकालीन)

प्रस्तुत चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा सूर्य मंदिर की पूर्वी भित्ति में स्थापित है। दो पार्श्व स्तम्भों के मध्य सम्पाद मुद्रा में प्रदर्शित चतुर्भुजी विष्णु चारों भुजाओं में वामावर्त क्रमशः शंख, चक्र, गदा, धारण किये हैं तथा चौथी भुजा वरद मुद्रा में है। विष्णु किरीटमुकुट, कर्णकुण्डल, ग्रैवेयक, श्रीवत्स, यज्ञोपवीत, वनमाला, हस्तवलय, कटिसूत्र आदि अलंकरणों से अलंकृत हैं। विष्णु के पैरों के दोनों ओर शंख पुरुष तथा चक्र पुरुष प्रदर्शित हैं (दांगी, 2021)। **छायाचित्र क्रमांक 03**



स्थानक विष्णु

स्थान : रहली, सूर्य मंदिर

पत्थर : लाल बलुआ पत्थर

माप : 54×30 से.मी.

काल : 11वीं-12वीं शताब्दी ई. (कलचुरिकालीन)

प्रस्तुत चतुर्भुजी स्थानक विष्णु प्रतिमा सूर्य मंदिर के गर्भगृह में स्थापित सूर्य प्रतिमा के बायीं ओर स्थापित है। सम्पाद मुद्रा में प्रदर्शित चतुर्भुजी विष्णु चारों भुजाओं में क्रमशः गदा, पद्म, चक्र तथा शंख धारण किये हैं। पूर्वोल्लिखित प्रतिमा के सादृश्य विष्णु किरीटमुकुट, कर्णकुण्डल, ग्रैवेयक, यज्ञोपवीत, वनमाला, हस्तवलय, कटिसूत्र, पादवलय आदि अलंकरणों से अलंकृत हैं। विष्णु के पैरों के बायीं ओर अंजलिबद्ध अनुचर (सम्भवतः गरुड़) का अंकन है (दांगी, 2021)। **छायाचित्र क्रमांक 04**



स्थानक विष्णु

स्थान : रहली

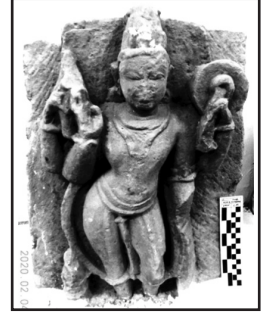
वर्तमान में : हरीसिंह गौर पुरातत्त्व संग्रहालय सागर में प्रदर्शित

पंजीयन सं. : 531

पत्थर : लाल बलुआ पत्थर

माप : (50×40 से.मी.)

काल : 10वीं-11वीं शताब्दी ई. (कलचुरिकालीन)



रहली तहसील से प्राप्त चतुर्भुजी स्थानक विष्णु प्रतिमा वर्तमान में हरीसिंह गौर पुरातत्त्व संग्रहालय, सागर में संग्रहीत है। द्विभंग मुद्रा में स्थानक विष्णु किरीटमुकुट, कर्णकुण्डल, ग्रैवेयक, हारसूत्र, वनमाला, हस्तवलय, कटिसूत्र, अधोवस्त्र आदि अलंकरणों से सुशोभित है। देव दायीं ऊपर की भुजा में गदा धारण किए हैं एवं नीचे की भुजा अभयमुद्रा में है तथा बायीं ऊपर की भुजा में चक्र धारण किए हैं एवं नीचे की भुजा भग्न है। विष्णु के दायीं ओर पैरों के पास एकघट दृष्टव्य है, जिसमें खिलते हुए कमल का अंकन है (बाजपेयी एवं रेंनर, 2012) छायाचित्र क्रमांक 05

स्थानक लक्ष्मी-नारायण

स्थान : रहली, सूर्य मंदिर

पत्थर : लाल बलुआ पत्थर

माप : 43×41 से.मी.

काल : 11वीं-12वीं शताब्दी ई. (कलचुरिकालीन)



प्रस्तुत लक्ष्मी-नारायण प्रतिमा सूर्य मंदिर की दक्षिणी भित्ति पर स्थापित है। दो पार्श्व स्तम्भों के मध्य चतुर्भुजी नारायण एवं द्विभुजी लक्ष्मी त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित हैं। चतुर्भुजी विष्णु (नारायण) के दायीं ऊपर की भुजा में गदा है एवं सामान्य भुजा अभय मुद्रा में है। बायीं ऊपर की भुजा में चक्र एवं नीचे शंख धारण किए हैं। विष्णु किरीटमुकुट, कर्णाभूषण, ग्रैवेयक, यज्ञोपवीत, वनमाला, हस्तवलय, पादवलय, अधोवस्त्र आदि अलंकरणों से सुसज्जित हैं। लक्ष्मी की दायीं भुजा विष्णु के स्कंध पर एवं बायीं भुजा आंशिक भग्न है। लक्ष्मी को भी विविध अलंकरणों से अलंकृत प्रदर्शित किया गया है। लक्ष्मी का बायां चरण नारायण के चरण पर रखा है तथा दायां मुड़ा है। देव के दायीं ओर एक अनुचर का अंकन है (दांगी, 2021)। छायाचित्र क्रमांक 06

स्थानक लक्ष्मी-नारायण

स्थान : रहली, सूर्य मंदिर

पत्थर : लाल बलुआ पत्थर

माप : 72×45 से.मी.

काल : 11वीं-12वीं शताब्दी ई. (कलचुरिकालीन)

प्रस्तुत लक्ष्मी-नारायण प्रतिमा सूर्य मंदिर की उत्तरी भित्ति पर प्रदर्शित है। जिसमें दो पार्श्व स्तम्भों के मध्य चतुर्भुजी नारायण एवं द्विभुजी



लक्ष्मी का अंकन है। नारायण दायीं ऊपर की भुजा में गदा एवं सामान्य भुजा में पद्म धारण किये हैं। बायीं ऊपर की भुजा में चक्र एवं निचली भुजा आलिंगनबद्ध देवी लक्ष्मी के बायें स्कंध पर रखी है। द्विभुजी लक्ष्मी की दायीं भुजा नारायण के स्कन्ध पर रखी है एवं बायीं भुजा में सनाल पद्म धारण किये हैं। देव किरीटमुकुट, कर्णाभूषण, ग्रैवेयक, यज्ञोपवीत, वनमाला, हस्तवलय, बाजूबंध, कटिसूत्र, उरुदाम, अधोवस्त्र आदि अलंकरणों से सुशोभित हैं। विष्णु के वक्ष स्थल पर श्रीवत्स का अंकन है। सुसज्जित केशविन्यास से युक्त लक्ष्मी कर्णकुण्डल, ग्रैवेयक, स्तनसूत्र, हस्तवलय, पादजालक, कटिबंध, अधोवस्त्र आदि अलंकरणों से सुशोभित हैं। दृष्टव्य लक्ष्मी-नारायण बड़े ही आकर्षक ढंग से प्रदर्शित हैं। दोनों पार्श्वस्तम्भों में प्रदर्शित व्यालाकृति दृष्टव्य हैं (दांगी, 2021)। **छायाचित्र क्रमांक 07**

स्थानक लक्ष्मी-नारायण

स्थान : ईश्वरपुर, रहली

वर्तमान में : हरीसिंह गौर पुरातत्त्व संग्रहालय सागर में संग्रहीत

पंजीयन सं.: 550

पत्थर : लाल बलुआ पत्थर

माप : 49×35 से.मी.

काल : 11वीं-12वीं शताब्दी ई. (कलचुरिकालीन)



रहली तहसील से प्राप्त दृष्टव्य लक्ष्मी-नारायण प्रतिमा वर्तमान में हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर के पुरातत्त्व संग्रहालय, में संग्रहीत है। चतुर्भुजी नारायण एवं द्विभुजी लक्ष्मी त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित है। चतुर्भुजी विष्णु (नारायण) के दायीं ऊपर की भुजा में गदा है एवं निचली भुजा कट्याबलम्बित है। बायीं ऊपर की भुजा में चक्र धारण है एवं निचली भुजा में शंख धारण किये हैं, जो लक्ष्मी के कटिभाग पर दृष्टव्य है। द्विभुजी देवी लक्ष्मी की दायीं भुजा नारायण के स्कन्ध पर रखी है एवं बायीं भुजा में सनाल कमल धारण किये हैं। देव किरीटमुकुट, कर्णाभूषण, ग्रैवेयक, हारसूत्र, यज्ञोपवीत, वनमाला, भुजाओं में केयूर, हस्तवलय, कटिसूत्र, उरुदाम, मुक्तदाम, अधोवस्त्र आदि अलंकरणों से अलंकृत हैं। विष्णु के वक्ष स्थल पर श्रीवत्स का अंकन है। अलंकृत केशविन्यास से सुसज्जित देवी लक्ष्मी कर्णकुण्डल, ग्रैवेयक, स्तनसूत्र, हस्तवलय, बाजूबंध, उदरबंध, कटिसूत्र, मुक्तदाम, आदि से सुशोभित हैं। लक्ष्मी का बायां पैर नारायण के पैर पर रखा है तथा दायां पैर मुड़ा है। पार्श्व में नीचे की ओर नारायण के दायीं ओर अंजलिबद्ध अनुचर प्रदर्शित है। परिकर में ऊपर की ओर मालाधारी विद्याधर प्रदर्शित हैं। **छायाचित्र क्रमांक 08**

निष्कर्ष -

सर्वेक्षण में दृष्टव्य प्रतिमाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि चंदेल एवं कलचुरि शासकों द्वारा निर्मित कराई गई प्रतिमाओं में क्षेत्रीय शैली का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। रमानाथ मिश्र एवं शिवाकांत द्विवेदी के अनुसार कलचुरि शासकों का काल स्थापत्य एवं मूर्तिकला की दृष्टि से विविधतापूर्ण और क्षेत्रीय विशेषताओं से परिपूर्ण था। जिसमें मूर्तिशिल्प की दृष्टि से शारीरिक सौष्टव,

मुख गोल, तीक्ष्ण नेत्र, चतुष्कोण, उल्फुल्लित, प्रभावपूर्ण आभूषण युक्त केश—सज्जा, आदि प्रमुख विशेषताएँ देखने को मिलती हैं।

रहली नगर के सर्वेक्षण में दृष्टिगत वैष्णव धर्म से संबंधित प्राचीन स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प संबंधी पुरावशेषों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस सम्पूर्ण क्षेत्र पर वैष्णव धर्म का प्रभाव लम्बे समय तक रहा है। विष्णु एवं विष्णु के दशावतार संबंधी प्रतिमाओं के प्रमाण संकेत करते हैं कि इस क्षेत्र में वैष्णव धर्म के फलीभूत होने में कलचुरि एवं चन्देल शासकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही जिसमें कलचुरियों के प्रमुख योगदान होने के संकेत प्राप्त होते हैं। यह क्षेत्र डाहल मण्डल क्षेत्र के अंतर्गत आता था। जिस कारण यहाँ की स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प पर डाहल शैली का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इसके साथ ही यहाँ के स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प पर स्थानीय सांस्कृतिक, धार्मिक सामाजिक आदि विशेषताओं का प्रभाव इस क्षेत्र में वृहद् रूप में वैष्णव धर्म से संबंधित स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प पर पड़ा। यहाँ पर शासन करने वाले शासकों ने राजनीतिक उपलब्धियों के साथ—साथ धार्मिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किये। इसी क्रम में भव्य मंदिरों का निर्माण करवाया जिसकी पुष्टि मंदिरों के ध्वंशावशेषों से होती है।

उल्लेखनीय है कि रहली नगर मुख्यतः सूर्य आराधना के लिये प्रसिद्ध है जिसका कारण है यहाँ स्थित सूर्य मंदिर एवं मंदिर में स्थित सूर्य प्रतिमा। किन्तु सूर्य मंदिर की भित्तियों पर वैष्णव धर्म से संबंधित अनेक प्रतिमाएँ एवं विष्णु प्रमुख सिरदल प्रदर्शित हैं साथ ही रहली नगर के मध्य स्थित एक देवी मंदिर में प्रदर्शित विष्णु प्रतिमा एवं विष्णु मंदिर से संबंधित अनेक प्रमाण दृष्टिगत है। वैष्णव धर्म से संबंधित इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि रहली में भव्य विष्णु मंदिर रहा होगा जिसके ध्वंशावशेष यत्र—तत्र विखरे पड़े हैं। अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि रहली क्षेत्र सौर धर्म के साथ—साथ वैष्णव धर्म का केन्द्र भी रहा होगा। पुरातत्व विभाग के द्वारा रहली में विस्तृत सर्वेक्षण एवं उत्खनन के माध्यम से इस बात की पुष्टि की जा सकती है। पुरातात्विक महत्व के साथ—साथ यह क्षेत्र पर्यटन की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि यह स्थल सुनार एवं देहार नदियों के संगम पर स्थित है जो मनोरम दृश्य प्रदर्शित करती हैं। अतः पर्यटन विभाग रहली को पर्यटक स्थल के रूप में विकसित कर सकता है। इसके साथ ही यहां से प्राप्त पुरावशेषों के अध्ययन से तात्कालीन समय में सुन्दर प्रतिमाओं एवं भव्य मंदिरों को निर्मित करने उपयोगी तकनीक के विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है जो वर्तमान समय में अध्ययन—अध्यापन एवं शोध में सहायक सिद्ध होगा साथ ही प्राचीन भारतीय उक्त ज्ञान वर्तमान समाज को भी लाभकारी होगी।

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
 अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)
 Email. govindsgophd@gmail.com

सन्दर्भ:

1. शर्मा, पं. जयदेव, 1934, ऋग्वेद (संहिता, भाष्यकार) आर्य साहित्य मण्डल लिमि., अजमेर.
2. सिंह, भगवान, 1982, गुप्त कालीन हिन्दू देव-प्रतिमाएँ, रामानंद विद्या भवन, नई दिल्ली, पृ. 26
3. सिंह, किरण, 2013, विष्णु प्रतिमाएँ, स्वाति पब्लिकेशन्स दिल्ली, पृ. 01
4. आयुक्त, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय, मध्यप्रदेश, भोपाल, 1991, वैष्णव प्रतिमाएँ एवं कलाकृतियाँ (मूर्तिकला भाग-5), पृ. 09
5. आचार्य, श्रीराम शर्मा, 1967, विष्णुपुराण, (भाग-1), संस्कृति संस्थान बरेली, (उ.प्र.), पृ. 233-35
6. आचार्य श्रीराम शर्मा, 1967, वायुपुराण, (भाग-1), संस्कृति संस्थान, बरेली, (उ.प्र.), पृ. 440
7. आचार्य श्रीराम शर्मा, 1968, अग्निपुराण, (भाग-2), संस्कृति संस्थान, बरेली, (उ.प्र.), पृ. 228
8. आचार्य श्रीराम शर्मा, 1970, मत्स्यपुराण, (भाग-2), संस्कृति संस्थान, बरेली, (उ.प्र.), पृ. 50
9. उपाध्याय, वासुदेव, 1982, प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. 65
10. गोयल, श्रीराम, 1982, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह (खण्ड-1), राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ. 175
11. वही, पृ. 156
12. गुप्त, परमेश्वरी लाल, 2002, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, (भाग-1), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 198
13. वृहत्संहिता, 2018, खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई, पृ. 213
14. सिंह, किरण, पूर्वोल्लिखित, पृ. 27
15. अग्निपुराण, पूर्वोल्लिखित, पृ. 228
16. वराह महापुराण, शास्त्री काशीराम चतुर्वेदी, प्रेस पुस्तकालय, मथुरा, (उ.प्र.), पृ. 109
17. मत्स्यपुराण, पूर्वोल्लिखित, पृ. 50
18. आचार्य श्रीराम शर्मा, 1970, स्कन्दपुराण, (भाग-2), संस्कृति संस्थान, बरेली, (उ.प्र.), पृ. 232-233
19. कुमार, पुष्पेन्द्र, 1998, समरांगणसूत्रधार (वाल्मीक-2) न्यू भारतीय बुक, कारपोरेशन, दिल्ली, पृ. 605
20. श्रीवास्तव, बलराम, 1996, रूपमण्डन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 132
21. झा, विवेकदत्त, 1989, बस्तर का मूर्तिशिल्प, अभ्युदय प्रकाशन, भोपाल (म.प्र.) पृ. 60
22. उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वोल्लिखित, पृ. 68
23. दुबे, नागेश, 1997, एरण की कला, सुप्रिया पब्लिकेशन्स, सागर, (म. प्र.), पृ. 96
24. तिवारी मारुतिनन्दन, कमलगिरि, 1991, मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 111
25. दांगी, गोविन्द सिंह, 2021, सागर जिले की रहली एवं देवरी तहसील का प्राचीन स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प : एक अध्ययन (प्रारम्भ से 1200 ईस्वी तक), अप्रकाशित लघु शोध प्रबंध, पृ. 60-61
26. वही पृ. 74
27. वही पृ. 75
28. बाजपेयी, एस. के., सुजैना रेंनर, 2012, केटेलॉग ऑफ दी कलेक्सन ऑफ दी हरीसिंह गौर आर्किऑलाजीकल म्यूजियम ऑफ सागर यूनीवरसिटी, नार्दन बुक सेंटर, न्यू दिल्ली, पृ. 147
29. दांगी, गोविन्द सिंह, पूर्वोल्लिखित, पृ. 88
30. वही, पृ. 89

महायानी साधना पद्धति के प्रमुख तत्त्व

मुकेश कुमार सिंह¹, राघवेन्द्र प्रताप सिंह²

सारांश :

महायान बौद्ध धर्म का प्रगतिशील और परवर्ती स्वरूप है। महात्मा बुद्ध के विचारों पर आधारित बौद्ध संघ समय के साथ अपने स्वरूप में अनेक नये तत्वों को समन्वित करता रहा यह संप्रदाय बुद्ध के लोककल्याण के कार्यों को अपना मूल उद्देश्य मानता है। इसे लोककल्याण का लक्ष्य इतना आकर्षित करता है कि इसे व्यक्तिगत मोक्ष का भाव भी अत्यन्त तुच्छ लगता है। उनकी व्यक्तिगत साधना एवं आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया उनके लोककल्याण के मार्ग से ही पूर्ण होती है। अन्य सभी धार्मिक संप्रदायों एवं साधना पद्धतियों में लोककल्याण उनकी साधना पद्धति का एक अंग होता है जबकि महायान में लोककल्याण का संकल्प उनकी साधना पद्धति का प्रधान उद्देश्य होता है। इस प्रधान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु महायानी साधक अनेक प्रकार के अभ्यासों एवं संकल्पों का पालन करते हैं। महायान साधना पद्धति के प्रमुख अंगों में बोधिसत्वचर्या, बोधिवित्तोपाद, महाकरुणा का अनुभव, पारमिताओं का अनुपालन, दस भूमियों का ज्ञान आदि महत्वपूर्ण हैं। बोधिसत्व उपर्युक्त वर्णित अंगों का ज्ञान अर्जित करके एवं उनके अनुपालन द्वारा लोककल्याण का अपना लक्ष्य पूर्ण करता रहता है; इसके साथ ही इस प्रक्रिया द्वारा उसके स्वयं का भी आध्यात्मिक विकास अर्थात् बुद्धत्व के मार्ग भी प्रशस्त होता रहता है।

बीज शब्द : बोधिसत्व, करुणा, पारमिता, मोक्ष, दशभूमि

प्राचीन विश्व में जिन धर्मों का विकास हुआ, उनमें बौद्ध धर्म अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस धर्म के प्रवर्तक, महात्मा बुद्ध के विचार बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय से प्रेरित थे। लोककल्याण से प्रेरित उनके जीवन-चरित और शिक्षाओं ने विश्व की जनता को बहुत प्रभावित किया। उन्होंने बुद्ध को महापुरुष, भगवान तथागत आदि विशेषणों से अलंकृत किया। महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में ही बौद्ध धर्म एक संगठित धर्म का स्वरूप ग्रहण करने लगा था। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध धर्म का विकास एवं प्रसार निरंतर चलता रहा। इसके साथ ही यह अनेक संप्रदायों में विभक्त हो गया। ये संप्रदाय बुद्ध के विचारों को आधार बनाकर अपना विकास एवं प्रसार करते रहे।

महायान का विकास बौद्ध धर्म के भीतर से संप्रदायों के विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया, धर्म के मूल आवश्यकताओं के संदर्भगत आवश्यकता एवं युगीन परिस्थितियों के प्रभाव के मिश्रित संक्रिया का परिणाम है। द्वितीय बौद्ध संगीति से बौद्ध धर्म के अंतर्गत सांप्रदायिक विभाजन का क्रम आरंभ हो गया। इन संप्रदायों में महासांघिक समूह के अनुयायियों ने बुद्ध एवं बोधिसत्व को

लोकोत्तर मानने की प्रथा को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाया। महासांघिकों का यह प्रयास उस स्थविरवादी या हीनयानी मान्यता के विपरीत था जिसमें बुद्ध को महामानव माना जाता था। महासांघिक बीज से उत्पन्न महायानी निकायों ने हीनयानी आदर्श 'अर्हत' को निम्नतर मानते हुए 'बोधिसत्त्व' और 'महाकरुणा' जैसी अवधारणा को अपने साहित्य में केन्द्रीय स्थान दिया। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि संसार के लोकप्रिय धर्मों में एक केन्द्रीय अलौकिक सत्ता या ईश्वर सदृश तत्त्व की नितांत आवश्यकता होती है। शुद्धतावाद एवं कठोर अनुशासन के परिधि में रहकर स्थविरवादी, धर्म के मूल तत्त्व का मर्म समझने में असफल रहे थे। महायानी सूत्रों में अलौकिक बुद्ध एवं बोधिसत्त्व देव समूह को केन्द्रीय स्थान दिया गया। इसके साथ ही महायानी उद्भव काल की परिस्थितियों में भारत के अन्य धार्मिक समूह अलौकिक देवसमूह एवं भक्ति आंदोलन की तरफ तेजी से उन्मुख हो रहे थे। इन सब ने महायान को अनुशासनप्रिय एवं शुद्धतावादी स्थविर समूहों की तुलना में एक लोकप्रिय बौद्ध मत के रूप में विकसित करने में मदद की।

आगे चलकर महायान संप्रदाय बौद्ध अनुयायियों का एक बड़ा समूह बन गया। इसके अनेक उपसंप्रदाय भी थे। ये संप्रदाय बुद्ध के लोककल्याण के कार्यों को अपना मूल उद्देश्य मानता थे। इन्हें लोककल्याण का लक्ष्य इतना आकर्षित करता है कि इसे व्यक्तिगत मोक्ष का भाव अत्यन्त तुच्छ लगता है। उनकी व्यक्तिगत साधना एवं आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया उनके लोककल्याण के मार्ग में ही पूर्ण होती है। महायानियों का लोककल्याण एवं सर्वप्राणी मुक्ति की संकल्पना धार्मिक साधना के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी देन मानी जा सकती है, क्योंकि इस संप्रदाय में साधक अन्य प्राणियों का कल्याण छोड़कर कुछ सोचते ही नहीं है। अन्य सभी धार्मिक संप्रदायों एवं साधना पद्धतियों में लोककल्याण उनकी साधना पद्धति का एक अंग होता है जबकि महायान में लोककल्याण का संकल्प उनकी साधना पद्धति प्रधान उद्देश्य होता है। इस प्रधान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु महायानी अनेक प्रकार के अभ्यासों एवं संकल्पों का पालन करते हैं। महायान साधना पद्धति के प्रमुख अंगों में बोधिसत्त्वचर्या, बोधिचित्तोपाद, महान करुणा का अनुभव, पारमिताओं का अनुपालन, दस भूमियों का ज्ञान आदि महत्वपूर्ण हैं। बोधिसत्त्व उपर्युक्त वर्णित अंगों का ज्ञान अर्जित करके एवं उनके अनुपालन द्वारा लोककल्याण का अपना लक्ष्य पूर्ण करता रहता है। इसके साथ ही इस प्रक्रिया द्वारा उसके स्वयं का भी आध्यात्मिक विकास चलता रहता है।

महायान बौद्ध धर्म में 'बुद्धत्व' का बीज सभी प्राणियों में विद्यमान माना जाता है। बुद्ध की देशनायें उसी को व्याकृत करने का हेतु है। पारमिताओं की साधना का जो उपदेश बुद्ध ने दिया, वह पात्रता की प्राप्ति का कौशल मात्र है। वह जो पारमिताओं का अभ्यास करता है, अपनी साधका अवस्था में बोधिसत्त्व और सिद्धावस्था में बुद्ध कहलाता है। यद्यपि सिद्धावस्था को प्राप्त करने के कुछ समय पूर्व ही बोधिसत्त्व में अपार करुणा का उदय होता है और इस कारण वह प्राणीहित में महाकरुणा के सम्पादन का व्रत लेकर संसार में ही बने रहने का लक्ष्य बनाकर बुद्धत्व का पद लोकहित में त्याग करता है। उसका संकल्प होता है कि— मेहनत कर मेरे अकेले तर जाने से क्या ? सर्वज्ञता प्राप्त कर देवताओं के सहित इस लोक को तारूंगा।

किं मे एकेन तिण्णेन, पुरिसेन थामदस्सिना।

सब्बज्जतं पापुणित्वा, संतारेस्सं सदेवकं।। बुद्धवंश (2/56)

महायान साधना पद्धति में बोधिसत्त्व के आदर्श का अनुपालान सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। बोधिसत्त्व की संकल्पना एक ऐसे आदर्श के रूप में महायान में स्वीकृत हुआ, जहाँ वह अनेक जन्मों तक बिना किसी आशा व इच्छा के अपना सर्वस्व त्याग करते हुए सभी प्राणियों के कल्याणार्थ लगा रहता है। बोधिसत्त्व का जीवन, उसकी सम्पूर्ण साधना एवं उसका लक्ष्य प्राणिमात्र की सेवा है। बोधिसत्त्व की संकल्पना की उत्पत्ति की प्रेरणा बुद्ध के जीवन से ही माना जाता है (उपाध्याय, 1954, पृ. 587–588)। महात्मा बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त करने के बाद लोक के अन्य प्राणियों की मंगल कामना हेतु अपने द्वारा अनुभूत ज्ञान के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। आगे चलकर उनके अनुयायियों ने बुद्ध के जीवन से प्रेरणा लेकर बोधिसत्त्व जैसी महान संकल्पना को विकसित कर डाला। यह धर्म दो हजार पाँच सौ वर्षों से ज्यादा समय से समस्त संसार में सर्व प्राणी हित के क्षेत्र में लगे मानवों को प्रेरित करता रहा है।

‘बोधिसत्त्व’ की संकल्पना के प्रारम्भिक लक्षणों पर विचार करते हुए विद्वानों का मानना है कि मूल विनयपिटक में विनय के अन्य नियमों के साथ ही बुद्ध की एक प्राचीन जीवनकथा भी संग्रहित थी, जो उनके बोधिसत्त्व काल का विवरण प्रस्तुत करती थी। महासांघिकों के साथ विरोध होने पर स्थविरवादियों ने इस जीवनी के कुछ भागों को संक्षिप्त कर दिया। दूसरी ओर, महासांघिकों ने बुद्ध के जीवन चरित की परंपरा को ज्यादा महत्व दिया। स्थविरवादी बुद्ध एवं बोधिसत्त्व को महापुरुष मानते थे, जिनके उपदेशों का अनुसरण अर्हत् पद के मार्ग को प्रशस्त करता था। महासांघिकों ने बुद्ध को लोकोत्तर माना तथा बोधिसत्त्व की भी अलौकिकता स्थापित की (पाण्डेय, 2015, पृ. 253–258)।

महासांघिकों के पश्चात् महायानियों ने आगे चलकर बोधिसत्त्व सिद्धान्त को अत्यन्त व्यापक रूप दे दिया। गौतम बुद्ध के जीवन को केंद्र में रखकर अनेक बुद्धों एवं बोधिसत्त्वों के माध्यम से सर्वप्राणीहित की एक व्यापक संकल्पना महायान संप्रदाय की मुख्य प्रेरणास्त्रोत बनी। बोधिसत्त्व महान करुणा एवं लोककल्याण के भाव से प्रेरित होकर सभी प्राणियों को दुःख से पूर्णतया मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर करना चाहता है (शांतिदेव, 1955, 1/31)। महायान की साधना पद्धति परम्परागत धर्मों से भिन्न है। इसमें विशेष कर्मकाण्ड या पूजा पद्धति की जगह लोककल्याण के विविध साधनों को अपनाने पर बल दिया गया है तथा दूसरों को कल्याण मार्ग या मुक्ति मार्ग पर अग्रसर करते हुए ही स्वयं के आध्यात्मिक विकास की संकल्पना को प्रस्तावित किया गया है। बोधिसत्त्व का महान गुण है— मैत्री और करुणा। पिपीलिका से लेकर हस्तिपर्यन्त विश्व के सभी जीवों में जब तक एक भी प्राणी दुःख का अनुभव करता है, तब तक बोधिसत्त्व अपनी मुक्ति की कामना नहीं करता है (हर दयाल, 1970, पृ. 1–30)। प्राणिमात्र के लिए बुद्धत्व के महान लक्ष्य को भी त्याग करने का भाव सर्वप्रथम उद्घोषित करने का श्रेय बौद्ध धर्म की महायान शाखा को जाता है। सम्भवतः इसीलिए महायान को बोधिसत्त्वयान भी कहा गया है।

बोधिसत्त्वचर्या को विकसित करने में करुणा की साधना का महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक प्रकार से साधना न होकर मानव मात्र के भीतर की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिसे केवल प्रकाशित करना मात्र है। यह गुण सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति हेतु अनिवार्य है। करुणा के कारण ही बोधिसत्त्व को बुद्ध बनने की इच्छा जाग्रत होती है। इस गुण के प्रादुर्भाव या प्रकाशित होने के बाद मनुष्य लोककल्याण में पूर्णतया संलग्न हो जाता है (सुजुकी, 2007, पृ. 222–224)। वह दूसरों के सुख एवं कल्याण के लिए निरंतर चिंतन करने लगता है। उसे अपने मोक्ष का चिन्तन करना हीन कार्य प्रतीत होने लगता है। उसे दूसरे प्राणियों को कष्ट एवं दुःख से मुक्त करने में असीम आनन्द की अनुभूति होती है। एक प्रकार से वह अपने मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर हो जाता है। समस्त प्राणियों को दुःख से मुक्त कराने हेतु वह आत्मभाव और अपने पुण्यों का उत्सर्ग कर देता है। बोधिसत्त्व की प्रबल इच्छा होती है कि उसके समस्त पुण्यों का उपयोग समस्त प्राणियों के पापों के निर्मोचन में लग जाए और वह स्वयं जगत के समस्त दुःखों को भोगे। बोधिसत्त्व की यह अभिलाषा होती है कि जगत का कोई भी प्राणी दुःखी न हो, पापी न रहे, रोगी न रहे, हीन न हो, तिरस्कृत न हो और न ही दुःख चित्त हो। करुणा की इस आदर्श भावना के कारण ही बोधिसत्त्व अनासक्ति भाव से अपने शरीर को जगत के हित के लिए समर्पित कर देता है (उपाध्याय, 1954, पृ. 610–622)।

महायान विचारधारा में करुणा को सम्यक् सम्बोधि का प्रमुख तत्त्व माना गया है। करुणा से संचालित होकर ही बोधिसत्त्व सभी सत्त्वों का दुःख से उद्धार करने हेतु अत्यन्त श्रम साध्य एवं दीर्घकाल तक चलने वाली संभार संचय की प्रक्रिया में संलग्न हो जाता है। करुणा के द्वारा ही बोधिसत्त्व में सभी प्राणियों के प्रति राग-द्वेष से मुक्त होकर समचित्ता का भाव निष्पन्न होता है। इस भाव के निष्पन्न होने के बाद मित्रपक्ष एवं शत्रुपक्ष, दोनों के प्रति समान रूप से करुणा जाग्रत होती है। महायानियों का मानना है कि शत्रु पक्ष का होना हमारे व्यक्तित्व में पूर्णता प्रदान करता है, क्योंकि दुःखों को सहन करने से हमारे अन्दर सहनशीलता, परिश्रम, निष्पक्षता आदि गुणों का विकास होता है (सुजुकी, 2007, पृ. 277–284)। अतः शत्रुओं के प्रति भी हमें मैत्रीचित्त एवं करुणा की भावना रखनी चाहिए।

करुणा की भावना जाग्रत होने के बाद बोधिसत्त्व पथ पर अग्रसर व्यक्ति में सर्वप्राणीहित में संलग्न होने का भाव प्रस्फुटित होता है। इस प्रकार के भाव महायान विचारधारा में 'बोधिचित्तोपाद', 'बोधिप्रणिधिचित्त' या 'संवृत्ति बोधिचित्त' कहते हैं। बौद्ध धर्म और विशेष रूप से महायान में, 'बोधिचित्त' वह चित्त अथवा मन है जो सभी प्राणियों के हित के लिए मोक्ष, सहानुभूति, करुणा, और ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है। बोधिचित्त को 'जाग्रत मन' अथवा 'ज्ञानोदित मन' के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है। बोधिसत्त्व मार्ग का प्राणी अवश्य ही बोधिचित्त से युक्त होता है। उनका हृदय पूरी तरह दूसरों के प्रति करुणा, कल्याण, एवं उन्हें सतमार्ग पर प्रेरित करने जैसी भावनाओं से युक्त होता है। यह महायान का प्रवेशद्वार है। बोधिचित्त के उत्पन्न होने पर ही प्राणी बोधिसत्त्वयान पर आरुढ़ होता है। 'संवृत्ति बोधिचित्त' का उत्पाद होने के पश्चात् बोधिसत्त्व पथगामी संभारों के संचय में प्रवृत्त होता है। इसे 'बोधिप्रस्थानचित्त' या 'परमार्थ

बोधिचित्त' की अवस्था कही जाती है। ये दोनों बोधिचित्त महायान के उत्कृष्ट मार्ग माने जाते हैं। बोधिचित्त उत्पाद हेतु महायान में विविध प्रकार के क्रियाओं एवं साधनाओं को स्वीकार किया जाता है। बोधिचर्यावतार में इसके उत्पाद हेतु वन्दना, पूजन, पाप देशना, पुण्यानुमोदन, बुद्धाध्येष्णा, याचना और बोधिपरिमणना का सेवन आवश्यक माना गया है। पारमिता का अभ्यास भी बोधिचित्त के विकास में सहायक होता है (सुजुकी, 2007, पृ.224-236)।

महायान की साधना पद्धति की दृष्टि से देखें तो बोधिचित्तोपाद के विकास में पूर्व बुद्धों की, निर्मल सद्धर्म रत्न की एवं गुणसागर बुद्धपुत्रों की पूजा आवश्यक है। यह पूजा मनोमय पूजा है। इसके साथ ही वह अपने सभी पापों की घोषणा एवं उससे दूर रहने का भी संकल्प लेता है। इसे पापदेशना कहा जाता है। पापदेशना के पश्चात् सभी प्राणियों के सांसारिक शुभकर्मों का अनुमोदन करना होता है। बोधिसत्त्व सभी प्राणियों के सर्वदुःख विनिमोक्ष का अनुमोदन करता है। इसे पुण्यानुमोदन कहते हैं। इसके साथ ही बोधिसत्त्व करबद्ध होकर सभी दिशाओं में अवस्थित बुद्धों से प्रार्थना करता है कि अज्ञान से बद्ध जीवों के उद्धार हेतु भगवान बुद्ध धर्म का उपदेश करें। इसे बुद्धाध्येष्णा कहा जाता है। इसके पश्चात् वह पूर्णता प्राप्त कर चुके बोधिसत्त्वों से याचना करता है कि वे सभी परिनिर्वाण में प्रवेश न करें। ताकि उनके द्वारा भी लोक हित होता रहे और अन्य जीवों को प्रेरणा मिलती रहे। यह बुद्धयाचना है। अन्त में साधक प्रार्थना करता है कि उक्त क्रम में अनुत्तर पूजा करने से जो भी पुण्य मुझे प्राप्त हुआ है, उसके द्वारा मैं समस्त प्राणियों के सभी प्रकार के दुःखों को समाप्त करने में समर्थ होऊँ और उन्हें सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कराऊँ। यह संकल्प बोधिपरिमाणना के अन्तर्गत आता है (नरेन्द्रदेव, 1956 पृ. 179-188)।

बोधिचित्त ग्रहण करने के पश्चात् पारमिताओं का पालन करना बोधिसत्त्वयान का सत्मार्ग है। पारमिताओं के अभ्यास से ही बोधिसत्त्व समस्त प्राणी जगत को कल्याण मार्ग पर अग्रसर करने एवं उनकी मदद करने में समर्थ होता है। पारमिता की धारणा का प्रारम्भिक विकास हीनयान में हुआ, जिसे महायानियों ने अपने सिद्धान्तों एवं मार्ग के अनुकूल परिवर्तित कर दिया। पारमिताओं की संख्या को लेकर बौद्ध परंपरा में मतभिन्नता की स्थिति रही है। बुद्धवंश में दान, शील, नैष्काम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षांति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा नामक दस पारमिताओं का उल्लेख मिलता है। असंग ने महायान सूत्रालंकार (16/7 एवं 13) में पारमिताओं की संख्या छः मानी है। इन छः पारमिताओं में ही दसों का अंतर्भाव हो जाता है। ये हैं—दान, शील (नैष्काम्य और सत्य सहित), क्षांति, वीर्य (अधिष्ठान सहित), ध्यान (मैत्री और उपेक्षा सहित) और प्रज्ञा पारमिता। महायान में कहीं—कहीं उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञान नामक चार अतिरिक्त पारमिताओं का उल्लेख हुआ है। परंतु इन चारों का भी छः पारमिताओं के अंतर्गत वीर्य (उपाय, प्रणिधान, बल) और प्रज्ञा (ज्ञान) में अंतर्भाव हो जाता है (शर्मा, प्रज्ञा, वा. 20, न.-1, 2022, पृ. 44-46)। महायानी मान्यता के अनुसार छः पारमिताओं में दान, शील, क्षांति, वीर्य और ध्यान 'करुणा', सद्गुण के विकास में सहायक होती है जबकि छठी पारमिता 'प्रज्ञा' व ज्ञान के प्राप्ति का आधार बनती है। असंग ने इन छः पारमिताओं पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि दान पारमिता दारिद्र्य दूर करती है। शील पारमिता सांसारिक विषयों से होने वाली क्लेशरूपी अग्नि को ठंडा करती है। क्षांति पारमिता से क्रोध का शमन होता है। वीर्य पारमिता कुशल धर्मों से

जोड़ती है। ध्यान पारमिता मन को धारण करती है। प्रज्ञा पारमिता से परमार्थ का ज्ञान प्रकाशित हो उठता है।

महायान धर्म मीमांसा की अनुसार करुणा और प्रज्ञा के संयोग से ही बुद्धत्व की प्राप्ति सम्भव है। एक अन्य व्याख्या के अनुसार षट् पारमिताओं में से प्रथम पाँच पारमिताएँ अर्थात् दान, शील, क्षांति, वीर्य एवं ध्यान, पुण्य संभार तथा प्रज्ञा पारमिता ज्ञान संभार का हेतु बनती है। पुण्य संभार द्वारा अकुशल कर्मों का निर्वाण एवं कुशल कर्मों का संपादन होता है। इसके द्वारा सत्त्वों का सांसारिक अभ्युदय होता है। ज्ञान संभार अज्ञान के आवरण को हटाने से सहायक होता है। इसके द्वारा यथार्थता और अयथार्थता, कुशल एवं अकुशल के भेद का ज्ञान होता है। बोधिसत्त्वयान के यात्री को इन सब साधनों के माध्यम से सत्तमार्ग पर दृढ़ होकर चलने की प्रेरणा मिलती रहती है (नरेन्द्रदेव, 1956 पृ.179–188), (उपाध्याय, 1999, पृ. 110–116) (शास्त्री, पृ.30–36)।

षट् पारमिताओं में प्रथम पारमिता दान का अप्रतिम महत्त्व है। दान पारमिता मनुष्य के स्वाभाविक सद्गुण का ही परिष्कृत रूप है। महायानी धर्मसाधना में मनुष्य के दानरूपी स्वाभाविक सद्गुण को ही अन्य तत्त्वों के समावेश द्वारा धार्मिक साधना के एक प्रमुख अंग के रूप में विकसित कर दिया गया है। दान पारमिता की मूल भावना यह रहती है कि सभी जीवों के लिए सभी वस्तुओं का दान कर देना एवं दानफल की इच्छा न रखना। दान के अनन्तर यदि फल की आकांक्षा बनी रहती है, तो वह कर्म बंधन कारक होता है। अतः दान का वास्तविक रूप दान फल के परित्याग से प्रकाशित होता है। इस पारमिता का साधक किसी भी वस्तु के साथ लगाव नहीं रखता है। वह सभी जीवों को पुत्रवत् समझता है। सर्वस्व दान करने की भावना से ममत्व का अभाव पैदा होता है। ममत्व के अभाव से दुःख का अभाव एवं निर्वाण मार्ग के मार्ग की मात्रा सरल हो जाती है। बोधिसत्त्व द्वारा पारमिताओं का अभ्यास प्राणियों की सद्वृत्ति को स्थायी बनाने के लिए किया जाता है। दान पारमिता का अभ्यास करते हुए बोधिसत्त्व के पास जो कुछ होता है, वह उसके उत्सर्ग हेतु तत्पर रहता है। नारायण परिपृच्छा में उल्लिखित है कि जिस प्रकार औषधीय वृक्ष से कोई जड़ ले जाता है, कोई पत्तियाँ, कोई पुष्प और कोई फल ले जाता है, लेकिन औषधीय वृक्ष इस बात का ख्याल नहीं करता कि लोग मेरा कौन सा अंग ले जा रहे हैं (शिक्षासमुच्चय 21)। इसी प्रकार बोधिसत्त्व को चाहिए कि अपने को औषधीय वृक्ष समझे और लोग उसका जो भी उपयोग करो, उन्हें करने दे। दान पारमिता का एक उद्देश्य प्राणियों की दरिद्रता दूर करना भी है। लेकिन यह उस प्रकार का दान नहीं है जिसमें लोग अपने धन का कुछ हिस्सा दान देकर दानवीर होने का भाव रखते हैं। शान्तिदेव ने दान पारमिता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सब प्राणियों के फल सहित सर्वस्व त्याग करने वाले चित्त से दान पारमिता की पूर्णता कही गयी है, इस तरह वह चित्त ही है (शान्तिदेव, 1955, पृ.1–6)। यदि चित्त का भाव इस प्रकार हो जाए तो इस समस्त संसार का स्वरूप एक ऐसे परिवार की तरह हो सकता है जिसमें किसी के पास कुछ नहीं है और सबके पास सब कुछ है। बोधिसत्त्वयान या महायान वस्तुतः इसी प्रकार का भाव समस्त मानव जगत में प्रसारित करना चाहता है।

शान्तिदेव दान के विविध पक्षों को स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं कि सदा प्रसन्नता से, आसक्ति आदि प्रतिपक्ष से रहित बुद्ध, बोधिसत्त्वों, गुरु, आचार्य आदि गुण क्षेत्र से, माता–पिता

आदि उपकार क्षेत्र से तथा दीन-दुखियों के लिए दिये गये दान आदि कर्मों से महापुण्य प्राप्त होता है (शांतिदेव, 1955, पृ.16-20)। सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र में भगवान बुद्ध सम्पूर्ण बोधिसत्त्वों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि मैंने श्रेष्ठ सम्यक संबोधि के लिए व्रत लिया था। मेरा चित्त भी चंचल नहीं हुआ, मैंने प्रभूत दान देकर छः पारमिताओं को पूर्ण रूप से प्राप्त करने का उद्योग किया। मैंने अपने शरीर तक का परित्याग किया एवं अपने हाथ-पैर, मस्तक, प्रत्येक अंग और प्राणों को भी बुद्धत्व प्राप्ति के दान में दे दिया है (दास, 1966, पृ.260.)। महायानियों ने पुण्य दान को दान पारमिता का श्रेष्ठ अंग माना है। पुण्य कुशल कर्मों का प्रतिफल हैं एवं इसके साथ ही पूर्व जन्मों में किए गए उत्तम कार्यों की शक्ति का फल है। प्रत्येक कुशल कर्म से एक निश्चित परिमाण में पुण्य का अर्जन होता है। पुण्य कर्मों के फल से मनुष्य तभी तक लाभान्वित हो सकता है जब तक शुभ कार्यों में संलग्न होता है। यह भावना मनुष्य में परिणामना (पुण्य दान) का भाव पैदा करती है और इसे बनाए रखती है। शान्तिदेव ने परिणामना को प्रज्ञापारमिता के समान माना है जो बोधिसत्त्व के जीवन का परम लक्ष्य है। मनुष्य को अपना सम्पूर्ण जीवन पुण्य अर्जन में लगाना चाहिए (शांतिदेव, 1955, पृ.136-138)। इस प्रकार स्पष्ट है कि पारमिता साधना में दान पारमिता को केंद्रीय स्थान प्राप्त है। इसका मुख्य कारण यह हो सकता है कि दान पारमिता, महायान या बोधिसत्त्वयान के मूल भावों से अत्यन्त निकट है।

पारमिता साधना का दूसरा अंग शील पारमिता है। शील पारमिता का अभ्यास करते हुए बोधिसत्त्व से काय और वाक् संयम की अपेक्षा की जाती है। काय संयम के लिए प्राणी हिंसा, चोरी, व्यभिचार, सुरापान इत्यादि से विरति आवश्यक है। वाक् संयम के अंतर्गत पालि साहित्य में मिथ्याभाषण, चुगली, कटुवचन, बकवास आदि से विरति को परिगणित किया गया है। शील की साधना की आदर्श स्थिति को दर्शाने के लिए उसका विभाजन सपर्यन्त शील और अपर्यन्त शील में किया गया है। व्यावहारिक जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जहाँ किन्हीं कारणोंवश शील के नियमों का उल्लंघन कर देते हैं। शीलवान व्यक्ति के द्वारा भी इन विशेष परिस्थितियों यथा लाभ, यश, बंधु-बांधव, अंगरक्षा या प्राणरक्षा में शील का उल्लंघन ही सपर्यन्तशीलाचरण है। परंतु शील पारमिता का आदर्श अपर्यन्तशील है अर्थात् जटिल परिस्थितियों में भी बोधिसत्त्व को शील की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। शील समस्त कुशल कर्मों का आधार है। इसका प्रयोजन आत्मभाव की रक्षा से जुड़ा है ताकि बोधिसत्त्व परकल्याण में सक्षम हो सके। शील को प्राणातिपात आदि निषिद्ध कार्यों से चित्त की विरति से संबंधित किया जाता है।

पारमिता साधना का तीसरा अंग क्षांति पारमिता है। क्षांति पारमिता की साधना में क्षमा ही परम धर्म है। बोधिसत्त्व का चित्त इस साधना में दूसरों के अपराधों और अपकारों के प्रति भी क्षमा-भाव से आप्लावित रहता है। इसका संबंध दुःख और दौर्मनस्य रूपी विक्षेप के निराकरण से है। सामान्यतः जो प्राणी हमारा उपकार करता है, उसके प्रति हम प्रेम एवं सद्भाव रखते हैं तथा जो हमारा अपकार करता है। हम उसके प्रति ईर्ष्या एवं द्वेष का भाव रखते हैं। इस पारमिता की साधना से उपकार करने वाले एवं अपकार करने वाले सबके प्रति प्रेम, मैत्री एवं करुणा के भाव का उद्गम एवं प्रसार होता है।

पारमिता साधना का चतुर्थ अंग वीर्य पारमिता के रूप में है। कुशल कर्म के प्रति उत्साह होना ही वीर्य है। वीर्य के प्रभाव से सभी अकुशल कर्मों का क्षय होता है तथा पुण्य की प्राप्ति होती है। वीर्याश्रित होकर ही समस्त कुशल धर्मों को प्राप्त किया जा सकता है। असंग ने वीर्य को परिभाषित करते हुए उसे वरेण्य और कुशल धर्मों से जोड़ने वाली शक्ति कहा है — वरेण्य योजयतीति वीर्यम कुशल धर्मयोजनात्। वीर्य स्वयं में एक पारमिता होने के साथ-साथ दूसरी पारमिताओं का सहायक भी है। सभी पारमिताओं की साधना में उनके अनुरूप सामर्थ्य अर्जित करना और उनके आदर्श के अनुरूप प्राप्त सामर्थ्य का विनियोग करना वीर्य के सहयोग के बिना असंभव है।

पारमिता साधना का पांचवा अंग ध्यान पारमिता है। वीर्यवान साधक को उत्साह वृद्धि करके मन को समाधि अथवा ध्यान में संलग्न करना चाहिए। ध्यान में लीन बोधिसत्त्वयान के यात्री को संसार एवं सांसारिक वस्तुओं के प्रति किसी प्रकार का लोभ या आसक्ति नहीं होती है। वह सांसारिक प्रलोभनों से दूर रहकर आनन्द की अनुभूति करता है। शील पारमिता का अभ्यास तो सांसारिक जीवन के भीतर भी हो सकता है। लेकिन ध्यान-पारमिता का अभ्यास घर की अपेक्षा जंगल में अच्छी तरह होता है। इसके द्वारा मानवीय चेतना उत्तरोत्तर उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाती है।

महायान धार्मिक साधना के अंग के रूप पारमिता अभ्यास का अंतिम अंग प्रज्ञा पारमिता है। इसे सर्वोच्च बोधि का स्थान प्राप्त है। चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है। यह समस्त बंधनों एवं अज्ञान तत्वों को समझने एवं उनका विनाश करने में सक्षम होती है। इससे पहले की पाँच पारमिताओं का अभ्यास केवल प्रज्ञा-पारमिता के उदय की तैयारियाँ हैं। पाँच पारमिताओं की उत्तरोत्तर साधना करते हुए बोधिसत्त्व ध्यान-पारमिता के सर्वोच्च शिखर पर परमार्थ सत्य की भावना करना है। बौद्ध साधना में प्रज्ञा को माता कहा गया है, क्योंकि गौतम का जन्म तो महामाया के गर्भ से हुआ था किन्तु बुद्ध का जन्म प्रज्ञा के गर्भ से होता है। प्रज्ञा के अनुकूल होने पर दानादि पंच पारमिताएँ सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कराने में सहायक बनती है (नरेन्द्रदेव, 1956 पृ. 212-218)। इन षट् पारमिताओं के अनुपालन से बोधिसत्त्व समस्त भोगों से निरपेक्ष होकर अत्यन्त संयमित जीवन व्यतीत करता है।

महायानियों ने संसार की चिंता को अपनी चिंता बना डाला। यदि साधक सदैव वन में ही रहे अर्थात् समाज से दूर ही रहे तो प्राणीहित नहीं हो सकता। इसलिए उसे संसार का ही आलंबन बनाकर बोधि के लिए अभ्यास करना है। संसार के प्राणियों में एकरूपता नहीं है, संसार में अनेक प्रकार के लोग रहते हैं। सामान्य कोटि के लोग सुख चाहते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो दुःख से पीड़ित हैं और अपना दुःख दूर करना चाहते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो सुखी हैं और चाहते हैं कि उनका सुख बना रहे, उनसे छिन न जाए। कुछ ऐसे भी मलिन स्वभाव के हैं जो सभी प्रकार के अकर्म और कुकर्म करते हैं। इन चार प्रकार के लोगों को देखकर बोधिसत्त्व जिस प्रकार अपने मन में भाव करता है उसे ब्रह्मविहार कहते हैं। ब्रह्म का तात्पर्य बड़े या महान से है। महान होने के कारण ही इस भावना को ब्रह्मविहार कहते हैं। ब्रह्मविहार का दूसरा नाम अप्रमाण भी है। ब्रह्मविहार या अप्रमाण चार हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। इसमें मैत्री सुख से योग कराने की भावना है। करुणा दुःख से छुड़ाने की भावना है। मुदिता सुख से अवियोग की भावना है। उपेक्षा निःक्लेशोपचार या पाप से छुड़ाने की

भावना है (महायानसूत्रालंकार, 17/17-18)। इन ब्रह्मविहारों की भावना करने से चित्त की उन्मुक्तता, वैमनस्य निःसरण, हिंसा निःसरण और मन के न लगने निःसरण होता है। उपेक्षा कामना या इच्छा का निःसरण है। (विशुद्धिमग्ग, पृ.216) इन ब्रह्मविहारों के अभ्यास से साधक को बहुत लाभ होता है। इसका विस्तृत विवरण विशुद्धिमग्ग (पृ.212-213) में निर्देशित किया गया है। ब्रह्मविहारों की मूल भावना यह है कि समस्त प्राणी दुःख से मुक्त हों।

महायान धार्मिक लक्ष्यों को समझने से दशभूमियों की अवधारणा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दशभूमियाँ बोधिसत्त्वयान की यात्रा के आध्यात्मिक पड़ावों को समझने की आधारभूमि तैयार करती है। महायानी सूत्रों में दशभूमियों को बोधिसत्त्व के आध्यात्मिक विकास का अनिवार्य अंग बताया गया है (सुजुकी, 2007, पृ.237-251)। दशभूमियों के अन्तर्गत प्रमुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती एवं धर्ममेधा को रखा गया है। सम्बोधि को तथा सत्त्वहित की सिद्धि को सफल होते देख तीव्र हर्ष उत्पन्न होने के भाव को प्रमुदिता कहते हैं। इस भूमि में बोधिसत्त्व विविध भयों से मुक्त होता है तथा दान, प्रियवचन एवं परहित कृत्यों का सम्पादन करता है। विमला भूमि में बोधिसत्त्व शील में प्रतिष्ठित होकर अकुशल कर्मों से दूर रहता है तथा कुशल कर्मों का सम्पादन करता है। तीसरी भूमि विमला में बोधिसत्त्व सभी संस्कार धर्मों को अनित्यता का भाव से देखता है। चतुर्थ भूमि अर्चिष्मती में बोधिसत्त्व बोधिपाक्षिक धर्मों की समझ विकसित करते हुए क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण से युक्त होता है। पंचम भूमि सुदुर्जया में बोधिसत्त्व चारों आर्यसत्त्वों का सही ढंग से अनुगमन करके विश्व की शून्यता का ज्ञान अर्जित करने में सक्षम होता है। उसमें सभी प्राणियों के प्रति महाकरुणा का प्रादुर्भाव होता है तथा महामैत्री का आलोक उत्पन्न होता है।

छठीं भूमि अभिमुखी में प्रज्ञा का विकास होता है। इस भूमि में प्रज्ञा का सेवन करते हुए बोधिसत्त्व संसार और निर्वाण की यथार्थता से अभिसंचित होता है। सातवीं भूमि दूरंगमा में बोधिसत्त्व सभी वस्तुओं को शून्यता के भाव से देखता है। आठवीं भूमि अचला में पहुँचने में बाद बोधिसत्त्व की परावृत्ति की सम्भावना नहीं रहती। इस भूमि का लाभ करने के बाद बोधिसत्त्व निर्वाण की भी इच्छा नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने पर सभी दुःखी प्राणियों का कल्याण करने की उनकी प्रतिज्ञा के भंग होने की आशंका रहती है। नवीं भूमि साधुमती के नाम से जानी जाती है। इस अवस्था में साधक मनुष्यों का उद्धार करने के लिए नए-नए उपायों का आलम्बन करता है एवं उन्हें धर्म के वास्तविक स्वरूप से अवगत कराता है। इस अवस्था में बोधिसत्त्व सभी प्रकार के कुशल एवं अकुशल धर्मों के वास्तविक रूप को समझने में समर्थ होते हैं तथा अपनी इच्छा अनुरूप परिणाम को प्रवर्तित करने में सक्षम हो जाते हैं। दसवीं भूमि को धर्ममेधा कहा गया है। इस अवस्था में पहुँचने पर साधक बुद्ध बन जाता है जो उसका सर्वोच्च पद है। इस भूमि में साधक अथवा बोधिसत्त्व विविध प्रकार की समाधि का लाभ प्राप्त करता है (दत्त, 1978, पृ. 87-131), (हर दयाल, 1970, पृ. 270-291)। उपर्युक्त दसों भूमियों में बोधिसत्त्व बोधिचित्त, पारमिताओं एवं कल्याणकारी उद्देश्यों से प्रतिबद्ध निरन्तर लोककल्याण में लगा रहता है।

धार्मिक साधना का एक महत्वपूर्ण कार्य परमसत्ता के विविध स्वरूपों पर विचार करना

होता है। महायान साधना पद्धति में त्रिकाय की अवधारणा के माध्यम से इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह अवधारणा बौद्ध धर्म के विकासात्मक चरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखती है। हीनयानी परम्परा में बुद्ध को ऐतिहासिक मरणधर्मा मनुष्य स्वीकार किया जाता है। अन्य मनुष्यों के समान बुद्ध ने भी जन्म ग्रहण किया एवं जीवन से सम्बन्धित क्रिया-कलापों में हिस्सा लिया। इसके पश्चात् अनवरत साधना से बुद्धत्व प्राप्त कर महापुरुष बने। परन्तु महायानी बुद्ध को केवल ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते थे। उनके अनुसार बुद्ध के तीन काय या शरीर है — धर्मकाय, सम्भोगकाय और रूपकाय। इसमें साकार से लेकर निराकार तत्त्व का समन्वय है। महायान सूत्रों एवं शास्त्रों में 'त्रिकायवाद' का पूर्ण विवरण मिलता है। रूपकाय के अंतर्गत भगवान बुद्ध ने शरीर दूसरों के उपकार के लिए धारण किया था। चेतन प्राणियों के धर्म इस शरीर से सम्बद्ध है। शाक्यमुनि ने बुद्ध के रूप में इसी शरीर को धारण किया था। असंग ने इस कार्य की विशेषता बताते हुए कहा है कि शिल्प, जन्म, अभिसम्बोधि (ज्ञान) निर्वाण की शिक्षा देकर जगत के कल्याण के लिए ही बुद्ध ने इस शरीर को धारण किया था (असंग, 1985, 9/64)। बुद्ध इसी शरीर द्वारा दान, शील, ध्यान, समाधि, चित्त, प्रज्ञा, ज्ञान, स्कन्ध आदि का उपदेश करते हैं (सुजुकी, 2005, पृ. 57)। इस प्रकार निर्माणकाय का कार्य परोपकार साधना करना है।

सम्भोगकाय महायानी काय व्यवस्था का दूसरा स्वरूप है। सम्भोगकाय को बोधिसत्व धारण करते हैं। इसे बुद्ध का आनन्दमय स्वरूप माना जा सकता है। बुद्ध इसे तब तक धारण करते हैं जब तक वे निर्वाण में प्रवेश नहीं करते। इस शरीर में ही बुद्ध 'तुषित लोक' में निवास करते हैं इसके द्वारा बुद्ध को देवताओं सदृश स्वर्गीय शरीर प्राप्त हो जाता है। इसी रूप में भगवान बुद्ध को अमिताभ भी कहा गया है (नरेन्द्रदेव, 1956 पृ. 118), (दत्त, 1978, पृ. 157-162)। धर्मकाय बुद्ध का वास्तविक परमार्थभूत शरीर है। यह काय शब्द द्वारा अनिर्वचनीय है। महायान सूत्रालंकार में इसका नाम स्वाभाविक कहा गया है। यह अनन्त, अपरिमेय एवं सर्वत्र व्यापक है। असंग के अनुसार धर्मकाय सब बुद्धों में एक रूप होता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण बहुत ही दुर्ज्ञेय है। यह निर्माणकाय तथा सम्भोगकाय से ही सम्बद्ध रहता है। यह सम्भोग एवं विभत्त्व का कारण होता है और इसी कारण से सम्भोगकाय अपना सम्भोग सिद्ध कर पाता है (असंग, 1985, 9/64)। तथता भी यही है, तथता का अर्थ होता है सम्पूर्ण सृष्टि में समाई हुई सत्यता। इस प्रकार महायानी धर्म साधना में साकार और निराकार दोनों प्रकार के सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता को एक व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि महायान संप्रदाय ने धर्म साधना के क्षेत्र में प्रगतिशील अवधारणा को प्रस्तावित किया। यद्यपि कि लोककल्याण के विविध साधन जैसे दान, कमजोर-निसहाय-दरिद्र की सहायता, नैतिक उन्नयन में सहायता आदि सभी धर्मों एवं संप्रदायों का एक अनिवार्य अंग होता है लेकिन इन सब तत्त्वों के पालन करने को गौड़ स्थान दिया जाता है तथा उनका प्रधान उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति एवं कल्याण होता है। महायान ने व्यक्तिगत मुक्ति को गौड़ स्थान प्रदान किया तथा सर्व प्राणी हित को मुख्य लक्ष्य स्वीकार किया। महायान साधना पद्धति द्वारा मानवीय चेतना उत्तरोत्तर उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित होती जाती है। इसका प्रभाव भी

साधक के जीवन में उत्तरोत्तर प्रकट होता है। इसकी अनुपम विशिष्टता यह है कि इसका आरंभ और अंत दोनों ही सामूहिक कल्याण से होता है। यहाँ सामूहिकता के दायरे में मनुष्य ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण चराचर सृष्टि आ जाती है। साधक बोधिसत्त्व के मार्ग पर दृढ़ संकल्प से परमिताओं की सतत साधना से अनासक्ति एवं भोगों के प्रति निरपेक्षता से युक्त होता हुआ भी लोकनुग्राही हो जाता है, जिसका एकमात्र उद्देश्य लोककल्याण होता है। लोककल्याण की यही भावना उसे लोक में देव के रूप में प्रतिष्ठित कर देती है। बोधिसत्त्व जीवन पर्यन्त अन्य प्राणियों के हितों में लगा रहता है। बुद्धत्व की अवस्था प्राप्त करने पर भी वह उसके ग्रहण का इच्छुक नहीं होता है। वास्तव में यह स्थिति चरम स्थिति कही जा सकती है। इसका कारण यह होता है कि साधक स्वयं में दूसरे को एवं दूसरे में स्वयं को देखता होगा। तभी तो वह अपने सम्पूर्ण पुण्यों का लाभ समस्त प्राणियों पर न्यौछावर कर सुख का अनुभव करता है। सैद्धांतिक तौर पर निश्चय ही यह एक सर्वोत्कृष्ट आदर्श है तथा अनेक देशों में महायानी साधक इस आदर्श को जमीनी स्तर पर लाने के प्रयत्न में भी लगे रहते हैं।

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
¹drmkingsh.dav@gmail.com
²rps18.ballia@gmail.com

सन्दर्भ :

1. असंग.(1985). *महायानसूत्रालंकार*, संपा.शास्त्री, द्वारिकादास. वाराणसी: बौद्धभारती प्रकाशन.
2. उपाध्याय, भरत सिंह.(1954). *बौद्ध दर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शन-भाग-1*. प्रयाग: हिन्दी साहित्य सम्मेलन.
3. उपाध्याय, बलदेव.(1999). *बौद्ध-दर्शन-मीमांसा*. वाराणसी: चौखम्भा विद्याभवन.
4. काश्यप, जगदीश(सं.).(1959).*अपादान(2)बुद्धवंश चरियापिटक पालि*. पालि प्रकाशन बोर्ड. बिहार सरकार.
5. दत्त, नलिनाक्ष.(1978).*महायान बुद्धिज्म*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.
6. दास, राममोहन. अनु.(1966). *सधर्मपुंडरिक. पटना: बिहार राष्ट्रभाषा परिषद*.
7. नरेन्द्रदेव.(1956). *बौद्ध धर्म दर्शन*. पटना: बिहार राष्ट्रभाषा परिषद.
8. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय. (1985). *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास*. लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान.
9. बुद्धघोष. सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री.(2018).*विसुद्धिमग्न.वाराणसी. बौद्धभारती ग्रंथमाला 12 (क),बुद्धभारती*.
10. सुजुकी,डी.टी.(2005).*लंकावतारसूत्र*. (स्टडीज इन दी लंकावतारसूत्र का हिन्दी रूपांतर). अनुवादक – तुलसीराम शर्मा. दिल्ली: ईस्टर्न बुक लिडर्स.
11. सुजुकी,डी.टी.(2007).*महायान बौद्ध धर्म की रूपरेखा. (आउटलाइंस ऑफ महायान बुद्धिज्म का हिन्दी रूपांतर)*. अनुवादक – तुलसीराम शर्मा.दिल्ली: ईस्टर्न बुक लिडर्स.
12. शर्मा, अंबिकादत्त. (2022). पारमिताएं : बोधिसत्त्व बनने की सुगम साधना. *प्रज्ञा.वा.* 20, न.-1.पृ. 44-46.
13. शांतिदेव.(1955).*बोधिचर्यावतार*. अनुवादक –शास्त्री, शांत भिक्षु. लखनऊ:भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद.
14. शांतिदेव.(1961).संपा. डॉ पी.एल. वैद्य.शिक्षा समुच्चय. दरभंगा: बौद्ध संस्कृत ग्रंथावली-11.
15. शास्त्री, शांत भिक्षु . *महायान. शांतिनिकेतन: विश्वभारती*.
16. हर दयाल.(1970). *दी बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

विद्यार्थियों के समग्र विकास हेतु पंचकोश सिद्धांत की एकात्मता

भावना तिवारी¹, धर्मेन्द्र कुमार सराफ²

सारांश :

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली एक समृद्ध ऐतिहासिक विरासत एवं भारत की सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतिरूप है। शिक्षा व्यक्तियों एवं समाज के भविष्य को आकार देने वाली एक परिवर्तनकारी प्रक्रिया है। प्राचीन भारतीय शिक्षा का उद्देश्य गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से स्वयं के अस्तित्व की पूर्ण प्राप्ति और मुक्ति के लिए ज्ञान प्राप्त करना था। मानव अस्तित्व विकास का भारतीय दृष्टिकोण एक समग्र एवं एकीकृत दृष्टिकोण है जो भौतिक और आध्यात्मिक पहलुओं के सामंजस्यपूर्ण संबंध को दर्शाता है। बदलते समाज के साथ मानव विकास के दृष्टिकोण में परिवर्तन होते रहे और शिक्षा नीतियों में भी बदलाव आवश्यक हो गए। किसी भी राष्ट्र की सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति उसकी सुव्यवस्थित एवं उन्नत शिक्षा नीति पर आधारित होती है क्योंकि शिक्षा नीति में अतीत का विश्लेषण, वर्तमान की आवश्यकताएं एवं भविष्य की सुनहरी संभावनाएं समाहित होती हैं। इसी विचार से राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२० (एनईपी-२०२०) एवं उसके क्रियान्वयन हेतु विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-२०२३ (एनसीएफएसई-२०२३) का निर्माण किया गया। नीति भारतीय जीवन मूल्य, भारतीय ज्ञान परम्परा, भारतीय संस्कृति एवं भारतीय भाषाओं के प्रोत्साहन, पुनर्स्थापन एवं प्रसार पर बल देती है। नीति के समग्र एवं समावेशी शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एनसीएफएसई-२०२३ में व्यक्तित्व विकास में पंचकोशीय सिद्धांत को आधार बनाने की संकल्पना दी गई जिससे शिक्षा द्वारा एक संतुलित और सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्व का विकास संभव हो सके। इस शोधपत्र का उद्देश्य गुरु-शिष्य परम्परा में समग्र विकास के पंचकोश सिद्धांत की एकात्मता एवं संभावनाओं का समालोचनात्मक विश्लेषण करना है।

बीज शब्द : गुरु-शिष्य परम्परा, शिक्षा एवं समग्र विकास, एवं पंचकोश सिद्धांत

प्रस्तावना-

भारतीय सभ्यता विश्व की सर्वाधिक प्राचीन, रोचक तथा महत्वपूर्ण सभ्यताओं में से एक है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता की एक अमूल्य विरासत के रूप में भारतीय शिक्षा प्रणाली भी पुरातन शिक्षा प्रणालियों में एक विशेष स्थान रखती है। सभ्यता के साथ-साथ शिक्षा का भी विकास हुआ। प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण से आत्म मुक्ति तक का साधन था परन्तु समय, काल एवं परिस्थिति के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य भी परिवर्तित होते रहे। बदलते स्वरूप ने शिक्षा को अर्थोपार्जन और अक्षर ज्ञान तक सीमित कर दिया (कपूर, २०२१)। प्राचीन भारत में शिक्षा का एक

माध्यम 'गुरु-शिष्य परम्परा' था। गुरु-शिष्य परम्परा का मूल सिद्धांत छात्रों को प्राकृतिक वातावरण में शिक्षा प्रदान करना था जिससे वे गुरु के सान्निध्य में चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व विकास, अनुशासन, आत्म-संयम, आध्यात्मिक ज्ञान, सामाजिक जागरूकता और जीवन की विविध कलाएं सीखते थे। इस परम्परा का शैक्षिक लक्ष्य शिष्य को समग्र रूप से विकसित करना था। प्राचीन भारत में शिक्षा का आधार वेद, वेदांग एवं उपनिषद थे। वेद, ऋषियों द्वारा प्राप्त किए गए और व्यास द्वारा संकलित किए गए ग्रन्थ हैं जो ऋषियों और तपस्वियों के भारतीय अनुभवों का भंडार एवं ज्ञान के प्राथमिक स्रोत हैं (सेल्वामणी, २०१६)। वेदों को भारतीय जीवन और शिक्षा की आत्मा कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी (दिवेदी, २०१६)। वेदों में भारतीय ज्ञान को १४ विद्याओं, ६४ कलाओं एवं चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के रूप में वर्णित किया गया जिसमें दर्शन, व्यावहारिक शिक्षा, कला, कौशल, शिल्प, कृषि, स्वास्थ्य और विज्ञान सम्मिलित हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष व्यक्तित्व विकास के प्रमुख कारक थे जो व्यक्तित्व को एकीकृत एवं समग्र रूप प्रदान करते थे (एमएचआरडी, २०२०)। व्यक्तित्व के एकीकृत एवं समग्र रूप की धारणा पारंपरिक भारतीय दृष्टिकोण वेद, उपनिषद और भगवद गीता जैसे प्राचीन भारतीय दर्शन और शास्त्रों में गहराई से निहित हैं। वेद, उपनिषद, आयुर्वेद और अन्य प्राचीन हिंदू दार्शनिक साहित्य के अनुसार, जीवन भौतिक शरीर से आध्यात्मिक विकास और आत्म-साक्षात्कार की यात्रा है (श्रीवास्तव, २०१२)। यजुर्वेद के तैत्तिरीय उपनिषद में उल्लेखित पंचकोश सिद्धांत, मानव अस्तित्व की जटिल संरचना की व्यापक समझ प्रदान करता है। यह मानव अस्तित्व को पाँच आवरणों या कोशों के रूप में दर्शाता है, जो वास्तविक रूप से स्वयं या आत्मा को घेरे रहते हैं। यद्यपि यह शास्त्रीय अर्थों में विकासात्मक सिद्धांत नहीं है लेकिन यह मानव अस्तित्व के कई पहलुओं का एक व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करता है और इसे व्यक्तित्व विकास और अंतर्दृष्टि के विभिन्न चरणों या आयामों को दर्शाने के रूप में विवेचित किया जा सकता है (सतपथी, २०१८)। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२० में परिकल्पित समग्र एवं बहुविषयक शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों की सामाजिक, शारीरिक, बौद्धिक, भावनात्मक और नैतिक क्षमताओं को एकीकृत रूप में विकसित करना है जिससे विद्यार्थियों को आधुनिक समाज की चुनौतियों का सामना करने में सक्षम एवं समग्र रूप से विकसित करने का प्रयास संभव हो सके (एमएचआरडी, २०२०; नागेश्वरराव, २०२३)।

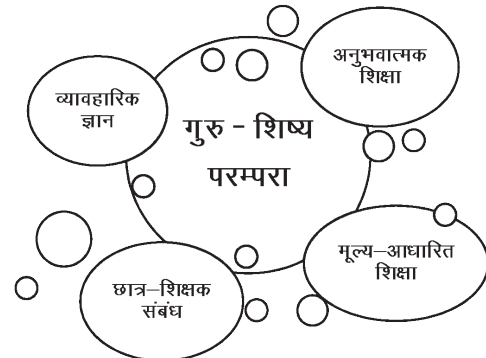
गुरु-शिष्य परम्परा: एक दृष्टि-

प्राचीन काल में शिक्षा, गुरु द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परम्परा के माध्यम से प्रसारित की जाती थी जिसे 'गुरु-मुख' के रूप में जाना जाता था। छात्र सुनकर ज्ञान प्राप्त करते थे जिसे 'श्रुति' के रूप में तथा स्मरण को 'स्मृति' के रूप में जाना जाता था। गुरु के पास सर्वोच्च अधिकार थे और इस प्रणाली को 'गुरु-शिष्य परम्परा' के माध्यम से संरक्षित किया गया था (भगत, २०१४)। यह परम्परा प्राचीन भारतीय सभ्यता का अभिन्न अंग रही है। गुरु-शिष्य परम्परा में 'गुरु' का अर्थ है 'शिक्षक', 'शिष्य' का अर्थ है 'विद्यार्थी' और 'परम्परा' का अर्थ है, 'सतत रूप से चलने वाली प्रणाली'। अतः गुरु-शिष्य परम्परा शिक्षक और उसके शिष्य के मध्य संबंध को दर्शाता है। प्राचीन भारत में

गुरु-शिष्य परम्परा भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं ज्ञान को विकसित करने का एकमात्र साधन थी। गुरु-शिष्य परम्परा में गुरु को आत्मज्ञान के स्रोत एवं शिष्य को सच्ची निष्ठा के रूप में देखा जाता था (सेत्वामणी, २०१६)।

गुरु, शिष्य के लिए आध्यात्मिक मार्गदर्शक, आदर्श एवं अपने शिष्य के प्रति पूर्णरूप से उत्तरदायी थे। वे अपने शिष्यों का पालन-पोषण माता-पिता की तरह करते थे। वे धार्मिक एवं नैतिक ज्ञान के द्वारा चरित्र और व्यक्तित्व को आकार देकर अपने शिष्य को समाज का उत्पादक सदस्य बनने की ओर ले जाते थे। ज्ञान और सशक्त चरित्र गुरु की दो आवश्यक विशेषताएँ थीं। गुरु का अंतिम उद्देश्य शिष्य को आत्म-साक्षात्कार से मोक्ष की ओर ले जाना था। शैक्षिक प्रक्रिया श्रवण, मनन और निधिध्यासन पर आधारित थी। गुरु द्वारा शिष्यों को पवित्र शास्त्रों का पाठ सुनाना (श्रवण), व्यक्तिगत व्याख्या-चिंतन (मनन), एवं तथ्यों को समझना और अपने जीवन में लागू करना (निधिध्यासन) कहलाता है (सेत्वामणी, २०१६)। चार्टर एक्ट १८१३ ने भारत में शिक्षा नीति की स्थापना की जिसके बाद गुरु-शिष्य परम्परा का स्थान स्कूल ने ले लिया और शिक्षा का व्यवसायिकरण प्रारंभ हो गया (मालू, १९६६)। वैदिक अध्ययन की मौखिक विरासत का संरक्षण और विस्तार की बात विभिन्न भारतीय शिक्षा नीतियों एवं आयोगों में निरंतर रूप से कही गई। परिणामस्वरूप प्राचीन शिक्षा पद्धति, वैदिक अध्ययन को जीवंत रखने के उद्देश्य से २० जनवरी १९८७ को भारत सरकार ने शिक्षा मंत्रालय (उच्च शिक्षा विभाग) के अंतर्गत एक शीर्ष स्वायत्त निकाय, राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान का गठन किया। कालान्तर में मई १९६३ में प्रतिष्ठान का मुख्य कार्यालय नवीन नाम, 'महर्षि सान्दीपनी राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान' (एमएसआरवीवीपी) के साथ नई दिल्ली से मध्य प्रदेश के उज्जैन में स्थानांतरित कर दिया गया। प्रतिष्ठान के मुख्य लक्ष्य वेद अध्ययन की श्रुति परम्परा का संरक्षण, संवर्धन और विस्तार हैं (एमएसआरवीवीपी, एन.डी.)।

वर्तमान समय में प्रतिष्ठान द्वारा गुरु-शिष्य परम्परा एवं वेद पाठशालाओं का संचालन किया जा रहा है। प्रतिष्ठान वैदिक अध्ययन एवं आधुनिक विषय की शिक्षा के साथ बालक के समग्र विकास में प्रमुख भूमिका निभा रहा है। प्रतिष्ठान में एनईपी-२०२० द्वारा निर्धारित कौशल, पंचकोश विकास एवं व्यावसायिक विषयों के साथ-साथ आधुनिक विषय जैसे संस्कृत, गणित, अंग्रेजी, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, हिंदी, कम्प्यूटर, दर्शन, योग व वैदिक कृषि आदि के साथ विशिष्ट प्रकार के वेद पाठ्यक्रमों को अपनाया है जिससे विद्यार्थियों को पंचकोशीय विकास के साथ समकालीन समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप प्राचीन ज्ञान का उपयोग करते हुए आधुनिक समस्याओं का समाधान खोजने के योग्य बनाया जा सके (एमएसआरवीवीपी, एन.डी.)। गुरु-शिष्य परम्परा का मत है कि प्रत्यक्ष जीवन अनुभव के बिना आध्यात्मिकता का ज्ञान अधूरा है इसीलिए गुरु-शिष्य परम्परा में अध्यापन (निर्देश), अध्ययन (अधिगम), और संभाषण (चर्चा)



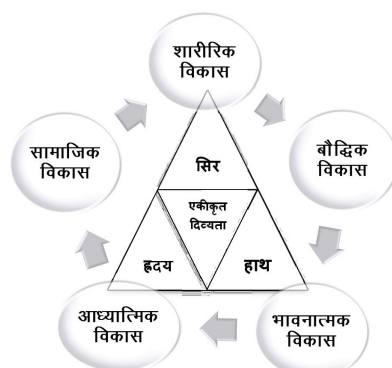
चित्र १ - गुरु-शिष्य परम्परा के लक्ष्य

विधि प्रयोग करके शैक्षणिक रणनीतियाँ तैयार की जा सकती हैं (कृष्णन, २०२०)।

गुरु-शिष्य परम्परा पंचकोशीय परत भौतिक, महत्वपूर्ण ऊर्जा, मन, बौद्धिक और आंतरिक आत्म विकास के माध्यम से विद्यार्थियों के समग्र विकास पर ध्यान केंद्रित करती है (एनसीईआरटी, २०२३; श्रीवास्तव, २०१२)। गुरु-शिष्य परम्परा प्रणाली मूल्य-आधारित दृष्टिकोण को बढ़ावा देती है और यह प्रणाली तनाव और अवसाद को दूर करने के लिए विशिष्टता, उत्कृष्टता को बढ़ावा देने और चरित्र निर्माण पर ध्यान केंद्रित करती है। वर्तमान शैक्षिक प्रणाली तथ्यों को याद रखने पर अधिक-से-अधिक निर्भर हो गई है। परिणामतः विद्यार्थियों के समग्र का स्तर कम हो रहा है। गुरु-शिष्य परम्परा में श्रवण और मनन द्वारा ज्ञान प्रदान किया जाता था जिससे समग्र का उच्च स्तर उत्पन्न होता था (एमएचआरडी, २०२०)। यह परम्परा समग्र उन्नति के लिए आदर्श विकल्प है क्योंकि यह शैक्षणिक ज्ञान के साथ जीवन के सभी चरणों के लिए तैयार करती है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में गुरु-शिष्य परम्परा प्रणाली को लागू करने का उद्देश्य विद्यार्थियों को संतुलित जीवन जीने की अवधारणा को समझने में सहायता करना है (एनसीईआरटी, २०२३; सेल्वामणि, २०१६)। व्यावहारिक ज्ञान, अनुभवात्मक शिक्षा, मूल्य-आधारित शिक्षा और छात्र-शिक्षक संबंध, गुरु-शिष्य परम्परा की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इसमें अस्तित्व के पंचकोश विकास के सभी पहलू शामिल हैं। समूह चर्चा, स्व-शिक्षा, योग, ध्यान, मंत्र जाप और अन्य गतिविधियाँ छात्रों को सकारात्मक और व्यावहारिक कौशल विकसित करने में मदद करती हैं।

समग्र विकास का पंचकोश सिद्धांत-

प्राचीन हिंदू साहित्य एवं दर्शन के अनुसार मानव अस्तित्व भौतिक शरीर से आध्यात्मिक विकास और आत्म-साक्षात्कार की एकीकृत यात्रा है जिसका अंतिम लक्ष्य सच्चे सार (आत्मा) और वैश्विक चेतना के संबंध को जानकर जन्म एवं मृत्यु चक्र से मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त करना है (श्रीवास्तव, २०१२)। वैदिक साहित्य में मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य सार्वभौमिक आत्मा के साथ आंतरिक और बाह्य प्रकृति को नियंत्रित करके एकीकृत दिव्यता को प्राप्त करना है। अथर्ववेद, भगवत गीता एवं सांख्य दर्शन में व्यक्तित्व को 'त्रिगुण' का एकीकृत प्रतिफल माना गया है जिसमें 'सत्त्व' स्थिरता के रूप में, 'रजस' को सक्रियता और 'तमस' को जड़ता कहा गया है। व्यक्तित्व सत्, रज और तम का संयोजन है जो व्यक्तिगत और अंतर-व्यक्तिगत अंतरों से संबंधित है। व्यक्तित्व बुद्धि, मन, आत्मा, अहंकार, गुण, चेतना, संस्कार और इंद्रियों का समग्र रूप है (धाकड़, २०१८; श्रीवास्तव, २०१६)।

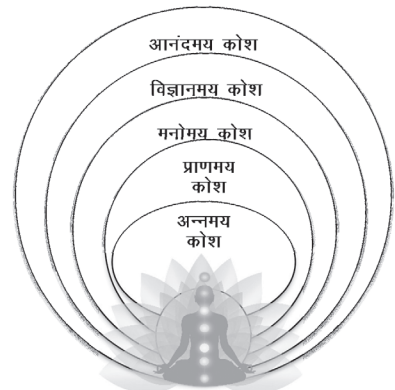


चित्र २ – भारतीय परिप्रेक्ष्य में समग्र विकास के आयाम

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली सिर (विचार), हाथ (कौशल) और हृदय (मानवीय मूल्य और नैतिकता) के प्रशिक्षण को एकीकृत रूप से विद्यार्थी के संपूर्ण विकास के लिए आधार मानती थी। गांधीजी की “नई तालीम” (बेसिक एजुकेशन) के अनुसार तीन ‘एच’ (सिर, हाथ और हृदय) के एकीकृत स्वरूप से ही व्यक्ति का समग्र विकास संभव है जिसमें ‘शरीर’ आजीविका के साधन, ‘मन’ तर्क के एक उपकरण तथा ‘आत्मा’ चरित्र विकास के आधार के रूप में कार्य करती है (एमजीएनसीआरई, एन.डी.)। आंतरिक (मन, शरीर, हृदय और आत्मा) एवं बाह्य प्रकृति (सामाजिक / सांस्कृतिक और पर्यावरणीय संबंध) का एकीकृत एवं सामंजस्यपूर्ण विकास समग्रता का प्रतिबिम्ब है। समग्र विकास शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आध्यात्मिक आयामों का एक संश्लेषण है जिसमें बौद्धिक, शारीरिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक और सामाजिक क्षमताओं का विकास निहित है (एमएचआरडी, २०२०; एनसीईआरटी, २०२३)। विद्यार्थी जीवन में इन सभी पक्षों के विकास करने का पर्याप्त अवसर होता है तथा यदि अनुकूल वातावरण विद्यार्थियों को उपलब्ध हो तो उनका भावी जीवन सफल हो सकता है।

मानव शरीर के तीन आयाम हैं, स्थूल (भौतिक) शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर जिसमें ये पाँचों कोश निवास करते हैं। भौतिक स्थूल शरीर के ‘सूक्ष्म शरीर’ में प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोश जबकि आनंदमय कोश ‘कारण शरीर’ में निवास करते हैं। स्थूल शरीर मुख्य ऊर्जा केंद्र हैं जो सात चक्रों (मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञा चक्र एवं सहस्त्रार चक्र) द्वारा नियंत्रित होता है। ऊर्जा के ये चक्र शरीर के विशेष भागों को नियंत्रित एवं सक्रिय करते हैं और मानव शरीर प्रणाली के भीतर सामंजस्यपूर्ण संबंध लाते हैं (हटंगडी, २०२३; सतपथी, २०१८)।

तैत्तिरीय उपनिषद् के पंचकोश सिद्धांत में मानव अस्तित्व के विकास का एक गहन, व्यापक और समग्र दृष्टिकोण समाहित है। इस सिद्धांत के अनुसार मानव अस्तित्व पांच कोशों या आवरणों का सम्मिलित रूप है जिसमें ‘अन्नमय’ (शारीरिक कोश), ‘प्राणमय’ (प्राणवायु कोश), ‘मनोमय’ (मानसिक कोश), ‘विज्ञानमय’ (बौद्धिक कोश), और ‘आनंदमय’ (आंतरिक आनंद कोश) है। अन्नमय कोश, ‘अन्न’ अर्थात् भोजन, प्राणमय कोश, ‘प्राण’ अर्थात् जैव ऊर्जा, मनोमय कोश का सम्बन्ध ‘शिक्षा’, विज्ञानमय कोश का सम्बन्ध ‘अहंकार’ तथा आनंदमय कोश के द्वारा ‘भावनाएं’ पोषित होती हैं। अन्नमय कोश शारीरिक विकास पर, प्राणमय कोश जीवन ऊर्जा पर, मनोमय कोश मानसिक और भावनात्मक विकास पर, विज्ञानमय कोश बौद्धिक विकास पर और आनंदमय कोश आध्यात्मिक या आत्मबोध पर ध्यान केंद्रित करता है। इन सभी कोशों में विविध विशेषताएं हैं, ये एक दूसरे से सम्बंधित तथा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। समग्र विकास का सम्बन्ध प्रत्येक कोशों के पोषण से है। मानव जीवन के विभिन्न काल खण्डों में संतुलित भोजन, पारंपरिक खेल, व्यायाम, योग, श्वास अभ्यास, सांस्कृतिक संदर्भ, भाषा



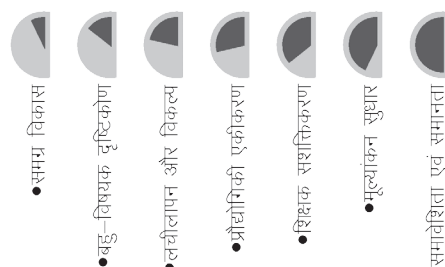
चित्र ३ – समग्र विकास के पांच कोश

विकास और दैनिक जीवन में सामंजस्यपूर्ण व्यवहार से पंचकोश को पोषित किया जा सकता है (एनसीईआरटी, २०२३; सतपथी, २०१८; श्रीवास्तव, २०१२)।

कोशों के पोषण का उद्देश्य एक विद्यार्थी के शारीरिक, भावनात्मक, सामाजिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विशेषताओं को विकसित करना है जो समग्र विकास और आत्म-जागरूकता के साथ मूल्य-आधारित अंतर्दृष्टि भी प्रदान करते हैं (नंदराम एवं अन्य, २०२१; एनसीईआरटी, २०२३)। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२० की समग्र और सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्व विकास की अनुशंसा पर एनसीएफएसई-२०२३ में २१ वीं सदी के जीवन कौशल प्राप्ति, पाठ्यक्रम एवं शिक्षण पद्धति को नया रूप देने हेतु व्यक्तित्व विकास में पंचकोशीय सिद्धांत को आधार माना गया है जिससे विद्यालयी शिक्षा में विद्यार्थियों के समग्र एवं समावेशी शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति संभव हो सके।

शिक्षा द्वारा समग्र विकास हेतु पंचकोश सिद्धांत की एकात्मता-

पूर्व की शिक्षा नीति, १९८६ के ३४ वर्षों के उपरान्त चुनौतीपूर्ण बदलते समाज के लिए पूर्व कैबिनेट सचिव टी. एस. आर. सुब्रमण्यन की अध्यक्षता वाली समिति ने जनवरी २०१५ में नवीन शिक्षा की नीति पर परामर्श प्रक्रिया शुरू की तथा भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) के भूतपूर्व प्रमुख डॉ॰ कृष्णस्वामी कस्तूरीरंगन की अध्यक्षता में मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा गठित समिति ने २०१६ में ४८४ पृष्ठों का राष्ट्रीय शिक्षा नीति सम्बन्धी एक प्रारूप (डीएनईपी- २०१६) जारी किया जिसे २६ जुलाई, २०२० को केंद्रीय मंत्रिमंडल द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२० के रूप में अनुमोदित किया गया। इस राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मूल आधार प्राचीन सनातनी भारतीय ज्ञान और विचार की समृद्ध परम्परा है जिसमें ज्ञान, प्रज्ञा और सत्य की खोज को भारतीय विचार परम्परा और दर्शन में सदा सर्वोच्च मानवीय लक्ष्य समझा गया है (एमएचआरडी, २०२०)। यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति दूरदर्शी दृष्टिकोण और व्यापक सुधारों के साथ भारतीय शिक्षा प्रणाली में एक नए युग की शुरुआत का प्रतीक है जिसके सात स्तम्भों के रूप में समग्र विकास, बहु-विषयक दृष्टिकोण, लचीलापन और विकल्प, प्रौद्योगिकी एकीकरण, शिक्षक सशक्तिकरण, मूल्यांकन सुधार, समावेशिता एवं समानता है (एमएचआरडी, २०२०)।



चित्र ४-राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२० द्वारा अनुशंसित विद्यालयी शिक्षा के सप्तस्तम्भ

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२० का उद्देश्य उच्चतर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्ति एवं भारत को वैश्विक ज्ञान महाशक्ति बनाकर एक जीवंत और न्यायसंगत ज्ञान समाज के रूप में प्रतिष्ठित करना है जिसके क्रियान्वयन हेतु राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-फाउंडेशनल स्टेज-२०२२ (एनसीएफ-एफएस-२०२२) एवं विद्यालय शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-२०२३ (एनसीएफएसई-२०२३) का निर्माण किया गया। एनसीएफ-एफएस-२०२२ मुख्य रूप से आधारभूत चरण एवं एनसीएफएसई-२०२३ शिक्षा के सभी चरणों के सञ्चालन का विस्तार स्वरूप प्रस्तुत

करता है (एनसीईआरटी, २०२२; एनसीईआरटी, २०२३)। एनसीएफएसई-२०२३ भारत में विद्यालयी शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकों और शिक्षण प्रथाओं को अभिकल्प करने के लिए एक व्यापक दिशा-निर्देश के रूप में कार्य करता है जिसमें की गई सिफारिशों में से एक, छात्रों के समग्र विकास के लिए पंचकोश सिद्धांत को शामिल करना है। पंचकोश विकास का सिद्धांत अन्नमय (भौतिक परत), प्राणमय (महत्वपूर्ण ऊर्जा या श्वास परत), मनोमय (मन की परत), विज्ञानमय (बौद्धिक परत) और आनंदमय (आंतरिक स्व) कोशों के माध्यम से मनुष्य के समग्र विकास पर ध्यान केंद्रित करती है (एनसीईआरटी, २०२३)। गुरु-शिष्य परम्परा में विद्यार्थियों के समग्र विकास हेतु पंचकोश सिद्धांत की एकात्मता भविष्य की सुनहरी संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त करती है।

भविष्य हेतु संभावनाएं-

वर्तमान शिक्षा में पंचकोश सिद्धांत का एकीकरण इंद्रियों के ज्ञान के साथ स्वस्थ शरीर, एकाग्र मन एवं स्वस्थ मस्तिष्क के निर्माण की और दिशा-निर्देश करेगा (लॉधे, एवं कराद, २०२०)। एक विद्यार्थी के समग्र विकास के लिए इन पंचकोश को पोषित करना आवश्यक है। एनसीएफएसई-२०२३ में प्रत्येक कोश के लिए विशिष्ट प्रकार के अभ्यास तैयार करने की बात कही गई है। सभी कोश आपस में जुड़े हुए हैं और इसलिए जो गतिविधियाँ मुख्य रूप से एक कोश के लिए हैं, वे अन्य कोशों के विकास में भी योगदान देगी (एनसीईआरटी, २०२३)।

अ. शारीरिक विकास—पंचकोश सिद्धांत में अन्नमय कोश का पोषण शारीरिक चेतना में स्थिरता एवं प्राणमय कोश में जीवन शक्ति को दर्शाता है। अन्नमय एवं प्राणमय कोश के पोषण हेतु स्वास्थ्यवर्धक आहार, स्वस्थ जीवनशैली, शोधन या शुद्धि क्रिया, शीतलीकरण प्रणायाम, श्वास नियंत्रण का अभ्यास, नाड़ी शोधन, कपालभाति तथा विभिन्न आसन जैसे वज्र आसन तथा पद्म आसन, आदि का प्रयोग किया जा सकता है जिसके द्वारा स्वस्थ मांसपेशियां, शारीरिक पुनरोद्धार, तनाव नियंत्रण, जीवन शक्ति का विकास, सहनशक्ति का विकास एवं गहन आंतरिक जागरूकता का विकास संभव होता है। आधुनिक शिक्षा बौद्धिक एवं संज्ञानात्मक वृद्धि पर बल देती है जबकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण संभव है। अन्नमय कोश को पोषित करके इंद्रियों का नियंत्रण और अनुशासन, व्यवस्थित और सामंजस्यपूर्ण विकास एवं दोषों और विकृतियों में सुधार आएगा जो विद्यार्थियों के स्वास्थ्य, कल्याण, रचनात्मकता एवं आत्म-प्रभावकारिता के मार्ग प्रशस्त करेंगे (समुंद्रला, २०२३)।

आ. सामाजिक-भावनात्मक विकास—मनोमय कोश मानसिक चेतना में स्पष्टता का द्योतक है जिसमें विचार, भावनाएँ और इच्छाएँ समाहित हैं। प्रतियोगी समाज में भविष्योंमुखी दबाव के कारण विद्यार्थी मन को एकाग्र नहीं कर पाते जिसके कारण कम उम्र में ही मानसिक अवसाद, द्वन्द एवं राग-द्वेष के शिकार हो जाते हैं। ध्यान, धारणा, योग निद्रा, सुखद संगीत एवं मन को एकाग्र रखने वाले अभ्यास द्वारा मनोमय कोश को पोषित किया जा सकता है। विद्यालय वातावरण मनोमय कोश को पोषित करने में सहायक होगा तो विद्यार्थी अपने विचारों को अभिव्यक्त करने, भावनात्मक विनियमन सिखने और सहानुभूति विकसित करने के योग्य बनेंगे। जिससे स्वस्थ सम्बन्ध, भावनात्मक बुद्धिमत्ता,

स्वस्थ संचार, साझाकरण, संघर्ष समाधान जैसे सामाजिक कौशल एवं सकारात्मक आत्म-छवि को बढ़ावा मिल सकता है (कौशल, २०२३)।

इ. बौद्धिक विकास—विज्ञानमय कोश सहज चेतना में अंतर्ज्ञान और बुद्धि का प्रतीक है जो शारीरिक एवं आध्यात्मिक विकास के मध्य वास्तविक सेतु जैसा है। चिंतनशील अभ्यास, स्वाध्याय, ज्ञान योग, पवित्र ग्रंथों का अध्ययन, दार्शनिक विचारों पर चिंतन, विद्वानों के साथ संवाद, आत्म-चिंतन और आत्म-निरीक्षण द्वारा विज्ञानमय कोश को पोषित किया जा सकता है जिससे सक्रिय अन्वेषण, संज्ञानात्मक विकास, आलोचनात्मक सोच, समस्या-समाधान कौशल, आत्म-खोज, विश्लेषणात्मक क्षमता, अमूर्त विचार, संश्लेषण, तार्किक योग्यता, रचनात्मकता, विवेक शक्ति, अंतर्दृष्टि और जीवन में अर्थ और उद्देश्य की गहरी समझ को बढ़ावा मिलता है। विज्ञानमय कोश को पोषित करने से रटने की जगह बौद्धिक समझ को बढ़ावा मिलता है (एनसीईआरटी, २०२३; कौशल, २०२३)।

ई. आध्यात्मिक विकास—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोश के विकसित होने के बाद आनंदमय कोश की अवस्था आती है। यह विकास की ऐसी अवस्था है जहाँ बालक पूर्णता को प्राप्त करता है जो जीवन एवं शिक्षा का अंतिम उद्देश्य है। मानव विकास का चरमोत्कर्ष, आनंदमय कोश आध्यात्मिक चेतना में आनंद को दर्शाता है। खुशी, प्रेम, करुणा, सहजता, स्वतंत्रता, सौंदर्य बोध तथा आत्म जागरूकता इसके प्रतीक हैं (एनसीईआरटी, २०२३)। एक स्वस्थ शरीर, उचित भावनात्मक संतुलन और गहन ज्ञान के साथ व्यक्तिगत आत्म की सीमाओं से परे उच्च वास्तविकता की समझ से व्यक्ति आनंद, शांति और आध्यात्मिक पूर्णता की गहन अवस्थाओं का अनुभव कर सकता है। आत्म-खोज, भक्ति और पूर्ण समर्पण, सहज आनंद, स्थायी खुशी और आंतरिक संतुष्टि की ओर ले जाते हैं (कौशल, २०२३; समुंद्राला, २०२३)। इस प्रकार पंच कोश मानव अस्तित्व के बहुआयामी विकास एवं आत्म प्रसन्नता की खोज को समझने के लिए एक व्यापक रूपरेखा प्रदान कर सकते हैं।

निष्कर्ष-

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२० के समग्र एवं समावेशी शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एनसीईएफएसई -२०२३ में पंचकोशीय सिद्धांत को आधार माना है जिससे शिक्षा द्वारा एक संतुलित और सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्व का विकास संभव हो सके। पंचकोश सिद्धांत मानव अस्तित्व के पांच कोशों अन्नमय (शारीरिक कोश), प्राणमय (प्राण वायु कोश), मनोमय (मानसिक कोश), विज्ञानमय (बौद्धिक कोश) और आनंदमय (आंतरिक आनंद कोश) के पोषण द्वारा एक विद्यार्थी के शारीरिक, बौद्धिक, भावनात्मक, सामाजिक और आध्यात्मिक विकास के साथ ही पंचकोशों के पोषण को सुविधाजनक बनाने वाली विशिष्ट गतिविधियों को रेखांकित करने की आवश्यकता पर बल देता है। संतुलित आहार, स्वस्थ जीवनशैली, शोधन, शीतलीकरण प्रणायाम, श्वास नियंत्रण का अभ्यास, नाड़ी शोधन, कपालभाति, विभिन्न आसन, पारंपरिक खेल, ध्यान, धारणा, योग निद्रा, चिंतनशील अभ्यास, स्वाध्याय, नियमित व्यायाम और योग के द्वारा पंचकोशों का पोषण किया जा सकता है जिसके द्वारा इन्द्रियों का नियंत्रण, अनुशासन, व्यवस्थित और सामंजस्यपूर्ण विकास, भावनात्मक विनियमन, सक्रिय

अन्वेषण, संज्ञानात्मक विकास, आलोचनात्मक चिंतन, समस्या-समाधान कौशल, विश्लेषणात्मक क्षमता, अमूर्त विचार, संश्लेषण, तार्किक योग्यता, रचनात्मकता, विवेक शक्ति, अंतर्दृष्टि और जीवन के अर्थ और उद्देश्य की गहरी समझ को प्राप्त किया जा सकता है। गुरु-शिष्य परम्परा में प्रत्येक कोश को पोषित करके व्यक्ति आनंद, शांति और आध्यात्मिक पूर्णता की गहन अवस्थाओं का अनुभव कर सकते हैं। आधुनिक जीवनशैली एवं शिक्षा के साथ पंचकोश सिद्धांत की एकात्मता व्यक्तिगत विकास और आत्म-साक्षात्कार के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करती है जिससे पंचकोश सिद्धांत का ज्ञान आज की दुनिया में प्रासंगिक और सुलभ हो जाता है।

*शिक्षाशास्त्र विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
¹y21496002.rs@dhsgsu.edu.in

**शिक्षाशास्त्र विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
²dksarraf@dhsgsu.edu.in

सन्दर्भ :

1. एमएचआरडी. (२०२०)। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२०। ५ अप्रैल, २०२२ को प्राप्त किया गया।
2. एमजीएनसीआरई. (एन.डी.)। ऐक्सप्रियंसल लर्निंग गाँधीजी नई तालीम। ५ अप्रैल, २०२२ को 29.08 indexf.pmd (bamu.ac.in) से प्राप्त किया गया।
3. एनसीईआरटी. (२०२२)। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा फाउंडेशनल स्टेज २०२२। २४ दिसम्बर, २०२३ को प्राप्त किया गया।
4. एनसीईआरटी. (२०२३)। नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क फॉर स्कूल एजुकेशन २०२३। २४ दिसम्बर, २०२३ को प्राप्त किया गया।
5. कपूर, आर. (२०२१)। अंडरस्टैंडिंग द सिस्टम ऑफ एजुकेशन इन द एनसिएंट पीरियड इन इंडिया। ५ जून, २०२३ को https://www.researchgate.net/publication/356536063_Understanding_the_System_of_Education_in_the_Ancient_Period_in_India से प्राप्त किया गया।
6. कृष्णन, पी. (२०२०)। द गुरु शिष्य एप्रोच टू टीचिंग एंड लर्निंग। २४ अप्रैल, २०२४ को <https://goldcoasthindu.wordpress.com/2020/07/04/the-guru-shishya-approach-to-teaching-and-learning/> से प्राप्त किया गया।
7. कौशल, एस. (२०२३)। नेविगेटिंग पंचकोश फॉर न्यू लर्निंग पैराडाइम। नवतिका। २४ दिसम्बर, २०२३ को <https://navtika.in/2023/10/06/unveiling-the-essence-of-modern-pre-school-education-navigating-pancha-kosha-to-embrace-new-learning-paradigms/> से प्राप्त किया गया।
8. द्विवेदी, ए. के. (२०१६)। वैदिक एजुकेशन सिस्टम फॉर मॉडर्न टाइम। जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंस, २४(१), ८१- ८४। ५ नवंबर, २०२३ को https://www.academia.edu/38271949/_Vedic_Education_System_for_Modern_Time_?sm=b से प्राप्त किया गया।
9. धाकड़, एम. के. (२०१८)। अ स्टडी ऑफ द कोनसेप्ट ऑफ पर्सनालिटी इन द भगवत गीता। मास्टर थीसिस। २१ मार्च, २०२३ को <https://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/410333> से प्राप्त किया गया।
10. नागेश्वरराव, एन. (२०२३)। अनलॉकिंग फुल पोटेन्सियल: एक्सप्लोरिंग द इम्पैक्ट ऑफ एनईपी- २०२० ऑन होलिस्टिक पर्सनालिटी डेवलपमेंट इन स्टूडेंट्स। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ नोवल रिसर्च एंड डेवलपमेंट (आईजेएनआरडी), ८ (७)। १६ जुलाई, २०२४ को <https://www.ijnrd.org/papers/IJNRD2307128.pdf> से प्राप्त किया गया।

11. नंदराम एवं अन्य. (२०२१)। डिलिवेरिंग होस्टिलिस्टिक एजुकेशन फॉर कन्टेम्परी टाइम्स: वनस्थली विद्यापीठ एंड द गुरुकुल सिस्टम। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ बिजनस एंड ग्लोबलाइजेशन, २६ (२)। ७ जनवरी, २०२३ को <https://www.inderscienceonline.com/doi/abs/10.1504/IJBG.2021.118235> से प्राप्त किया गया।
12. भगत, एन. वी. (२०१४)। गुरु शिष्य परम्परा। ग्लोबल जर्नल ऑफ एप्लाइड सोशल, पोलिटिकल, स्पोर्ट्स एंड साइंस। ११ दिसम्बर, २०२२ को https://www.academia.edu/37918212/guru_shishya_parampara से प्राप्त किया गया।
13. मालू, के. सी. (१९९९)। भारत में शिक्षा: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि। मूल प्रश्न, २६-४१। ०५ जनवरी, २०२४ को <http://anuvadasampada.azimpremjiuniversity.edu.in/id/eprint/3110> से प्राप्त किया गया।
14. महर्षि सान्दिपनी राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान (एमएसआरवीवीपी). (एन.डी.)। शिक्षा मंत्रालय, गवर्मेंट ऑफ इंडिया। २२ अप्रैल, २०२३ को <https://msrvvp.ac.in/index.html> से प्राप्त किया गया।
15. लोंधे, सी. एवं कराद, एम. टी. (२०२०)। स्कूल ऑफ होलिस्टिक डेवलपमेंट: अ केस स्टडी, अ यूनिक प्रोग्राम ऑफ लाइफ ट्रांसफॉर्मेशन थ्रू एजुकेशनल मेटामोर्फोसिस ऑफ स्टूडेंट्स। यूरोपियन जर्नल ऑफ टीचिंग एंड एजुकेशन, २ (२), १९१-२०१. ११ अगस्त, २०२३ को https://www.academia.edu/97835277/School_of_Holistic_Development_A_Case_Study से प्राप्त किया गया।
16. सतपथी, बी. (२०१८)। पंचकोश थ्योरी ऑफ पर्सनालिटी। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इंडियन साइकोलॉजी, ६ (२)। ११ अगस्त, २०२३ को <https://ijip.in/wp-content/uploads/2020/06/18.01.105.20180602.pdf> से प्राप्त किया गया।
17. समुंद्राला, एस. (२०२३)। पंचकोश सिस्टम फ्रॉम एनसिएंट इंडियन विजडम इनटू मॉडर्न एजुकेशन। लिंकडीन. कॉम। ७ अगस्त, २०२३ को <https://www.linkedin.com/pulse/pancha-kosha-system-from-ancient-indian-wisdom-modern-samudrala> से प्राप्त किया गया।
18. सेल्वामणी, पी. (२०१९)। गुरुकुल सिस्टम: एन एनसिएंट एजुकेशनल सिस्टम ऑफ इंडिया। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एप्लाइड सोशल साइंस, ६ (६), १६२०-१६२२। ३० जून, २०२३ को http://scientificresearchjournal.com/wp-content/uploads/2019/07/Social-Science-6_A-1620-1622-Full-Paper.pdf से प्राप्त किया गया।
19. श्रीवास्तव, के. (२०१२)। कांसेप्ट ऑफ पर्सनालिटी: इंडियन पर्सपेक्टिव। इंडस्ट्रीयल साइंकेटरी जर्नल, २१ (२)। ७ मई, २०२३ को <https://www.ncbi.nlm.nih.gov/pmc/articles/PMC3830173/> से प्राप्त किया गया।
20. श्रीवास्तव, पी. एस. (२०१६)। एन्सुरिंग पर्सनालिटी डेवलपमेंट थ्रू भगवत गीताज़ टीचिंग इंटरनेशनल जर्नल ऑफ रिसर्च इन सोशल साइंस, ६ (११)। २१ मार्च, २०२३ को https://www.ijmra.us/project%20doc/2016/IJRSS_NOVEMBER2016/IJMRA-10686.pdf से प्राप्त किया गया।
21. हटंगडी, वी. (२०२३)। रिलेशनशिप बिटवीन सेवन चक्र ऑफ ह्यूमन बॉडी विथ मस्लोव्स नीड हेरारकी एंड फ्रायड मोरलिटी प्रिंसिपल्स। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ नॉवल रिसर्च एंड डेवलपमेंट (आईजेएनआरडी), ८ (११)। ६०४-६०७। ११ नवंबर, २०२३ को <https://www.ijnrd.org/papers/IJNRD2311273.pdf> से प्राप्त किया गया।

बच्चों की घरेलू भाषा और शिक्षक

छाया राजोरा

सारांश :

यह लेख मानक हिंदी सीखने में बच्चों की घरेलू भाषा अवधी की भूमिका पर शिक्षकों के दृष्टिकोण धारणाओं एवं शिक्षण शास्त्रीय पद्धतियों का विवरण प्रस्तुत करता है। यह लेख एक ऐसे शोध का अंश है जिसमें उत्तर प्रदेश के लखनऊ एवं बहराइच जिलों में प्रारंभिक कक्षाओं में पढ़ा रहे पचास शिक्षकों ने भाग लिया। सभी शिक्षक दोनों जिलों के ग्रामीण और शहरी इलाकों के स्कूलों में पढ़ा रहे थे। शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों की घरेलू भाषा अर्थात् अवधी को असहज करार दिया और विभिन्न स्तरों पर गलत तथा हीन माना। उन्होंने अवधी को देहाती करार दिया और इसे विद्यालयी भाषा के स्तर पर लाने के लिए गहन सुधारात्मक उपायों की आवश्यकता पर बल दिया। विद्यार्थियों के वाचन को बदलने के लिए शिक्षक उन्हें लगातार शुद्ध और सही भाषा का प्रयोग करने के लिए टोकते रहते हैं। अवधी के प्रति तिरस्कार पूर्ण रवैये के कारण शिक्षक बच्चों के समृद्ध मौखिक अनुभवों को नहीं पहचानते और मानक भाषा का उपयोग करने पर जोर देते हैं।

बीज शब्द : अवधी, घरेलू भाषा, देहाती, लखनऊ, बहराइच, शास्त्रीय पद्धति।

परिचय

शैक्षिक विमर्श में भाषा का प्रश्न काफी जटिल है। हाल के दशकों में ही इस पर अकादमिक जांच-पड़ताल होनी शुरू हुई है। ऐसे दो महत्वपूर्ण मुद्दे हैं जो भाषा की शैक्षणिक पड़ताल में उभरते हैं: पहला, बच्चों को उनकी भाषा में पढ़ाने का, एवं दूसरा, उन्हें मानक भाषा पढ़ाना। उत्तरी भारत में हिंदी एक बोल-चाल की भाषा है और विद्यालयों में एक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। साथ ही, यह अन्य विषयों के लिए शिक्षा के माध्यम के रूप में भी काम करती है। उत्तरी भारत के विद्यालयों में पढ़ने वाले काफी सारे बच्चे घर पर अनिवार्यतः बोल-चाल की भाषा के रूप में हिंदी का उपयोग नहीं करते लेकिन टी.वी. और इन्टरनेट के कारण उनके माहौल में वह बनी रहती है। बड़ी संख्या में बच्चे घर पर अलग भाषाओं का उपयोग करते हैं जो विद्यालयी हिंदी से भिन्न होती हैं (कुमार, 2001)। लेकिन विभिन्न भाषाई पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चों को विद्यालयों में पहले दिन से ही हिंदी में पढ़ाया जाता है।

विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हमेशा से एक जटिल मुद्दा रहा है। कई सरकारी नीतियों ने इस सन्दर्भ में मातृ भाषा के उपयोग के महत्व को रेखांकित किया है। 1960 के दशक से ही

विभिन्न नीतियां और आयोग प्राथमिक स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा या घरेलू भाषा के उपयोग पर लगातार जोर देते रहे हैं। इन सभी ने एक मत से बच्चे के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में भाषाओं की बहुलता को पहचानने की आवश्यकता पर बल दिया है एवं शैक्षिक संवाद में भाषा के जटिल मुद्दे को संबोधित किया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 ने शिक्षा प्रदान करने का माध्यम मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषा को बनाया था (मेगनाथन, 2015, पृ 8; महापात्रा और एंडरसन, 2022, पृ 2)। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (भा. स.) प्राथमिक स्तर पर एवं उससे भी आगे, जहां तक संभव हो, मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा के महत्व पर बल देती है।

घरेलू भाषा और मानक भाषा के अंतर्संबंध का मुद्दा काफी जटिल है। हिंदी और अवधी के विशिष्ट संदर्भ में इस अंतर्संबंध का अध्ययन किया गया है जिसमें बच्चे की भाषा पर शिक्षकों के दृष्टिकोण और उनके शिक्षण शास्त्रीय पद्धतियों का विवरण शामिल है। यह लेख बच्चों की घरेलू भाषा अवधी, और मानक भाषा सीखने में उसकी भूमिका पर शिक्षकों के दृष्टिकोण का वर्णन करता है। बच्चों की घरेलू भाषा के संबंध में शिक्षकों की धारणाओं का विवरण भी प्रस्तुत किया गया है।

इस अध्ययन में उत्तर प्रदेश के लखनऊ एवं बहराइच जिलों में प्रारंभिक कक्षाओं में पढ़ा रहे पचास शिक्षकों ने भाग लिया। वे निजी और सरकारी विद्यालयों में पढ़ा रहे थे और आगे लेख में उन्हें तदनुसार निजी विद्यालय शिक्षक (इसके बाद निविशि के रूप में कूटबद्ध) और सरकारी विद्यालय शिक्षक (इसके बाद सविशि के रूप में कूटबद्ध) के रूप में वर्गीकृत किया गया है। सभी शिक्षक दोनों जिलों के ग्रामीण और शहरी इलाकों के स्कूलों में पढ़ा रहे थे।

अवधी इंडो-आर्यन भाषा वर्ग का हिस्सा है। इसका प्रयोग मुख्य रूप से भारत के उत्तर प्रदेश के मध्य भाग (जिसे अवध क्षेत्र भी कहा जाता है) और नेपाल के कुछ हिस्सों में किया जाता है। अवध प्राचीन काल से ही एक महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा है (सक्सेना, 1937, पृ. 2)। वर्तमान में उत्तर प्रदेश के सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, बहराइच, गोंडा, सुल्तानपुर, बाराबंकी, रायबरेली, उन्नाव, लखनऊ, श्रावस्ती, बलरामपुर, सिद्धार्थ नगर, अम्बेडकर नगर, प्रयागराज (इलाहाबाद), मिर्जापुर और जौनपुर जिले के कुछ हिस्से अवध क्षेत्र में शामिल किए जाते हैं (भसीन, 2018, पृ. 2)। ग्रियर्सन (1904, पृ. 9) और सक्सेना (1937, पृ. 1) के अनुसार औधी, पूरबी, कोसली और बैसवारी अवधी भाषा के अन्य नाम थे।

खंड 1: बच्चों के भाषाई ज्ञान-संग्रह को बदलने के लिए शिक्षण

शिक्षकों के अनुसार अवधी स्कूली हिंदी से विभिन्न स्तरों पर भिन्न होती है। उनके अनुसार अवधी बोलने वाले बच्चों की भाषा और वाक्य-विन्यास गलत होता है और वे अपनी घरेलू भाषा के अनुरूप जातिवाचक संज्ञा, सर्वनाम और क्रिया का उपयोग करते हैं। निम्नलिखित तीन उप-खंडों में शिक्षकों के दृष्टिकोण का गहराई से विश्लेषण किया गया है।

1) बच्चों की भाषा का विवरण

सभी सविशि ने कहा कि उनके विद्यार्थी विद्यालय आ कर शुरू में क्षेत्रीय भाषा अवधी का

इस्तेमाल करते हैं। इस मामले में शिक्षकों की प्रतिक्रियाओं से मुद्दों की एक समृद्ध शृंखला बनती है जो तालिका 1 में प्रस्तुत की गई है।

तालिका 1: विद्यालय में प्रवेश के समय बच्चों की भाषा पर शिक्षकों द्वारा उठाये गए मुद्दे

	सविशि		निविशि		कुल	
	सं.=30	%	सं.= 20	%	सं.= 50	%
अवधी शब्दावली के साथ मुख्य रूप से हिंदी भाषा का प्रयोग	10	33.3	10	50	20	40
केवल अवधी का प्रयोग	14	46.6	1	5	15	30
बच्चे की भाषा में सुधार करना होता है	12	40	2	10	14	28
अवधी और खड़ी बोली के मिश्रित रूप का प्रयोग करते हैं	2	6.6	1	5	3	8
बच्चे की भाषा शिक्षक समझ नहीं पाते	4	13.3	—	—	4	8
बच्चे हिंदी ही बोलते हैं	2	6.6	1	5	3	6
कुछ बच्चे अंग्रेजी वाक्यांश बोलते हैं	—	—	3	15	3	6

प्रतिभागी शिक्षकों में 40% ऐसे थे जिन्होंने विद्यालय में प्रवेश के समय अपने विद्यार्थियों को मुख्य रूप से अवधी शब्दों के साथ हिंदी का प्रयोग करते हुए पाया। हालाँकि, सरकारी और निजी विद्यालय के शिक्षकों की राय के बीच उल्लेखनीय अंतर था। 46.6% सविशि के अनुसार बच्चे विद्यालय में बातचीत करने के लिए अवधी का इस्तेमाल करते हैं, जबकि केवल 5% निविशि ने बच्चों को अवधी शब्दावली का बहुतायत में इस्तेमाल करते देखा था। यहाँ ध्यान देने लायक आंकड़ा है कि 40% सविशि और 10% निविशि का मानना था कि बच्चों की भाषा में सुधार की आवश्यकता है क्योंकि यह विद्यालय में उपयोग की जाने वाली मानक भाषा से अलग होती है। 13.3% सविशि थे जिन्होंने कहा कि बच्चों की भाषा अलग है इसलिए उनकी अभिव्यक्ति को समझना और कक्षा में संवाद कर पाना मुश्किल हो जाता है। शिक्षकों ने बार-बार कहा कि अवधी मानक हिंदी से अलग है। वह स्कूली हिंदी से शब्दावली, वाक्य-विन्यास और उच्चारण नियमों के विभिन्न स्तरों पर अलग है। तालिका 2 शिक्षकों द्वारा शब्दावली के स्तर पर बताये गए अंतर को प्रस्तुत करती है।

तालिका 2: बच्चों की बोली में शिक्षकों द्वारा पहचाने गए अवधी के शब्द

अवधी	हिंदी	अवधी	हिंदी
छगड़ी	बकरी	गईया	गाय
बजरवा	बाजार	गिरगवा	गिर गया
पहुना	रिश्तेदार	वनसठ	उनसठ
नीक	अच्छा	बहा	फेंक

गेंदा	गेंद	बकायन	नीम
भात	चावल	दारहे / दाहे	पास
दुई	दो	नियरे	पास
गोड़	पैर	तबिया	थाली
बयार	हवा	दस्तना	चिमटा
बहारना	झाड़ना	मिट्टा	झाड़ना
बल्टिया	बाल्टी	मढई	कच्चा
बिरवा	पेड़	किलवा	केला
भू	मिट्टी	घाम	धूप
पल्ला / किवाड़	दरवाजा	घर	कमरा
रबड़िया	रबड़		

तालिका 2 में वे शब्द हैं जिनमें बच्चों द्वारा इस्तेमाल अवधी के रूप और हिंदी रूप में अंतर देखा जा सकता है। शिक्षकों ने निराशा भरे स्वर में कहा कि अवधी की एक विशिष्ट शब्दावली है क्योंकि इसमें हिंदी की तुलना में जातिवाचक संज्ञा और क्रिया अलग-अलग होती हैं, इस कारण वे शुरुआत में विद्यार्थियों के साथ संवाद करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। बहराइच के कई सविशि ने इस कारक को शैक्षणिक कारणों से बच्चों के साथ बात कर पाने में एक बड़ी बाधा के रूप में देखा। उनके शब्दों में:

शुरुआत में तो हमारी भाषा को समझ ही नहीं पाए, ना हम इनकी। वो कहते छगड़ी चराने जा रहा हूँ। मैं क्या सोचूँ छगड़ी क्या है?

शुरुआत में तो समझने में दिक्कत आई जो यहाँ की लोकल भाषा है, जो इनके घर की क्षेत्रीय भाषा है, उसमें कुछ चीजों में अंतर था। जैसे हम किसी चीज को फेंक देते हैं तो ये कहते हैं बहा दिया। ये सब चीजें हमको समझ नहीं आती थी।

शिक्षकों ने विद्यार्थियों को अपनी तरह मानक भाषा को समझने और उपयोग करने में असमर्थ माना। उन्होंने बच्चों की घरेलू भाषा के बारे में बात करते समय लगातार अप्रिय लहजे का इस्तेमाल किया जो कि उनकी अरुचि और उदासीनता को चित्रित कर रहा था। सविशि और निविशि दोनों ने बच्चों की भाषा को देहाती कहकर संबोधित किया। एक प्रासंगिक अभिव्यक्ति है :

आपको पता ही है देहाती, गाँव की भाषा कैसी होती है, वैसी ही बोलते हैं।

जिस हाव-भाव के साथ शिक्षक ने देहाती शब्द का प्रयोग किया उसमें अवधी बोलने वाला व्यक्ति असभ्य और शालीनता के बिना बात करने वाले की तरह चित्रित हो रहा था। इस तरह के कई अपमानजनक विशेषणों का प्रयोग शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों की भाषा का वर्णन करते हुए किसी न किसी संदर्भ में किया। उनकी अभिव्यक्तियाँ हमें भाषा के विशिष्ट रूपों के मुद्दे पर ले जाती हैं जो एक

औद्योगिक और आधुनिक संस्थागत ढांचे में वांछनीय हैं। इस ढांचे के तहत एक समूह की बोली को हीन करार दिया और उसे एक सभ्य समाज के दायरे से बाहर माना (ओर्सिनी, 2002)। उदाहरण के लिए, शिक्षकों ने अवधी की जातिवाचक संज्ञाओं को अपरिष्कृत के रूप में वर्गीकृत किया क्योंकि वह विद्यालय की भाषा के मानकों से अलग थीं।

2) वाक्य-विन्यास: पूर्वसर्ग और लिंग

शिक्षकों ने बच्चों की घरेलू भाषा और विद्यालयी भाषा के बीच वाक्य-विन्यास, पूर्वसर्ग और लिंग अंतरों को विशेष माना। उन्होंने अवधी वाक्य विन्यास को गलत माना और सोचा कि उनके विद्यार्थी सही वाक्य बनाने में असमर्थ हैं। जब एक शिक्षक ने बच्चे से उसकी अनुपस्थिति के बारे में पूछा, तो उस बच्चे का उत्तर इस सन्दर्भ में एक सटीक उदाहरण प्रस्तुत करता है:

शिक्षक: तुम कल स्कूल क्यों नहीं आये थे ?

बच्चा: हम हैरान थे। (हिंदी अर्थ – मैं बीमारी के कारण परेशानी में था।)

बच्चे का उत्तर सुनकर शिक्षक चौंक गए क्योंकि इस वाक्यांश का अर्थ मानक हिंदी में बिल्कुल अलग है। अन्य शिक्षकों ने भी जोर देकर कहा कि बच्चों की घरेलू भाषा के शब्द अजीबोगरीब होते हैं और वाक्य संरचना गलत होती है। अवधी में कर्ता का प्रयोग किए बिना वाक्यों का अर्थपूर्ण सृजन और प्रयोग संभव है, लेकिन, एक हिंदी शिक्षक इसे अनुचित अभिव्यक्ति मानेंगे। तालिका 3 हिंदी और अवधी की अलग वाक्यात्मक अभिव्यक्तियों को प्रस्तुत करती है जो शिक्षकों ने बताईं।

तालिका 3: वाक्यात्मक अंतर के उदाहरण

अंतर	अवधी	हिंदी	अवधी	हिंदी
ध्वनियों का मेल	जयेबे, पानी पी आई ।	जाते हैं, पानी पी कर आते हैं ।	सब लोग उका भात खायेक दहिनी ।	सब लोगों ने उसको चावल खाने के लिए दिए ।
सर्वनाम	उ दिन रामकय जनम भवा रहय ।	उस दिन राम का जन्म हुआ था ।	उ सैतानी करत रहय ।	वह शैतानी करता रहता था ।
वाक्य के स्तर पर	हियाँ आओ ।	इधर आओ ।	अट गए?	पहुँच गए ?
	बिहान भरे ।	उस दिन ।	खींच दिया, छांट दिया ।	कपड़ा धो दिया है ।

उपरोक्त अभिव्यक्तियों से पता चलता है कि हिंदी में वाक्य की प्रत्येक इकाई अलग होती है जबकि अवधी में ध्वनियों का उच्चारण अलग-अलग नहीं होता। कुछ ध्वनियाँ अपने से पिछली ध्वनि में मिल जाती हैं और एक इकाई के रूप में बोली जाती हैं। ध्वनियों का यह मिलन अवधी को एक

खास प्रारूप देता है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप ध्वनियाँ या तो जुड़ती हैं या एक नया शब्द बनाने के लिए बदल जाती हैं (सक्सेना, 1937, पृ. 93)। इसलिए एक शहरी हिंदी भाषी के लिए अवधी भाषा गीतात्मक प्रतीत होती है क्योंकि ध्वनियाँ आपस में घुली-मिली और जल्दी-जल्दी सुनाई आती हैं। जबकि, हिंदी में हर ध्वनि अलग और स्पष्ट सुनाई आती है। मानक हिंदी में वाक्य के प्रत्येक भाग को स्पष्ट रूप से उच्चारित किया जाता है, वहीं अवधी में विभिन्न शब्दों के अंत और शुरुआत की ध्वनियों का मेल हो जाता है। अवधी भाषा में एक नाटकीय प्रतिपादन नहीं होता, जिस पर भारतीय शिक्षक अक्सर हिंदी कक्षाओं में ज़ोर देते हैं (कुमार, 2009; सिन्हा, 2012)। शिक्षकों ने इन अंतरों को हीनता का सूचक माना, केवल अंतर नहीं।

तालिका 3 में यह भी देखा जा सकता है कि हिंदी सर्वनाम अवधी सर्वनाम से अलग होते हैं। हिन्दी सर्वनाम 'वह' अवधी में 'उ' हो जाता है और सर्वनाम 'उसको' 'उका' बन जाता है। यह उल्लेखनीय है कि अवधी में हिन्दी की तरह सहायक क्रिया नहीं होती और इसके लिए वक्ता भिन्न-भिन्न सहायक क्रियाओं का प्रयोग करते हैं। स्कूली हिंदी की संस्कृति में गहराई से डूबे हुए शिक्षक को उपरोक्त विशेषताओं के कारण एक अवधी-भाषी बच्चे का वाक्य-विन्यास गलत लगता है। शिक्षकों की धारणा में गैर-हिंदी परसर्गों, सहायक क्रियाओं और शब्दावली का प्रयोग सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न करता है। इसलिए उन्हें विद्यार्थियों को बार-बार कहना पड़ता है कि वाक्य को सही ढंग से बनाएं और मानक शब्दावली का उपयोग करें। सभी शिक्षकों ने एक मत से कहा कि वे प्रारंभिक कक्षाओं से ही बच्चों को घरेलू भाषा के प्रयोग करने पर टोकते हैं और उन्हें मानक स्तर पर लाने के लिए हस्तक्षेप करना पड़ता है। एक व्यथित सविशि ने निम्नलिखित उदाहरण दिया:

बिल्कुल वाक्य बनाने में तो समस्या आती है। मैंने एक शब्द दे दिया 'पेड़' पर वाक्य बनाओ तो ये बच्चे अगर लिखेंगे 'आम पेड़ बगीचे लगा है' या 'पेड़ आम लगा है', 'बगीचा पेड़ लगा है'। इस तरीके से पूर्वसर्ग में इनकी गलतियाँ होती हैं कि शब्द को कैसे जोड़ना है। वो शब्द समझ गए 'आम' समझ गए लेकिन कहाँ पर वाक्य को जोड़ा है वो समझ ही नहीं पाए।

यह सविशि विद्यार्थियों की गलत वाक्य संरचना पर बात करते हुए भड़क गयीं और उन्होंने कहा कि बच्चे हिंदी परसर्गों और विभक्तियों को प्रयोग नहीं करते। वे गलत वाक्य बनाते हैं। विभिन्न परसर्गों एवं विभक्तियों का प्रयोग हिन्दी भाषा की विशेषता है, परन्तु अवधी में इनके न होने के कारण बच्चे विद्यालय के प्रारम्भिक दिनों में उनका प्रयोग सही से नहीं कर पाते। ज़ाहिर है, वह उनके लिए एक नया काम होता होगा जिसकी उम्मीद शिक्षक पहले दिन से रखते हैं लेकिन, उसे सिखाते नहीं हैं। वे इसको सिखाने लायक मुद्दा भी नहीं मानते हैं। शिक्षक केवल निम्नलिखित वाक्यों को सार्थक और सही मानेंगे।

बगीचे में पेड़ लगा है।

पेड़ पर आम लगा है।

आम का पेड़ बगीचे में लगा है।

33.3% सविशि ने बताया कि बच्चे हिंदी में वाक्य बनाते समय लिंग नियमों की गलती करते हैं। प्रख्यात भाषाविद् बाबू राम सक्सेना (1937, पृ. 5) के अध्ययन से पता चलता है कि अवधी में लिंग नियम लचीले होते हैं जबकि हिंदी में तुलनात्मक रूप से जटिल होते हैं। ये नियम संज्ञाओं, क्रियाओं और परसर्गों के उपयोग को प्रभावित करते हैं और हिंदी भाषा को एक नियम-शासित प्रारूप देते हैं। उल्लेखनीय है कि हिंदी भाषा में दो लिंग होते हैं – पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। हिंदी भाषा में क्रिया के रूप और वाक्य संरचना को निर्धारित करने में संज्ञा का लिंग और संख्या एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं (केलॉग, 1893; ओल्फेन, 1975; हॉल, 2016; कटाविक, 2024)। उदाहरण के लिए, हिंदी क्रियाएं जैसे देख, खा, भाग आदि यदि एकवचन पुल्लिंग के साथ प्रयोग की जाएं तो वे 'आ' ध्वनि के साथ समाप्त होंगी किन्तु यदि इनका प्रयोग एकवचन स्त्रीलिंग के साथ किया जाए तो 'ई' ध्वनि के साथ समाप्त होंगी। इसे निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है:

रोहन आम खाता है।

मोनिका आम खाती है।

इसके साथ ही, अवधी में विभक्तियों का प्रयोग नहीं होता। इसके फलस्वरूप, बच्चों की भाषा में वाक्य-विन्यास प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए, उपरोक्त अभिव्यक्ति हिंदी में भूतकाल में निम्न प्रकार से व्यक्त की जाएगी:

मोनिका ने रोटी खाई।

जबकि एक अवधी वक्ता इसे निम्न रूप में व्यक्त करेगा:

मोनिका रोटी खाया।

इस प्रकार अवधी भाषा में की गई उपरोक्त अभिव्यक्ति में 'ने' विभक्ति नहीं आई और क्रिया में लिंगानुसार परिवर्तन नहीं हुआ। वाजपेयी (1957) के पथ प्रदर्शक कार्य ने दर्शाया कि 'ने' विभक्ति का प्रयोग हिंदी भाषा की एक विशिष्टता है जो अन्य कई उत्तर भारतीय भाषाओं में नहीं पाई जाती। इसके फलस्वरूप, एक अवधी वक्ता की वाक्य रचना हिंदी श्रोता को गलत या अधूरी लगती है। तुलसी दास की रचना रामचरितमानस में भी इस तरह के उदाहरण मिलते हैं। जैसे कि: मरम बचन जब सीता बोला (वाजपेयी, 1957, पृ. 26)।

शिक्षकों ने बताया कि अवधी में बात करते समय विद्यार्थी स्त्रीलिंग और पुल्लिंग नियमों का ठीक से प्रयोग नहीं कर पाते। उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में इस समस्या को व्यक्त किया:

यहाँ तक कि वो पुरुष के लिए भी 'गयी', 'रही' इस्तेमाल करते हैं, उसको पुरुष, महिला में अंतर बताना मुश्किल हो जाता है। कई बार बताओ, पुरुष के लिए 'था' और महिला के लिए 'थी' इस्तेमाल करना है...

'ता', 'ती' का प्रयोग करना नहीं आता है। लड़की के पीछे 'ता' लगा दिए और लड़के के पीछे 'ती' लगा दिया।

शिक्षक बच्चों के वाचन के साथ-साथ लेखन में लिंग-सम्बन्धी 'गलतियों' को लगातार

¹रामचरितमानस अवधी भाषा में तुलसीदास द्वारा 16वीं शताब्दी में रचित एक महाकाव्य है।

ठीक करते हैं और वे विद्यालय के पहले दिन से ही ऐसा करना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार लिंग शब्दावली का लचीलापन, जो कि अवधी की विशेषताओं में से एक है, एक शिक्षक की नजर में कक्षायी परेशानी बन जाती है। शिक्षक इसे एक अस्थायी विशेषता नहीं मानते। वे इंतजार नहीं करना चाहते हैं और इस भरोसे को नहीं बनाए रख पाते कि कक्षा में मानक हिंदी का कुछ समय तक उपयोग करने से बच्चे उसके अनुरूप लिंग-नियमों का ज्ञान अर्जित कर लेंगे। हिंदी और इसकी बोलियों में व्याकरणिक लिंग के उपयोग पर हैरिस (1968) ने अपने शोध में रेखांकित किया कि बोलचाल की भाषा और मानक हिंदी में लिंग नियम के उपयोग में अंतर होता है। हिंदी भाषा की बोलियों में लिंग-नियमों का पालन हिंदी की अपेक्षा असंगत है (पृ. 26)। दूसरी तरफ, हिंदी भाषा में वाक्य बनाने के लिए संज्ञा-लिंग वर्गीकरण से सम्बंधित नियम सख्त और जटिल हैं। इसीलिए अवधी-भाषी बच्चे बोलते समय हिंदी के पारंपरिक लिंग नियमों का उपयोग करते समय संघर्ष करते हैं। उनकी भाषा के नियम भिन्न हैं। अवधी बोलते समय पुल्लिंग कर्ता के लिए स्त्रीलिंग पहलू-चिन्हक का भी इस्तेमाल किया जा सकता है और इसी प्रकार स्त्रीलिंग कर्ता के लिए पुल्लिंग पहलू-चिन्हक का भी प्रयोग कर सकते हैं। प्रतिभागी शिक्षक इस भाषाई विशेषता से अनभिज्ञ और अछूते रह गए। हालाँकि, यह भारत के अधिकांश शिक्षकों की सामान्य प्रवृत्ति है कि वे बोलचाल की भाषाओं की विशेषताओं को सिर्फ त्रुटियों के रूप में ही देखते हैं। फिर भी, यह विचारणीय मुद्दा है कि रामचरितमानस जैसे महाकाव्य के बावजूद अवधी का संस्कार उसकी भूमि पर खड़े स्कूलों में ही तिरस्कार का सामना कर रहा है और उसका इस्तेमाल करने वालों पर हीनता आरोपित हो रही है।

3) उच्चारण

यह उपखंड विद्यार्थियों की उन त्रुटियों को प्रस्तुत करता है जिनकी चर्चा शिक्षकों ने विस्तार से की। शिक्षक बच्चों के उच्चारण को अशुद्ध मानते हैं जो तालिका 4 में प्रस्तुत हैं:

तालिका 4: हिंदी और अवधी में उच्चारण में अंतर

अवधी	हिंदी	अवधी	हिंदी
साम	शाम	आवस्यक	आवश्यक
सछम	सक्षम	उतकर्स	उत्कर्ष
बारिस	बारिश	नखलऊ	लखनऊ
पिरिया	प्रिया	लाम	राम
जोस	जोश	सरक	सड़क
छमा	क्षमा	परेंठा	परांठा
कोसिस	कोशिश	परकास	प्रकाश
डिल्ली	दिल्ली	कुत्ती	कुश्ती
कुती	कुटीर	भुंजी	भुनी

शिक्षकों ने यह पाया कि बच्चे कुछ खास स्वरों एवं व्यंजनों का उच्चारण करने में अक्षम होते हैं जैसे कि ल, ड, एवं संयुक्ताक्षर क्ष, प्र। सक्सेना (1937) के अनुसार, संयुक्ताक्षर जैसे क्ष, प्र अवधी

में नहीं पाए जाते (पृ. 23)। फलस्वरूप, स्कूल में विद्यार्थी काफी वर्षों तक संयुक्त ध्वनियों वाले शब्दों का उच्चारण करने में असमर्थ होते हैं। यह उनके लिखित कार्य में भी परिलक्षित होता है। शिक्षकों की धारणा में, बच्चे लिखने में गलतियाँ करते हैं क्योंकि वे शब्दों का सही उच्चारण नहीं कर पाते। उन्होंने अपनी धारणाओं को इस प्रकार व्यक्त किया:

सही बोलते नहीं हैं, फिर जैसा बोलते हैं वैसा लिख देते हैं।

बच्चे शब्द नहीं बोल पाते, प्योर नहीं बोलते, अंतर नहीं कर पाते श— स, र नहीं बोलते, पेरेंट्स ही यूज नहीं करते तो बच्चे क्यों करेंगे, तो हम यह कोशिश करते हैं कि बच्चे सही बोलें।

वैद और गुप्ता (2002) के अनुसार हिंदी शब्दांशों के उच्चारण (syllabic) एवं वर्णमालायी (alphabetic) नियमों से चलती है (पृ. 682)। हिंदी में ऐसे कई शब्द हैं जिनका उच्चारण उनकी वर्तनी से हू—ब—हू नहीं मिलता है। उदाहरण हैं: कौआ, भैया, ग्यारह, आदि। इसके अलावा एक और पहलू है, उदाहरण के लिए 'कमल' शब्द में क और म एवं म और ल के बीच में 'अ' ध्वनि है जो चिह्नित नहीं की जाती। जबकि, शिक्षकों के बीच यह एक सामान्य धारणा है कि विद्यार्थी के मस्तिष्क में किसी भी बोले गए हिंदी के शब्द के रूप का सीधा संबंध उसकी वर्तनी से होता है। वे किसी शब्द की वर्तनी और उच्चारण के बीच एक सम्पूर्ण जुड़ाव देखते हैं और इसे एक सरल कड़ी मानते हैं। वे वर्तनी की असली समझ से परे हैं कि वह किसी भी भाषा के लिखित रूप की परंपराओं से आती है (कौलमास, 2003)। जब अवधी और हिंदी जैसी दो भाषाओं के बीच पारस्परिक क्रिया की बात आती है, तो किसी शब्द के उच्चारण और वर्तनी के बीच का संबंध और भी जटिल हो जाता है। कक्षा पहली और दूसरी में हिंदी वर्तनी से परिचित नहीं होने के कारण विद्यार्थी कई संभावित उच्चारण और वर्तनी अपने मस्तिष्क में बनाते होंगे। प्रारंभिक कक्षाओं में वे परिचित होने की प्रक्रिया से गुजरते हैं, लेकिन इससे पहले कि वे इस प्रक्रिया पर पकड़ बना पाएं, उनके शिक्षक उन्हें गलतियाँ करने वाला घोषित कर देते हैं। शिक्षकों ने गलत उच्चारण के बारे में अपनी पीड़ा ज़ाहिर की और इसके लिए बच्चों के सामाजिक परिवेश को ज़िम्मेदार ठहराया। उनके अनुसार ऐसी त्रुटियाँ बच्चों के घर के माहौल की कमी हैं जिनके कारण बच्चे सही ध्वनि और शब्द नहीं बना पाते। यह हिंदी सीखने में एक बड़ी बाधा बनती है।

उपरोक्त चर्चा में बच्चों की भाषा के सन्दर्भ में शिक्षकों के दृष्टिकोण और अनुभवों का विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इससे यह बात उभरती है कि शुरुआती कक्षाओं में प्रवेश के समय बच्चे विद्यालय में अपनी घरेलू भाषा का उपयोग करते हैं, जिसे शिक्षक गलत मानते हैं। जिसके फलस्वरूप वे स्वयं को विद्यार्थियों के साथ स्वाभाविक रूप से संवाद करने में असमर्थ पाते हैं। शिक्षकों ने अवधी और हिंदी के बीच के अंतरों का वर्णन किया और तर्क दिया कि बच्चों की घरेलू भाषा की देहाती प्रकृति विद्यालय में हिंदी सीखने में बाधाएँ पैदा करती है। एक शिक्षक को अवधी—भाषी व्यक्ति का हिंदी वाक्य—विन्यास भिन्न शब्दावली, परसर्ग और सहायक क्रियाओं की अनुपस्थिति, और लचीले लिंग नियमों के कारण गलत लगता है। बच्चों की घरेलू भाषा जिसमें वे बात करते हैं, प्राथमिक संबंध बनाते हैं और इस दुनिया का अर्थ बनाते हैं, लेकिन, वही भाषा स्कूल में एक समस्या बन जाती है। शिक्षकों के दृष्टिकोण में बच्चों की भाषा के प्रति तिरस्कार परिलक्षित होता है।

अगला खंड बच्चों की घरेलू भाषा का शिक्षकों द्वारा तिरस्कार एवं उसके निहितार्थ प्रस्तुत करता है ।

खंड 2: बच्चों की घरेलू भाषा का तिरस्कार

यह खंड विद्यालय में मानक हिंदी सीखने में घरेलू भाषा के योगदान पर शिक्षकों के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। इसके दो भाग हैं। पहले भाग में बच्चों की घरेलू भाषा पर शिक्षकों के तिरस्कार के निहितार्थों की चर्चा है और दूसरा हिस्सा शिक्षकों द्वारा सीखने की प्रक्रिया में शिष्टाचार पर जोर देने का वर्णन करता है।

1) घरेलू भाषा के प्रति तिरस्कार

प्रतिभागी शिक्षकों में से 40% शिक्षक ऐसे थे जिन्होंने मुख्यतः बच्चों की घरेलू भाषा की कमियों की व्याख्या की। उन्होंने अवधी और हिंदी में भिन्नता दर्शाने के लिए अवधी में कमियों का सहारा लिया। फिर भी, विपरीतार्थक निष्कर्ष व्यक्त किया कि अवधी और हिंदी एक ही भाषा हैं। एक शिक्षक ने इसे निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया:

बोलते तो हिंदी ही हैं बस क्षेत्रीय भाषा के शब्द ज़्यादा होते हैं। थोड़े देहाती जैसे बोलते हैं, वैसे बोलते हैं। हम उनको बताते हैं टोकते हैं ऐसे नहीं, ऐसे बोलो।

यह अभिव्यक्ति भाषा के बारे में शिक्षक की समझ को दर्शाती है। उनके अनुसार अवधी और हिंदी एक ही भाषा हैं लेकिन साथ ही उन्हें बच्चों की घरेलू भाषा हिंदी से अलग लगती है। शिक्षकों की अभिव्यक्ति में एक अपर्याप्त समझ उभर कर सामने आई। इस मुद्दे को स्कूल की नजर से देखा जाना चाहिए उससे पता चलता है कि अवधी में त्रुटियाँ हैं और उसके कारण बच्चों की भाषा में विचलन है। परिणामस्वरूप, 40% सविशि और 10% निविशि को उनके विद्यार्थियों के वाचन को स्कूल के स्तर पर लाने के लिए बार-बार टोकना पड़ता है। उदाहरणतः

जब वो घरेलू भाषा में बोलते हैं तो हम उनको बार-बार बताते हैं, उनसे पूछते हैं कि कौन सी भाषा में अच्छा लगता है। जब घरेलू में बोला तब या जैसे हम बोलते हैं तब फिर बच्चे बोलते हैं –

दिक्कत आती है, पीसफुल्ली एंड पेशिएंटली उनको बताते हैं कि इसको ये नहीं यहाँ पर यह शब्द का प्रयोग करो... मैनेज करते हैं... रीजनल लैंग्वेज में चीजें क्लियर होती हैं एविडेंट होती हैं तो...

इस से पता चलता है कि शिक्षकों का नियमित शिक्षण और संवाद उस मूल्य संरचना पर आधारित हैं जो बच्चे की भाषा को विद्यालय के लिए अनुपयुक्त मानती है। शिक्षकों ने बताया कि उनके विद्यार्थी जान जाते हैं कि तीसरी कक्षा पूरी करने तक उन्हें मानक भाषा में बोलना होगा। हालाँकि, ऐसा हो नहीं पाता तो बच्चे अनायास ही अवधी में बोलते रहते हैं और कई बार उनके साथी उनके शब्दों को गलती के रूप में टोकते जाते हैं।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 (एनसीईआरटी, 2006अ) ने इस तर्क पर जोर दिया है कि द्वि/बहुभाषिता संज्ञानात्मक विकास, विविध सोच और शैक्षिक उपलब्धियों को बढ़ावा देती है।

प्रारंभिक कक्षाओं से ही शिक्षक कक्षा में ऐसा माहौल बनाते हैं जिसमें सहपाठी ही भाषा के सही और गलत उपयोग की लगातार याद दिलाने वाले एजेंट बन जाते हैं। होल्ट (2005) ने तर्क दिया है कि ऐसे क्षण एक बच्चे के सार्वजनिक अपमान के होते हैं। अधिकतर बच्चे व्यक्तिगत रूप से कभी न कभी ऐसी परिस्थितियों का सामना करते हैं। बच्चे की घरेलू भाषा और वाचन गहरी जांच और परख का विषय बन जाते हैं। शुरुआती कक्षाओं में जब बच्चा औपचारिक भाषा से परिचित नहीं होता लेकिन अपने विचारों को सामने रखने की कोशिश करता है तब या तो शिक्षक या उसके सहपाठी उसका ध्यान ज्यादातर उसकी 'गलतियों' की ओर आकर्षित हैं। इसके चलते विचार की या सोचने की क्षमता की उपेक्षा हो जाती है। कक्षा का माहौल ऐसा बन जाता है कि एक बच्चा यह समझ बना लेता है कि घरेलू भाषा के शब्दों का उपयोग करना एक गलती है एवं वह उसे इस्तेमाल करके उपहास का पात्र बन जाएगा। होल्ट (पूर्वोक्त) का मानना है कि बार-बार अपमान के ऐसे अनुभव स्कूल को बच्चों के लिए खतरे का स्थान बना देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विद्यालयी भाषा पर शिक्षकों का ज़ोर और इसके परिणामस्वरूप निर्मित कक्षा का वातावरण एक बच्चे की खुद को स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त करने की क्षमता को सीमित कर देता है। शिक्षकों के अनुसार एक विद्यार्थी के लिए विद्यालय में स्कूली भाषा का ज्ञान प्राप्त करना प्राथमिक महत्व रखता है।

2) भाषा सीखने के रूप में शिष्टाचार

सभी शिक्षकों ने शिकायत की कि उनके विद्यार्थियों को यह नहीं पता रहता कि शिक्षक की आज्ञा लेते समय कैसे संबोधित करना चाहिए जैसे: शौचालय जाने के लिए, कक्षा में प्रवेश करने की अनुमति मांगने के लिए तथा विद्यालय में वयस्कों का अभिवादन करने के लिए। शिक्षकों ने कहा कि वे पहले विद्यार्थियों को ऐसे शिष्टाचार सिखाते हैं क्योंकि उनको बच्चों की भाषाई संस्कृति कमतर लगती है। वे घर से ये सब सीख कर नहीं आते। हिंदी पर ज़ोर देने के बावजूद शिक्षक शिष्टाचारी जुमलों को अंग्रेजी में सिखाते हैं। ऐसा करने को लेकर वे काफी गौरवान्वित महसूस करते हैं। उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में अपनी समझ व्यक्त की:

बच्चे अपने परिवेश से बहुत ज्यादा रिलेटेड होते हैं। बहुत सारे में बहुत बड़ी-बड़ी प्रॉब्लम होती है। तो मैं पढ़ा रही हूँ वो घर की ही बोलते हैं समझते हैं...जिन बच्चों पर हमारे सिखाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा उन बच्चों को देख कर थोड़ी सी इर्रिटेशन होती है, थोड़ा सा गुस्सा आता है कि इनको आना ही चाहिए और ये कुछ भी नहीं सीख रहे हैं। बार-बार हमने बताया कि सुबह गुड मॉर्निंग बोलते हैं, बच्चा बोल ही नहीं रहा।

हमें इनको बार-बार सिखाना पड़ता है कि बड़े लोगों को 'आप' बोलते हैं 'तुम' नहीं कहते। फिर भी वही बोलते हैं...

वयस्कों का अंग्रेजी में अभिवादन कर पाना एक भाषाई अभिव्यक्ति के रूप में हमारी शिक्षा प्रणाली की औपनिवेशिक जड़ों को उजागर करता है। कुमार (2014) ने एक वयस्क और बच्चे के बीच के संबंध में औपनिवेशिक शासन की निरंतरता की पहचान की है। शिक्षक एक औपनिवेशिक

गुरु की भूमिका निभाता है, जिसने बच्चे को सोच के नए तरीकों से परिचित कराने की जिम्मेदारी संभाली ताकि वे बड़ों के अभिवादन का वांछित तरीका सीख सकें। शिक्षकों ने बार-बार जोर देकर कहा कि वे चाहते हैं कि उनके विद्यार्थियों को मानक हिंदी का उपयोग करना चाहिए लेकिन, वे स्वयं बच्चों को आधी-अधूरी अंग्रेजी में अभिवादन का प्रशिक्षण दे रहे थे। विद्यार्थियों को शिक्षकों ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि बच्चों को एक वयस्क से विशेष रूप से एक शिक्षक को कैसे संबोधित करना चाहिए। उन्होंने बच्चों द्वारा 'तुम' संबोधन के प्रति बार-बार उपयोग पर अपनी नाराजगी दिखाई। हिंदी में द्वितीय व्यक्ति हेतु तीन व्यक्ति वाचक सर्वनाम का प्रयोग किया जाता है जो कि दोनों लिंगों के लिए समान होता है – आप, तुम, और तू। हालाँकि, इन सर्वनामों का अर्थ उन सामाजिक स्थितियों और संबंधों पर आधारित होता है जिनमें वे प्रयोग किए जाते हैं। 'आप' सर्वनाम का प्रयोग प्रेषिती के प्रति विनम्रता एवं आदर का सूचक है। इसके अतिरिक्त, वक्ता के शिक्षित होने का संकेत भी माना जाता है (जैन, 1969; भट्ट, 2014)। एक वयस्क के लिए उचित सम्मान-चिन्हक के उपयोग पर जोर देकर शिक्षकों ने प्रयास किया कि बच्चों की भाषा में शालीनता आए। उनका मानना था कि 'आप' का उपयोग करना परिष्कार का प्रतीक है। साथ ही, यह विद्यार्थी और शिक्षक के बीच पदानुक्रम के स्तर को बनाए रखने का भी एक प्रयास था।

एक व्यक्ति की भाषा, ज्ञान और संस्कृति का आपस में अटूट सम्बन्ध होता है। प्रत्येक बच्चे के पास ज्ञान का एक 'कोडिड' (बर्नस्टीन, 2003) स्रोत होता है जो सांस्कृतिक प्रेषण के माध्यम से हस्तांतरित होता है और भाषा इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। हम अपने परिवेश में विकसित होते हुए जो मूलभूत शिक्षाएं प्राप्त करते हैं, उनमें से एक भाषा का ज्ञान होता है। राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार पत्र 'शिक्षा के लक्ष्य' (एनसीईआरटी, 2006ब) के अनुसार "अपनी भाषा को बोलना सीखते समय हम कई और चीजें सीखते हैं। अपनी भाषा के माध्यम से हमें अपने परिवार तथा समुदाय के नैतिक क्रम/संदर्भ से परिचित कराया जाता है" (पृ. 7)। एक समृद्ध वातावरण और भाषाई अनुभव से बच्चे में विभिन्न श्रेणियों में दुनिया की कल्पना करने का दृष्टिकोण विकसित होता है। उदाहरण के लिए, किसी चीज की अंतर्निहित अच्छाई या व्यवहार की वांछनीयता का शुरू से ही परिचय मिल जाता है। यह बच्चे की पहचान का एक हिस्सा बन जाता है क्योंकि वह भाषा के माहौल में सीखता और विकसित होता है। भाषा सीखने का यह वातावरण बच्चे की ज्ञान की भावनाओं और मूल्यों की भावनाओं को विकसित करता है। जब कोई बातचीत करता है तो वह संज्ञानात्मक दृष्टिकोण विकसित करता है और पदानुक्रम के विभिन्न प्रतिमानों और संरचनाओं से अवगत होता है। शिक्षक अवधी बच्चों की उन मौलिक ज्ञान भावनाओं और मूल्य भावनाओं को बदलने की कोशिश कर रहे थे जो भाषा एवं संस्कृति के माध्यम से विकसित हुई थी। इस उद्देश्य से वे मानक हिंदी के उन सर्वनामों एवं सम्मान-चिन्हों को विद्यार्थियों पर आरोपित करने का प्रयत्न कर रहे थे जो उन्हें विद्यालय के लिए उपयुक्त लगता था।

पदानुक्रम के एक चिन्हक के रूप में भाषा के पहलू पर बोर्दियो (1991) का अध्ययन हमें सत्ता के तत्व पर ले जाता है। उनका तर्क है कि किसी व्यक्ति द्वारा भाषा का प्रयोग उसकी अनुमानित सामाजिक स्थिति से संबंधित होता है। भाषा सत्ता का एक साधन है जो उस के वांछित रूप का निर्माण करने एवं उसे बनाये रखने में मदद करती है। मानक भाषा वांछित भाषा-रूप है और क्षेत्रीय बोली को भाषा का निम्न रूप दिया गया है। भाषा सत्ता के माध्यम के रूप में कार्य करती है

जिसके माध्यम से विभिन्न प्रकार की मानसिक परिकल्पनाएं निर्मित की जाती हैं। एक विद्यालय में ये वस्तुनिष्ठ परिकल्पनाएं शिक्षण के माध्यम से निर्मित होती हैं। एक शिक्षक द्वारा एक विद्यार्थी की वाचन शैली में लगातार 'त्रुटियों' को इंगित करने की आदत अनिवार्य रूप से एक उद्यम बन जाता है जो विद्यार्थी को उसकी भाषा से अलग करता है। लडूसा (2015) का तर्क है कि स्कूल भाषा की विविध बोलियों को प्रतिबंधित करते हैं और एक मानक भाषा को बढ़ावा देते हैं। उनका शोध इस बात को रेखांकित करता है कि विद्यालय कुछ शैक्षणिक प्रथाओं का पालन करके भाषा की विचारधाराओं को उत्पन्न करने के लिए एक उपकरण के रूप में कार्य करते हैं। विद्यालय ही पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से 'मानक' को परिभाषित करता है। हिन्दी मानकीकरण की इस प्रक्रिया से गुजरी है (अब्बी, 2021)। इस अध्ययन में भाग लेने वाले शिक्षकों ने भी इस बात पर जोर दिया कि उनके विद्यार्थियों को एक मानक शब्दावली और अभिव्यक्ति का प्रयोग करना चाहिए। उन्होंने किसी भी विषयांतर को गलत माना। इस चर्चा से पता चलता है कि शिक्षक अपने विद्यार्थियों की भाषा के साथ परिचित हैं ही नहीं। उनकी जानकारी बहुत सीमित है। शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों की घरेलू भाषा के प्रति अपनी पीड़ा और बेचैनी व्यक्त की और इसे विभिन्न स्तरों पर गलत और हीन माना।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः यह लेख बच्चों की घरेलू भाषा से शिक्षकों के परिचय की सीमाओं का वर्णन करता है। साथ ही, उनके विद्यार्थियों द्वारा बोली जाने वाली घरेलू भाषा के बारे में उनकी अवधारणाओं का भी खुलासा करता है। शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों की घरेलू भाषा यानि अवधी को असहज करार दिया और विभिन्न स्तरों पर गलत तथा हीन माना। उन्होंने अवधी को देहाती करार दिया और इसे विद्यालय की भाषा के स्तर पर लाने के लिए गहन सुधारात्मक उपायों की आवश्यकता पर बल दिया। विद्यार्थियों के वाचन को बदलने के लिए शिक्षक उन्हें लगातार शुद्ध और सही भाषा का प्रयोग करने के लिए टोकते रहते हैं। हालांकि, उनकी अपने भाषाई कौशल काफी कमजोर थे। उनकी भाषाई अभिव्यक्ति की कमर चरमराई हुई थी। वे लगातार 'हिंग्रेजी' का इस्तेमाल करते रहे जिसमें हिंदी विन्यास में अंग्रेजी शब्दों के इस्तेमाल वाक्य अधूरे और अनर्गल हो रहे थे। शिक्षकों के लिए शिक्षण अनिवार्य रूप से बच्चों को टोकना, बताना और सुधारना था। शिक्षकों की समझ में भाषा शिक्षण का उद्देश्य बहुत ही सीमित उभर कर आया और वे भाषा के नियमों पर यांत्रिक तरीके से केंद्रित थे। इससे यह भी पता चलता है कि एक अवधी भाषी विद्यार्थी का संघर्ष स्कूल में प्रवेश के साथ ही शुरू हो जाता है और उन्हें सही रूप से अभिव्यक्त करने में असमर्थ करार दे दिया जाता है। अवधी के प्रति तिरस्कार पूर्ण रवैये के कारण शिक्षक बच्चों के समृद्ध मौखिक अनुभवों को नहीं पहचानते और मानक भाषा का उपयोग करने पर जोर देते रहे।

इंस्टिट्यूट ऑफ होम इकोनॉमिक्स
दिल्ली विश्वविद्यालय
chayarajora@gmail.com

सन्दर्भ :

1. अब्बी, अन्विता. (2021). सोशल कोहेशन एंड इमर्जिंग स्टैंडर्ड्स ऑफ हिंदी इन अ मल्टीलिंगुअल कॉन्टेक्ट. इन वेंडी बेनेट एंड जॉन बेल्लामी (एडि.), द कैंब्रिज हैंडबुक ऑफ लैंग्वेज स्टैंडर्ड्स इंजेशन. कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. पृ. 115–138.
2. भसीन, आर. (2018). दास्ताने—ए— अवध. चेन्नई: नौशन प्रेस.
3. भट्ट, एस. के. (2015). एक्वीजीशन ऑफ ओनोरिफिक्स इन हिंदी: ए सोशियो लिंगविस्टिक कॉम्पिटेंस. इलेक्ट्रॉनिक जर्नल ऑफ फॉरेन लैंग्वेज टीचिंग, अंक 12.
4. बर्नस्टीन, बी. (2003). क्लास, कोड एंड कंट्रोल. लन्दन एंड न्यू यॉर्क: रटलेज.
5. बोर्दियो, पी. (1991). लैंग्वेज एंड सिंबॉलिक पॉवर. ऑक्सफोर्ड, इंग्लैंड: पोलिटी प्रेस.
6. कौल्मास, एफ. (2003). राइटिंग सिस्टम्स: एन इंट्रोडक्शन टू देअर लिंगविस्टिक एनालिसिस. न्यूयॉर्क: केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
7. कटाविक, के. (2024). द हिंदी जेंडर सिस्टम. ईवान एन्ड्रिजनिनक एवं मोनिका ब्रोवार्कजिक (सं.), बिटवीन लैंग्वेज एंड लिटरेचर: हिंदी इन क्लासरूम एंड बियॉन्ड में संग्रहित. डॉजा लोमिनका (क्रोएशिया): एफ. एफ. प्रेस. पृ.142–150.
8. ग्रेडरसन, जी. ए. (1904). लिंगविस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया. कलकत्ता: ऑफिस ऑफ द सुप्रिटेन्डेंट ओड गवर्नमेंट प्रिंटिंग.
9. हाल, के. (2016). अननेचुरल जेंडर इन हिंदी इन मेकिंग सेंस ऑफ लैंग्वेज: रीडिंग्स इन कल्चर एंड कम्युनिकेशन. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. पृ. 425 –440.
10. हैलीडे, एम. ए. के. (1969). रिलेवेंट मॉडल्स ऑफ लैंग्वेज. एजुकेशनल रिव्यू, 22 (1): पृ. 26– 31.
11. हैरिस, आर. एम. (1968). कोलोकिअल डीविऐशनस इन अर्बन हिंदी. एनथ्रोपोलोजिकल लिग्विस्टिक्स, 10, (9): 25–34.
12. होल्ट, जॉन. (2005). द अंडर अचिविंग स्कूल. भोपाल: एकलव्य.
13. जैन, डी. के. (1969). वर्बलाईजेशन ऑफ रिस्पेक्ट इन हिंदी. एनथ्रोपोलोजिकल लिग्विस्टिक्स. वॉल्यूम. 11 न. 3: 79–97 (मार्च).
14. केल्लोग, रेव. एस. एच. (1893). ए ग्रामर ऑफ हिंदी लैंग्वेज. लन्दन: कीगन पॉल, ट्रेंच, त्रुनेर एंड कंपनी.
15. कुमार, कृष्ण. (2000). द चाइल्डज लैंग्वेज एंड द टीचर: ए हैंडबुक. न्यू दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट.
16. कुमार, कृष्ण. (2001). स्कूल की हिंदी इन स्कूल की हिंदी. नई दिल्ली: राजकमल. पृ.72– 81.
17. कुमार, कृष्ण. (2014). पॉलिटिक्स ऑफ एजुकेशन इन कोलोनीयल इंडिया. रटलेज: लन्दन.
18. एन. सी. ई. आर. टी. (2006 अ). राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा— 2005. नई दिल्ली: एन. सी. ई. आर. टी.
19. एन. सी. ई. आर. टी. (2006). राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार पत्र: भारतीय भाषाओं का शिक्षण. नई दिल्ली: एन. सी. ई. आर. टी.
20. एन. सी. ई. आर. टी. (2006 ब). राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार पत्र: शिक्षा के लक्ष्य. नई दिल्ली: एन. सी. ई. आर. टी.
21. लडूसा, सी. (2015). हिंदी इस अवर ग्राउंड, इंग्लिश इस अवर स्काई. नई दिल्ली: फाउंडेशन बुक्स.
22. मेगानाथान, आर. (2015). मीडियम ऑफ इंस्ट्रक्शन इन स्कूल एजुकेशन इन इंडिया: द पालिसी स्टेटस एंड डिमांड फॉर इंग्लिश एजुकेशन. इंडियन एजुकेशनल रिव्यू. वॉल्यूम. 53. (2).
23. महापात्रा, एस. के. एंड एंडरसन, जे. (2022). लैंग्वेज फॉर लर्निंग: ए फ्रेमवर्क फॉर इम्प्लिमेंटिंग इंडीआज मल्टीलिंगुअल लैंग्वेज इन एजुकेशन पालिसी. करंट इश्यूज इन लैंग्वेज प्लानिंग. 24(1). पृ.102–122.
24. ओल्फेन, एच. वी. (1975). आस्पेक्ट टेंस एंड मूड इन हिंदी वर्ब. इंडो— ईरानियन जर्नल. वॉल्यूम. 16. न. 4: 284– 301.
25. ओरिसिनी. एफ. (2002). द हिंदी पब्लिक स्फीयर, 1920– 1940. नई दिल्ली. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
26. सक्सेना, बी. (1937). एवोल्यूशन ऑफ अवधी: ए ब्रांच ऑफ हिंदी. दिल्ली: मोतीलाल बनारसी दास.
27. सिन्हा, एस. (2012). रीडिंग विदआउट मीनिंग: द डिलेमा ऑफ इंडियन क्लासरूम. लैंग्वेज एंड लैंग्वेज टीचिंग, 1 (1), पृ. 22– 26.
28. वर्मा, डी. (1949). हिंदी भाषा का इतिहास. अलाहबाद: हिन्दुस्तानी एकेडमी.
29. वाजपेयी, कि. (1957). हिंदी शब्दानुशासन. वाराणसी: नगरप्रचारिणी सभा.
30. वैद, जे. एंड गुप्ता, ए. (2002). एक्सप्लोरिंग वर्ड रिकग्निशन इन सेमी—अल्फाबेटिक स्क्रिप्ट: द केस ऑफ देवनागरी. ब्रेन एंड लैंग्वेज 81, पृ. 679–690.

आर्य समाज और नारी शिक्षा

अनिल कुमार तिवारी

सारांश :

आर्य समाज और इसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती का नारी शिक्षा में महत्वपूर्ण योगदान है। यह सर्वविदित है कि एक पुरुष को शिक्षित करने से केवल एक व्यक्ति शिक्षित होता है परन्तु एक नारी की शिक्षा दो परिवारों में बौद्धिक उन्नति का कारण बनती है। नारी शिक्षा में सबसे बड़ी बाधा पितृसत्तात्मक मानसिकता रही है। दयानन्द सरस्वती आजीवन इस मानसिकता के निषेधात्मक पहलू के प्रति लोगों को जागरूक करते रहे। इसके अतिरिक्त उनका विचार है कि देश की शिक्षा का आधार भारत की ज्ञान परंपरा में होना चाहिए न कि किसी ऐसी शिक्षा व्यवस्था में जिसका पल्लवन किसी बाहरी संस्कृति में हुआ हो। इस पत्र में किंचित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य रखते हुए नारी शिक्षा की उन्नति के लिए स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। आधुनिक समय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नारी शिक्षा हेतु सुझाव का भी प्रस्ताव किया गया है।

बीज शब्द : आर्य समाज, नारी शिक्षा, स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतीय ज्ञान परंपरा, कन्या पाठशाला

प्रस्तावना

महात्मा गाँधी ने नारी शिक्षा के महत्व को बताते हुए कहा है कि एक पुरुष को शिक्षित करने से केवल एक व्यक्ति शिक्षित होता है परन्तु एक नारी को शिक्षित करने से एक परिवार शिक्षित होता है। परिवार समाज की इकाई है इसलिए जैसा परिवार होगा वैसा ही समाज होगा और जैसा समाज होगा वैसा ही राष्ट्र बनेगा। स्पष्ट है कि एक सभ्य समाज और जीवन्त राष्ट्र के निर्माण के लिए नारी को सुशिक्षित बनाना अनिवार्य है। पितृसत्तात्मक देशों को यह बात समझने में सदियां लग गयीं। कुछ तो अब भी अन्धेरे में हैं और कोई भी पूर्ण प्रकाश में नहीं है। यह विश्वास किया जाता है कि सैन्धव कालीन भारतीय समाज मातृसत्तात्मक था। वैदिक कालीन समाज में पितृसत्तात्मकता के लक्षण दिखायी देते हैं परन्तु यहाँ स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे। इसके बाद के इतिहास में भारत में पितृसत्तात्मकता अपने निषेधात्मक प्रभाव के साथ दिखायी देती है और यह प्रभाव मुगलकाल में अपने चरम सीमा पर प्रतीत होता है। प्रायः पितृसत्तात्मक समाज में नारी शिक्षा की बात आते ही मन में निषेधात्मक विचार सबसे पहले आते हैं: नारी घर की इज्जत होती है; सम्मानित परिवार की नारी को बाहर नहीं निकलना चाहिए; परिवार चलाने के लिए धन की व्यवस्था करना औरतों का काम नहीं है फिर उन्हें शिक्षित करने से क्या

फायदा; शिक्षित नारी हाथ से निकल जाती है; परिवार में असन्तुलन पैदा कर देती है; चरित्रहीन हो जाती है। नारी को दरवाजे से बाहर निकलने का क्या काम — बच्ची की देखभाल के लिए पिता है। युवती की जरूरत पति पूरी करता है। वृद्धा के लिए बेटे—पोते हैं ही, इसलिए नारी का उचित स्थान रसोई है उसे वहीं रहना चाहिए। उन्नीसवीं सदी तक भारतीय समाज की ऐसी ही मानसिकता थी। इसके चलते बाल—विवाह और सती—प्रथा जैसी कुरीतियां प्रचलित रहीं जो नारी के अस्तित्व को पुरुष से अलग नहीं स्वीकार करती थीं। ऐसे सामाजिक वातावरण में नारी शिक्षा की बात करना अत्यन्त ही साहस का काम था। स्वामी दयानन्द सरस्वती (12 फरवरी 1825 — 30 अक्टूबर 1883) ऐसे पहले आधुनिक भारतीय विचारक थे जिन्होंने नारी शिक्षा की आवश्यकता का गहराई से अनुभव किया और उसके लिए एक बौद्धिक अभियान चलाया। उनके व्यक्तित्व की एक झलक मैडम ब्लावत्सकी के इस कथन में मिलती है कि भारत ने शंकराचार्य के बाद कभी भी दयानन्द जैसा संस्कृत विद्वान, गहन तत्वमीमांसक, अद्भुत वक्ता और बुराई का निर्भीक प्रतिरोधी नहीं देखा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज

अपने ग्रन्थ *सत्यार्थ प्रकाश* के द्वितीय समुल्लास में शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि “मनुष्य तभी ज्ञानवान होता है जब उसे तीन उत्तम शिक्षक मिले — माता, पिता और आचार्य।”¹ आगे उनका मत है कि “जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है उतना किसी से नहीं।”² माता बच्चे की न केवल जन्मदात्री होती है बल्कि उसकी प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण शिक्षक भी होती है (गुरुणां चैव सर्वेषां माता परमेको गुरुः)। स्वामी जी कहते हैं कि “धन्य है वह माता जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे।”³ यही माता अगर स्वयं शिक्षित न हो तो बच्चे का भविष्य अनिश्चित होना अवश्यम्भावी है। इसलिए नारी को शिक्षित करना प्रत्येक समाज की प्राथमिकता होनी चाहिए। स्वामी जी ने समाज निर्माण के इस महत्वपूर्ण पक्ष पर विशेष ध्यान दिया। परन्तु उनके समक्ष दो बाधाएँ थीं: पहली तत्कालीन समाज की मानसिकता और दूसरी इस मानसिकता के चलते नारी शिक्षा हेतु संस्थाओं का अभाव। इन दोनों बाधाओं को दूर करने के लिए उन्होंने दो रणनीति बनायी: एक ओर जनजागरण और शास्त्रार्थ के द्वारा समाज की मानसिकता को बदलने का प्रयास किया और दूसरी ओर शिक्षण संस्थाओं की स्थापना पर बल दिया। अपने प्रयास को संगठित रूप देने के लिए उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की।

10 अप्रैल 1875 ई० को गिरगांव, बम्बई (अब मुम्बई) में आर्य समाज की स्थापना एक सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक आन्दोलन के रूप में की गयी। इसकी स्थापना उस ब्रिटिश विचारधारा⁴ के प्रतिउत्तर में की गयी थी जिसके अनुसार भारतीय नागरिकों को पिछड़ा हुआ और असभ्य माना जाता था। यह भी कहा जाता है कि इसकी स्थापना स्वामी जी ने राजा राम मोहन राय और रानाडे द्वारा संचालित ब्रह्म समाज की यूरोपीय शैली से मोहभंग करने के लिए की थी। जो भी शुरुआती प्रेरक रहे हों आर्य समाज अपने जन्म से ही समाज के अन्दर व्याप्त कुरीतियों का विरोधी रहा है।⁵ इसका मूल उद्देश्य अज्ञान, अभाव या अकिंचनता और अन्याय (तीन ‘अ’) को

समूल नष्ट करना रहा है। इन तीनों कारकों में अज्ञान का प्रभाव सर्वाधिक प्रतीत होता है और यह कहीं-न-कहीं शेष दो का पोषण भी करता है। इसलिए अज्ञान को नष्ट करना स्वामी जी की प्राथमिकता थी। आर्य समाज के दश मूलभूत नियमों में आठवाँ नियम है: “अविद्या का नाश एवं विद्या का वर्धन करना चाहिए।”⁶ यहाँ ‘विद्या’ शब्द का अर्थ ‘शिक्षा’ ही मानना चाहिए।

स्वामी जी का विश्वास है कि वेद ईश्वरीय रचना होने के नाते पूर्ण और सत्य विद्या के प्रकाशक हैं। वे हमारे लिए प्रेरणा के स्रोत हैं और हमें कहीं बाहर (पाश्चात्य जगत) से प्रेरणा लेने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने केवल वेद को प्रमाण माना और मानवरचित भेदभावपूर्ण पौराणिक बातों का तार्किक खंडन किया। उन्होंने दिखाया कि वेद में सभी के लिए समान रूप से शिक्षा की अपेक्षा की गयी है। उदाहरण के लिए, ऐसा पौराणिक विश्वास था कि स्त्री और शूद्र को वेद नहीं पढ़ाना चाहिए (स्त्री शूद्रो नाधीयताम्)। स्वामी जी ने कहा कि यदि स्त्री को वेद पढ़ाने की मनाही थी तो “इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्”⁷ जैसे वैदिक निर्देशों का क्या अर्थ है। बिना शिक्षा दिये किसी स्त्री से यह अपेक्षा करना अतार्किक है कि वह स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण करे। स्पष्ट है कि ऐसे निर्देश स्त्री के शिक्षित होने की प्रागपेक्षा रखते हैं। इसके साथ ही स्वामी जी ने शूद्र को परिभाषित करते हुए कहा कि शूद्र वह व्यक्ति है जो मूर्ख और निर्बुद्धि है तथा जिसको पढ़ने पढ़ाने से भी कुछ आता जाता नहीं।⁸ ऐसे लोगों को वेद क्या ऐसा कुछ भी पढ़ाना धन और समय की बर्बादी है। उनका स्पष्ट विचार था कि स्त्री और शूद्र को वेद-शिक्षा का पौराणिक प्रतिषेध स्वार्थी तत्त्वों की चालबाजी है। इस प्रकार उन्होंने नारी शिक्षा के साथ-साथ जन्मना शूद्रों के प्रति भी तत्कालीन समाज में प्रचलित दुर्भावों का निराकरण किया।

भारतीय इतिहास के मुगल काल में नारी की दशा अत्यंत शोचनीय हो गयी थी। बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा के कारण जहाँ लड़कियों को अध्ययन का अवसर नहीं मिलता था वहीं दूसरी ओर उनका स्वास्थ्य भी प्रभावित हो रहा था। सती-प्रथा जैसी कुरीति उनके स्वतन्त्र अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लगाती थी। इस प्रथा को विधवा समस्या के निराकरण और परिवार का सम्मान सुरक्षित रखने का उपाय मान लिया गया था। इन कुरीतियों से नारी को मुक्त करने का एकमात्र साधन उसको शिक्षित बनाना ही था। इसलिए आर्य समाज ने लड़कियों को शिक्षित करने के लिए विद्यालयों की स्थापना पर विशेष बल दिया। इसके लिए स्वामी जी के विचारों में व्यक्त विद्यालय के स्वरूप को आदर्श माना गया तथा उनमें परिस्थिति के अनुरूप कुछ व्यावहारिक संसोधनों के साथ स्कूलों की स्थापना की गयी।

(नारी) शिक्षा का सैद्धान्तिक आधार

स्वामी जी के अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को सभ्य, सुसंस्कृत और उच्च नैतिक चरित्र वाला बनाना है। नारी को शिक्षा से वंचित रखकर इन उद्देश्यों को पाना मुश्किल है। स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय और तृतीय समुल्लास⁹ में शिक्षा संस्थाओं का स्वरूप, वातावरण, शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच सम्बन्ध। पाठ्यक्रम, विद्यार्थियों के रहन-सहन और दिनचर्या पर विस्तार से चर्चा की है। इनमें से कुछ प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं:

- शिक्षण संस्थाओं की स्थापना ग्रामों और नगरों के कोलाहल से दूर शान्त और स्वाभाविक प्राकृतिक वातावरण में करनी चाहिए। विद्यार्थियों को विलासितापूर्ण जीवन से अलग रखना चाहिए तथा शिक्षा अवधि में परिवार से मिलने की मनाही होनी चाहिए जिससे वे प्रत्येक पल गुरु के संरक्षण में रहते हुए पूर्णतया अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित कर सकें।
- गुरु-शिष्य के बीच सम्बन्ध को स्वामी जी बहुत महत्व देते थे। गुरु का शिष्य से वही सम्बन्ध होना चाहिए जो एक माँ और उसके गर्भ में पल रहे बच्चे का होता है। ऐसी एकात्मकता ही एक आदर्श नागरिक उत्पन्न कर सकती है। समाज से पूरी तरह से असम्बद्ध शिष्य पर गुरु के आचरण का गहरा प्रभाव होना स्वाभाविक है इसलिए गुरु को सदैव शिष्य के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।
- स्वामी जी विद्यार्थियों के जीवन में ब्रह्मचर्य, संयम और पवित्रता पर विशेष बल देते थे। इसके लिए उनका स्पष्ट आग्रह था कि शिक्षा के पाठ्यक्रम में कामोत्तेजक विषयों का समावेश नहीं होना चाहिए। उनका दृढ़ विश्वास था कि विद्यार्थियों को काम-वासना बढ़ाने वाले साहित्य नहीं पढ़ने देना चाहिए। इसी प्रकार ऐसा साहित्य जो अन्धविश्वास, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भूत-प्रेत आदि का वर्णन करता हो, नहीं पढ़ाना चाहिए।
- पाठ्यक्रम के बारे में स्वामी जी ने कहा कि इसमें भौतिक और आध्यात्मिक विकास के प्रचुर तत्व उपलब्ध होने चाहिए। इसमें रसायन, भौतिक, गणित, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, राजनीति, युद्धविद्या, यत्नकला, आयुर्वेद आदि विज्ञानों का होना आवश्यक है। संगीत के अध्ययन की वकालत करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि इससे रचनात्मक क्रियाशक्ति में वृद्धि होती है।
- भाषा के सम्बन्ध में उनका विचार है कि सभी को संस्कृत और हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में सीखना चाहिए। स्वामी जी का आग्रह था कि प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में ही देनी चाहिए। महात्मा गाँधी भी इस मत का पुरजोर समर्थन करते थे। उनके अनुसार शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा होने से अध्ययन-अध्यापन में मौलिकता नहीं रह जाती है। इन दोनों विभूतियों का यह भी मानना था कि बौद्धिक क्षितिज के विस्तार के लिए अंग्रेजी सहित अन्य भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है। लोगों को अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार विदेशी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, न कि एक बाध्यता के रूप में।
- राष्ट्रीय भाषा के साथ-साथ शिक्षा का स्वरूप भी राष्ट्रीय होना चाहिए। सम्पूर्ण देश में समान शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए। इससे देशप्रेम और बन्धुत्व की भावना बढ़ती है तथा देश की गरिमा और अस्मिता सुरक्षित रहती है।
- स्वामी जी का मत है कि विद्यार्थियों को प्रारम्भ से ही प्राणायाम और योग की शिक्षा देनी चाहिए। आसनों और प्राणायाम के अभ्यास से मानसिक और आत्मिक शुचिता उत्पन्न होती है और बुराईयों से बचने में कामयाबी मिलती है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम का पालन करने से शारीरिक और मानसिक ऊर्जा बढ़ती है।

- स्वामी जी सह-शिक्षा का समर्थन नहीं करते थे। उनके अनुसार लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग स्कूल होने चाहिए और उनमें उसी लिंग वाले शिक्षक और कर्मचारी होने चाहिए। ब्रह्मचर्य पर उनका इतना आग्रह था कि वे लड़के और लड़कियों के स्कूल में दो कोस की दूरी होना आवश्यक मानते थे तथा अध्ययन काल में स्त्री और पुरुष के दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्परक्रीड़ा, विषय-ध्यान और संग से अलग रहने के हिमायती थे।
- स्वामी जी के अनुसार राज्य का यह कर्तव्य होना चाहिए कि सभी को उच्च शिक्षा का अवसर मिले। इसके लिए शिक्षा निःशुल्क होना चाहिए जिससे अमीर गरीब सभी के लिए वह सुलभ हो। राज्य को यह सुनिश्चित करना चाहिए पाँच या आठ वर्ष से आगे माता-पिता अपने बच्चों को अपने पास न रख सकें। सभी के लिए शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। स्वामी जी ऐसे व्यक्ति को दण्ड देने की बात कहते थे जो अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजता।
- सबके लिए एक समान शिक्षा होनी चाहिए। बच्चों-बच्चों में भेद नहीं होना चाहिए। चाहे वह राष्ट्रपति का बच्चा हो या किसी मेहतर का। “सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए।”¹⁰
- शिक्षकों को समाज का मार्ग-दर्शक होना चाहिए। उन्हें सादगीपूर्ण तपस्वी का जीवन बिताना चाहिए तथा परिग्रह वृत्ति से बचना चाहिए। पूर्ण विद्यायुक्त और धार्मिक व्यक्ति ही एक आदर्श शिक्षक हो सकता है।

शिक्षा आन्दोलन

स्वामी जी का मत है कि उन विचारों का कोई विशेष मूल्य नहीं है जिनको अपने कर्म में न उतारा जा सके। अपने जीवन में उन्होंने जनजागरण को अपना लक्ष्य बनाया और कुछ संस्कृत पाठशालाओं तथा स्कूलों की स्थापना करके दिखाया कि उनके शिक्षा सम्बन्धी विचार किस तरह समाज में सफलतापूर्वक लागू किये जा सकते हैं। आर्य समाज द्वारा चलाये गये समाज और धर्म सुधार के काम उनके जीवनकाल में ही अपनी अमिट छाप छोड़ने में सफल रहे। 1883 ई० में उनके महाप्रयाण के पश्चात उनके अनुयायियों ने सामाजिक और धार्मिक सुधार के अलावा उनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों को मूर्त रूप देने के लिए दो आन्दोलन चलाये: पहला दयानन्द एंग्लो-वैदिक (DAV) आन्दोलन और दूसरा गुरुकुल आन्दोलन। एक अन्य आन्दोलन का अलग से उल्लेख किया जा सकता है जिसे कन्या पाठशाला आन्दोलन कहना उचित होगा। यह आन्दोलन एक अभिनव प्रयोग रहा है जिसने भारत में नारी शिक्षा को संगठित रूप देकर एक सशक्त दृष्टान्त प्रस्तुत किया।

(अ) डी०ए०वी० आन्दोलन

1885 ई० में महात्मा हंसराज, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी, लाला साईं दास और लाला लाजपत राय आदि ने डी०ए०वी० कालेज ट्रस्ट एवं मैनेजमेन्ट सोसाइटी का गठन किया और इसके अन्तर्गत विशाल आबादी को शिक्षित बनाने का आन्दोलन चलाया। सोसाइटी ने पहला डी०ए०वी० स्कूल लाहौर¹¹ में 1886 ई० में खोला। इसके पहले प्रधानाचार्य महात्मा हंसराज (1864— 1938 ई०) थे।

इसके बाद अनेक स्कूलों की देश के विभिन्न भागों में स्थापना की गयी। आज डी०ए०वी० स्कूल समूह भारत का सबसे बड़ा गैर-सरकारी शैक्षणिक संगठन है। जिसके 675 से ज्यादा स्कूल, अस्पताल, मेडिकल कालेज, तकनीकी शिक्षा संस्थान, फार्मसी आदि लगभग पूरे देश और विदेशों में फैले हैं। इनमें से 400 से ज्यादा प्राथमिक, माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक और उच्च शिक्षा संस्थान हैं।

डी०ए०वी० आन्दोलन मूल्य-आधारित शिक्षा का पर्याय बन चुका है जिसके अन्तर्गत देश की सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक अस्मिता को सुरक्षित रखते हुए पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का भी समुचित समावेश किया गया है। इस शिक्षा प्रणाली के प्रमुख उद्देश्यों में उच्च नैतिकता वाले राष्ट्रवादी नागरिक बनना, राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी का ज्ञान कराना, संस्कृत और वेद के ज्ञान को प्रसारित करना तथा लोगों के भौतिक और आध्यात्मिक विकास को बढ़ावा देना शामिल है। आज अनेक मेडिकल कालेज, तकनीकी संस्थान और फार्मसी भी इस आन्दोलन का अंग बन चुके हैं तथा रोजगारपरक शिक्षा के साथ-साथ मानव सेवा का अवसर प्रदान कर रहे हैं। इनमें से अनेक संस्थान केवल महिलाओं के लिए स्थापित किये गये हैं; जैसे महात्मा हंसराज डी०ए०वी० इंस्टीट्यूट ऑफ नर्सिंग की स्थापना जालन्धर में की गयी है जहाँ महिलाओं को नर्सिंग का प्रशिक्षण दिया जाता है।

(ब) गुरुकुल आन्दोलन

स्वामी जी स्वयं भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति — गुरुशिष्य परम्परा — में अधीत स्नातक थे। उनकी विचारणा-शक्ति इसी परम्परा की देन थी। डी०ए०वी० आन्दोलन ने समय के साथ जिस नूतनता को आत्मसात किया था उससे कुछ लोगों को एक ऐसे प्रयास की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसमें भारत की प्राचीन गुरुकुल परम्परा को विशुद्ध रूप में आगे बढ़ाया जा सके। फलस्वरूप 1902 ई० में स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती ने हरिद्वार के निकट गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। स्वामी जी की संकल्पना के अनुरूप यह अत्यन्त प्राकृतिक वातावरण में स्थापित किया गया था। यहाँ शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों विद्याओं का अध्ययन प्रारम्भ किया गया। उस समय शिक्षा का माध्यम हिन्दी रखना एक चुनौतीपूर्ण कार्य था जिसको संस्थापकों ने पूरी निष्ठा से लागू किया। आज हिन्दी माध्यम में विज्ञान और तकनीकी विषयों का अध्ययन-अध्यापन इस संस्थान की विशिष्टता है। समय के साथ परिवर्तन प्रकृति का नियम है। कहते हैं कि इस संस्था में मिट्टी के तेल के रूप में सर्वप्रथम पाश्चात्य सभ्यता ने प्रवेश किया।¹² आज यह संस्था एक विश्वविद्यालय के रूप में कार्य कर रही है तथा इसमें पूर्वी और पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का सामञ्जस्यपूर्ण समाहार किया गया है। कन्या गुरुकुलों की भी स्थापना की गयी जिनमें देहरादून का कन्या गुरुकुल उल्लेखनीय है।

(स) कन्या पाठशाला आन्दोलन

कन्या पाठशालाओं की स्थापना में आर्य समाज का एक महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसके पूर्व ईसाई मिशनरियों एवं ब्रह्मसमाज ने लड़कियों के लिए स्कूल खोले थे परन्तु कोई विशेष संगठित प्रयास नहीं हो सका था। पंजाब की अमृतसर आर्य समाज शाखा ने सर्वप्रथम 1885 ई० में तीन कन्या स्कूल की स्थापना की। इसके बाद जालन्धर, फिरोजपुर और लाहौर शाखा ने कन्या स्कूल खोले। जालन्धर का कन्या स्कूल लाला देवराज ने स्थापित किया था। आज यह स्कूल कन्या महाविद्यालय

(KMV) के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्कूल का प्रारम्भ वास्तव में वेद प्रचार के लिए उपदेशिकायें तैयार करने के लिए किया गया था। परन्तु समय के साथ नये-नये प्रयोग किये गये और यह एक मॉडल के रूप में विकसित हुआ। अनुदान के लिए सरकार पर आश्रित न होने के कारण यह स्कूल अनेक प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र था और इसका स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में रचनात्मक लाभ मिला। अन्य स्कूलों ने इसके पाठ्यक्रम और शिक्षण विधि को सफलतापूर्वक अपनाया।¹³ स्कूल की गतिविधि का प्रसार, दुनिया में नारी उत्थान के लिए किये जा रहे प्रयासों तथा प्रगतिशील महिलाओं की गतिविधि को सर्वजनीन बनाने के लिए पंचाल पंडिता नामक एक पत्रिका निकाली जाती थी जिसमें लाला देवराज प्रेरणादायक लेख लिखते थे। इसका प्रभाव पूरे देश में चलाये जा रहे आन्दोलन पर पड़ता था। स्कूलों में अंग्रेजी शिक्षा को भी बाद में शामिल कर लिया गया जिससे स्त्रियाँ अन्य भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान को हासिल कर सकें। यहाँ केवल पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं दिया जाता था बल्कि जीवनोपयोगी हस्तशिल्प आदि का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। छात्राओं को अन्य स्कूलों में भी प्रशिक्षण के लिए ले जाया जाता था तथा अन्य स्कूल की छात्राओं को यहाँ प्रशिक्षण दिया जाता था। इस तरह इस आन्दोलन का उद्देश्य स्त्रियों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना था जिससे वे समाज के नवनिर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकें। आज देश की अनेकों कन्या पाठशालायें और महाविद्यालय इस आन्दोलन का अंग बन चुके हैं तथा नारी शिक्षा को बढ़ावा दे रहे हैं।

समीक्षा

पं० जवाहर लाल नेहरू के अनुसार हम किसी देश की दशा का अनुमान वहाँ की नारियों की दशा देखकर लगा सकते हैं। यह बात अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है। साक्षरता, स्वास्थ्य, बच्चों का पोषण, शिशु-मृत्यु दर, परिवार नियोजन को अपनाने, स्त्री-पुरुष अनुपात आदि का सीधा सम्बन्ध नारी शिक्षा से होता है। अनेक प्रयासों के बावजूद (2011 ई० की जनगणना के अनुसार) हमारे देश की लगभग 35% महिलायें अशिक्षित हैं। प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में यह घटक सबसे बड़ी बाधा माना जा रहा है। इसके अलावा एक अध्ययन में यह भी सामने आया है कि समान आय-वर्ग की अशिक्षित महिलाओं के बच्चे शिक्षित महिलाओं के बच्चों की तुलना में कुपोषित होते हैं और यह प्रवृत्ति आने वाली पीढ़ी को कमजोर बनाती है। इससे स्वामी जी की उस धारणा की पुष्टि होती है कि एक अशिक्षित माँ अपने बच्चे का ठीक से पालन-पोषण नहीं कर सकती।

भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति में प्रथम शिक्षक को सुशिक्षक बनाने के लिए विशेष बल दिया गया है। यह सत्य हो सकता है कि जिस रूप में आज हम शिक्षा के नाम पर साक्षरता की बात करते हैं उस रूप में शिक्षा पद्धति का व्यापक विस्तार न रहा हो।¹⁴ परन्तु यह कहना अनुचित होगा कि मौखिक परम्परा में जो जीवनोपयोगी ज्ञान संचित था उससे नारी और शूद्र सहित समाज का कोई भी वर्ग वंचित था। यह भी सत्य प्रतीत होता है कि शास्त्रीय ज्ञान का प्रसार कुछ ही लोगों तक सीमित था जो कि आज शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार के बाद भी उतना ही सत्य है।

नारी शिक्षा के लिए आर्य समाज ने जो प्रक्रिया अपनायी उस पर आक्षेप होना स्वाभाविक था विशेषकर उन लोगों द्वारा जो पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित थे। कुछ आलोचकों का यह कहना

है कि स्वामी दयानन्द नारी शिक्षा का उसी सीमा तक समर्थन करते थे जहाँ तक स्त्रियों को एक कुशल गृहणी बनाने के लिए आवश्यक है। इस आलोचना को कुछ आर्यसमाजियों के वक्तव्यों से भी बल मिलता है। जैसे सरदार दयाल सिंह ने इंडियन एसोसिएशन आफ पंजाब की तरफ से बोलते हुए कहा था कि हमारे देश में नारी शिक्षा का उद्देश्य उन्हें विदुषी बनाना नहीं बल्कि सुसंस्कृत माँ, बहन और पत्नी बनाना रहा है। लाहौर आर्य समाज¹⁵ का भी यही मंतव्य लगता है जब वह कहता है कि लड़कियों को अविवेकपूर्ण ढंग से इतिहास भूगोल पिलाने के बजाय समुचित व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिए। सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास के अन्तिम भाग में स्वामी दयानन्द सभी स्त्रियों को वर्णाश्रम धर्म¹⁶ के अनुकूल व्यावहारिक शिक्षा देने की बात करते हैं। उनका कहना है कि “ब्राह्मणी को सब विद्या, क्षत्रिया को सब विद्या और युद्ध तथा राजविद्याविशेष, वैश्या को व्यवहारविद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए.....स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य सीखनी चाहिए। क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्ताव, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा होना चाहिए वैसा करना कराना। वैद्यकविद्या से औषधवत् अन्नपान बना और बनवाना नहीं कर सकती।”¹⁷ परन्तु इन विचारों से ऐसा अर्थ करना कि स्वामी जी स्त्री को चहारदीवारी में कैद करने के हिमायती थे, उचित नहीं होगा। तृतीय समुल्लास में ही यह उल्लिखित है कि यदि स्त्री पढ़ेगी नहीं तो वह अध्यापन या राजकार्य को कैसे करेगी। स्वामीजी की यह व्यवस्था भी उल्लेखनीय है कि लड़कियों के स्कूल में शिक्षक एवं अन्य काम करने वाली सब महिलायें ही होनी चाहिए।

समय की मांग के अनुरूप शिक्षा की पद्धति में परिवर्तन एवं उसका प्रसार आर्य समाज के शिक्षा सम्बन्धी अभियान का केन्द्र बिन्दु रहा है। स्वामी जी ने सभी बच्चों को परम्परागत ढंग से शिक्षा देने की वकालत की थी। परन्तु उन्होंने यह भी कहा था कि मेरे विचार न तो अनन्य हैं और न ही मैं सर्वज्ञ हूँ। यदि भविष्य में इन्हें अनुपयुक्त पाया जाय तो निःसंकोच बदल देना चाहिए। आर्य समाज ने इस निर्देश का शिक्षा के प्रसार में समुचित उपयोग किया। कन्या महाविद्यालय, जालन्धर में लाला देवराज ने अनेक प्रयोग किये, जैसे स्त्री समाज का गठन। इसके द्वारा महिलायें न केवल शिक्षा के प्रसार में सहायक सिद्ध हुईं बल्कि आजादी के लिए किये जा रहे संघर्ष में भी उन्होंने नई जान डाली। आश्चर्य नहीं कि गाँधी जी को स्त्रियों को आन्दोलन में शामिल करने की प्रेरणा इसी से मिली हो। आज आर्य समाज से सम्बद्ध स्कूलों में आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के अनुरूप शिक्षा दी जा रही है। यह व्यावहारिक भी है क्योंकि शिक्षा की मुख्य धारा से सर्वथा अलग चलना प्रायः असंभव है। मीराम्बिका¹⁸, जो कि दिल्ली में स्थापित अरविन्द आश्रम से सम्बद्ध एक स्कूल है, में शिक्षा की मुख्य धारा से सर्वथा अलग शिक्षा दी जा रही है। शुरुआती उत्साह के बावजूद अभिभावक अब अपने बच्चों को वहाँ से हटा रहे हैं क्योंकि उन्हें ऐसी शिक्षा का भविष्य नहीं दिखायी दे रहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आधुनिक शिक्षा व्यवस्था त्रुटिरहित है। बच्चों में सामाजिक मूल्यों के विकास के साथ-साथ उन्हें समाज में अलग-अलग भूमिका निभाने योग्य बनाना किसी भी शिक्षा व्यवस्था का मूल उद्देश्य होता है। प्रचलित शिक्षा व्यवस्था ने निर्विवादरूप से विशेषज्ञ तैयार किये हैं। चिकित्सक, अभियन्ता, प्रशासक बनाये हैं; परन्तु यह एक सामाजिक मनुष्य बनाने में शायद असफल

रही है। शिक्षित लोगों में व्यक्तिवादिता, अहंवादिता एवं असमानता की भावना का विकसित होना दुर्भाग्यपूर्ण है। शिक्षा का जीवन से प्रायः सम्बन्ध—विच्छेद हो गया प्रतीत होता है। आधुनिक शिक्षित नारी प्रायः परिवार में तालमेल बैठाने में उतना सफल नहीं प्रतीत होती है जितना कि परम्परागत ढंग से पली—बढ़ी लड़की। यहाँ परम्परागत शिक्षा व्यवस्था की उपयोगिता समझ में आती है जो कि शिक्षा और जीवन के बीच अभिन्न सम्बन्ध की मूल भावना पर आधारित है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में इसकी एक झलक मिलती है।

आर्य समाज ने पाश्चात्य मूल्यों का अन्धानुकरण न करके भारत की परम्परागत सांस्कृतिक विरासत और मूल्यों को सुदृढ़ और तार्किक बनाने का प्रयास किया है। आलोचकों का मानना है यह स्त्रियों को एक भिन्न रूप में शोषित करने का तरीका है। उन्हें परम्परा और परिवार के संरक्षण के नाम पर वृहत सामाजिक भूमिका से वंचित कर दिया जाता है। आर्य समाज की संस्थाओं से शिक्षा प्राप्त महिलाओं द्वारा किये गये योगदान ही इस आलोचना को आधारहीन सिद्ध करते हैं। परन्तु यह सत्य है कि सुधारवादी आन्दोलनों का जो कुछ लाभ हुआ है वह शहरी उच्च एवं मध्यम वर्ग की महिलाओं तक सीमित है। नीतियों के निर्धारण और उच्च शैक्षणिक नियोजनों में केवल इसी वर्ग की स्त्रियों की भागीदारी से स्पष्ट है कि शिक्षा का लाभ ग्रामीण और निचले वर्ग की स्त्रियों तक उतना नहीं पहुँचा है। यह भी सही प्रतीत होता है कि शिक्षा के तरीके और पाठ्यक्रम में आर्य समाज की संस्थाओं और अन्य संस्थाओं में अब शायद ही कोई अन्तर रहा है। जो भी अन्तर दिखायी देता है वह शिक्षणोत्तर गतिविधियों में ही। उदाहरण के लिए आज भी यदि कोई अन्तर्जातीय विवाह करना चाहता है तो उसके लिए सबसे उपयुक्त स्थान आर्य समाज का मन्दिर माना जाता है। इसके अलावा समाज अपनी संस्थाओं के विद्यार्थियों के माध्यम से वेद चेतना शिविर लगाता है और इसके द्वारा लोगों में वैदिक ज्ञान का प्रसार किया जाता है।

पाश्चात्य संस्कृति जिस ढंग की स्वतंत्रता की वकालत करती है वह स्वतंत्रता से अधिक स्वच्छंदता प्रतीत होती है। स्वच्छंदता अतिशय व्यक्तिवादिता का परिणाम है। स्वतंत्रता का मूल्य केवल उन्हीं के हाथ में सुरक्षित रह सकता है जिनमें विवेकपूर्ण और सर्वकल्याणकारी निर्णय लेने की योग्यता हो। शिक्षा का लक्ष्य इसी योग्यता और उत्तरदायित्व की भावना का विकास है। छात्रों में इन गुणों के विकास के लिए अनुशासन का विशेष महत्व है। आर्य समाज द्वारा संचालित संस्थाओं में इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित कतिपय लोग इसे आशंका की दृष्टि से देखते हैं। कन्या विद्यालयों को स्त्री की आजादी पर एक प्रहार माना जाता है यहाँ तक कि कन्या आश्रमों (Girls' Hostels) को जेल (Virtual prison) की संज्ञा दी जाती है।¹⁹ अनुशासन के नाम पर कुछ कड़ाई से इनकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इसके पीछे वह भावना देखनी चाहिए जो विशेष रूप से विद्यार्थियों एवं सामान्य रूप से समाज के हित में होती है। कोई भी व्यक्ति इस बात से असहमत नहीं हो सकता कि विद्यार्थियों में अनुशासन की भावना विकसित की जानी चाहिए। इसे कैसे किया जाय यह एक गम्भीर प्रश्न है। आर्य समाज के संस्थान परम्परागत तरीके का समर्थन करते हैं। प्रातः और सायं की वन्दना, सामूहिक हवन, प्रवचन, वैदिक चेतना शिविर आदि अनेक विधियों द्वारा विद्यार्थियों में बन्धुत्व और सेवा भाव विकसित किया जाता है। ये विधियाँ युगों से प्रमाणित कारगर तरीके हैं।

निष्कर्ष

आर्य समाज की लोकप्रियता का प्रमुख कारण इसका समाजिक और शैक्षणिक क्षेत्र में सुधार की पहल रहा है। धर्म और जाति के नाम पर भेदभाव दूर करने तथा स्त्रियों को समान अधिकार दिलाने के लिए यह सदैव संघर्षरत रहा है। एक तेजस्वी व्यक्तित्व के दर्शन पर आधारित इस समाज में अत्यन्त संभावनायें हैं। वास्तव में आज कोई भी एक संस्था – सरकारी या गैर-सरकारी – स्त्रियों की दशा में चमत्कारिक सुधार नहीं कर सकती है। आवश्यकता है एक सम्मिलित एवं बहुमुखी प्रयास की। राधाकृष्णन आयोग ने महिलाओं के लिए विशेष पाठ्यक्रम की आवश्यकता पर बल दिया था क्योंकि उनकी समाज में विशेष भूमिका होती है। कोठारी आयोग ने महिला शिक्षा के महत्व को रेखांकित करते हुए विशेष पाठ्यक्रमों जैसे गृहविज्ञान, हस्तशिल्प आदि की आवश्यकता बतायी परन्तु उन्हें वैकल्पिक विषय के रूप में रखने का सुझाव दिया था जिससे लड़कियाँ अपनी रुचि के अनुरूप विषयों का चयन कर सकें।

भारत में नारी शिक्षा के स्तर का अध्ययन करने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा एक समिति (Towards Equality, Govt. of India 1974) का विचार है कि भारत के शैक्षणिक पाठ्यक्रम में लैंगिक असमानता दिखायी देती है। इसे महिलाओं द्वारा किये गये योगदान को महत्व देकर नारी शिक्षा को बढ़ावा दिया जा सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में समानता के लिए नारी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए पाठ्यक्रमों में महिलाओं की भूमिका का समुचित प्रतिनिधित्व देने की बात कही गयी है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का भी उद्देश्य शिक्षा में लैंगिक समानता को बढ़ावा देना तथा स्कूलों में लड़कियों की समान पहुंच और ठहराव को सुनिश्चित करना है। ये प्रयास सराहनीय होते हुए भी पर्याप्त नहीं हैं। उन्नीसवीं सदी के सुधारवादी आन्दोलनों का प्रमुख लक्ष्य महिलाओं के कल्याण के लिए काम करना था। आज जब समाज की मानसिकता में रचनात्मक परिवर्तन हो रहा है तथा परिस्थितियाँ बदल रही हैं तो महिला सशक्तीकरण की बात करना स्वाभाविक है। दहेजप्रथा, घरेलू हिंसा, छेड़खानी, यौन-शोषण आदि शिक्षित और अशिक्षित नारी की सामान्य समस्यायें भी हैं। बालविवाह का प्रचलन आज भी देश के कई भागों में है। छिट-पुट सती होने की घटनायें सामने आती रहती हैं। बालश्रमिकों की समस्या तो है ही, इसमें लड़कियों को विशेष शोषण का शिकार होना पड़ता है। लड़की पराई होती है यह धारणा भारतीय मानस में कहीं गहरे पैठी हुई है। इसके कारण जहाँ लड़की और लड़के में प्राथमिकता देने की बात आती है वहाँ लड़की ही नुकसान में होती है। इन सभी बुराइयों की जड़ मुख्य रूप से गरीबी और अशिक्षा में है। गरीबी और अशिक्षा मिलकर एक ऐसा दुष्चक्र बनाते हैं जिनसे निकलना मुश्किल होता है। जो लोग केवल महिला सशक्तीकरण की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि वे प्राचीन दशायें आज भी विद्यमान हैं जिनकी वजह से महिला कल्याण की बात की गयी थी। इसलिए नीतियाँ बनाते समय महिला कल्याण और महिला सशक्तीकरण दोनों को लक्ष्य करना चाहिए। इसके लिए आर्य समाज के अनुभवों से लाभ उठाया जा सकता है। नारी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए निम्नलिखित बातों का अनुसरण किया जा सकता है:

- प्रत्येक गांव में एक कन्या पाठशाला की स्थापना करनी चाहिए। लड़कियों के लिए कॉलेज भी इस तरह स्थापित किये जाने चाहिए कि किसी लड़की को एक किलोमीटर से ज्यादा न चलना पड़े।

- प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापन के कार्य में अधिक से अधिक महिलाओं को अवसर देना चाहिए क्योंकि बाल मनोविज्ञान को एक महिला से अधिक कौन जान सकता है। इसके लिए महिला शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए।
- बाल-विवाह ग्रामीण क्षेत्र की लड़कियों की शिक्षा में प्रमुख बाधा है। इसको रोकने का प्रभावकारी उपाय करना चाहिए।
- महिलाओं को आर्थिक रूप से सबल बनाने के लिए विशेष योजनाएँ बनानी चाहिए तथा जिन योजनाओं को लागू किया गया है उनका प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित करना चाहिए।
- अशिक्षित कामकाजी महिलाओं के लिए विशेष अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।
- बच्चों एवं गर्भवती महिलाओं की देखभाल के लिए विशेष प्रशिक्षण कैम्प लगाने चाहिए।
- महिलाओं में निरक्षरता को समाप्त करने के लिए विशेष अनुदान की व्यवस्था की जानी चाहिए।
- पंचायत राज व्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी एक क्रान्तिकारी कदम रहा है। इसे निरक्षरता दूर करने का एक माध्यम बनाना चाहिए।
- स्कूल के पहले की शिक्षा (preschool education) बच्चों के मानसिक एवं शारीरिक विकास के लिए महत्वपूर्ण है। यही वह समय है जब बच्चों। विशेषकर बालिकाओं में शिक्षा के प्रति रुचि जगायी जा सकती है। पंचायती राज के माध्यम से इसे लागू किया जा सकता है। लाला देवराज द्वारा प्रयुक्त “खेल खेल में शिक्षा” इसके लिए एक आदर्श हो सकता है। शहरों में इसका कुछ प्रचलन है परन्तु ग्रामीण क्षेत्र इससे पूरी तरह अछूते हैं जहाँ पर सबसे ज्यादा बच्चे बीच में ही स्कूल छोड़ते हैं। बीच में स्कूल छोड़ने का अन्य बातों के अलावा प्रमुख कारण शिक्षा में शुरुआती रुचि का अभाव है। आँगनवाड़ी कार्यक्रम को और सशक्त बनाकर इस दिशा में सुधार किया जा सकता है।

दर्शनशास्त्र विभाग

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

aktewari@dhsgsu.edu.in

सन्दर्भ :

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती (1994), *सत्यार्थ प्रकाश* (दिल्ली: आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 42nd संस्करण), पृष्ठ संख्या 20 पर उद्धृत — मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।
2. वही, पृष्ठ 20.
3. वही, पृष्ठ 20.
4. भारतीयों के पिछड़े होने का यह तर्क दिया जाता था कि इस समाज में कट्टर जातिप्रथा तथा छुआ-छूत विद्यमान है और स्त्रियों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है।
5. D. Vable ने अपनी पुस्तक *The Arya Samaj* (New Delhi: Vikas Publishing House Pvt. Ltd., 1983) में आर्य समाज को एक अलग धर्म मानने की पुरजोर वकालत की है। उनका मानना है कि इसमें ईसाई और इस्लाम धर्म की तरह वे सभी लक्षण विद्यमान हैं जो इसे एक स्वतन्त्र धर्म स्वीकार करने योग्य बनाते हैं। वे स्वामी श्रद्धानन्द की तरह इस अवधारणा का निराकरण करते हैं कि आर्य समाज हिन्दू धर्म के भीतर एक सुधारवादी

आन्दोलन है। वेद इस धर्म का आधार हैं और इसमें विश्व-धर्म होने की क्षमता बतायी गयी है। परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि आर्य समाज का आधार हिन्दू धर्म की मौलिक भावना ही है। साथ ही यह भी सत्य है कि विश्व के सभी धर्म इसी मौलिक भावना पर आधारित हैं। चूँकि हिन्दू धर्म की प्रचलित मान्यताओं और व्यवहार में आर्य समाज की सभी मान्यतायें स्थान नहीं बना सकीं हैं इसलिए इसका अलग अस्तित्व और उपयोगिता बनी हुई है। मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद और पुराणों की महत्ता हिन्दू समाज में निश्चित रूप से प्रचलित हैं जिनका कि आर्य समाज प्रतिकार करता है। रोम्या रोलों का विचार है कि स्वामी दयानन्द अपने रोमन चर्च (हिन्दू धर्म) के मार्टिन लूथर थे। राधाकृष्णन और महात्मा गाँधी जैसे चिन्तक भी इसी तरह के विचार व्यक्त करते हैं। न्यायमूर्ति गजेन्द्रगडकर ने 'हिन्दू' शब्द का अर्थ निकालते हुए कहा कि हिन्दू एक धर्म नहीं बल्कि जीवन पद्धति है। इस अर्थ में आर्य समाज को हिन्दू धर्म से अलग एक धर्म कहना बेमानी और अनावश्यक प्रतीत होता है। स्वामी दयानन्द ने 'हिन्दू' शब्द के प्रयोग पर यह कहते हुए कड़ी आपत्ति जतायी थी कि इसका प्रयोग फारसी। अरबी मुस्लिम ग्रन्थों में 'दास', 'गहरे रंग की त्वचा वाले चोरों', 'ऐसा व्यक्ति जो प्रचलित ईश्वर की अवधारणा को न मानता हो' आदि के लिए किया गया है। जाहिर है कि 'हिन्दू' शब्द फारसी से लिया गया है और इस भाषा के बोलने वाले स्वभावतः इस शब्द का अपनी भाषा में प्रचलित अर्थ स्वीकार करने की प्रवृत्ति रखते हैं। इसीलिए स्वामी जी ने 'हिन्दू' के बजाय 'आर्य' शब्द के प्रयोग का सुझाव दिया था (see op. cit. Vable p. 59-61). स्पष्ट है कि यहाँ झगड़ा केवल शब्द का है। न्यायमूर्ति गजेन्द्रगडकर की परिभाषा के अनुसार आर्य समाज को हिन्दू से अलग धर्म नहीं माना जा सकता।

6. सत्यार्थ प्रकाश, *op. cit.* पृष्ठ 50.
7. वही, पृष्ठ 50.
8. वही, पृष्ठ 50.
9. वही, पृष्ठ 20-59.
10. वही, पृष्ठ 26.
11. यह कॉलेज आजादी के बाद पाकिस्तान में चला गया और पाकिस्तान ने इसका नाम बदलकर इस्लामिया कालेज कर दिया है। लाहौर के डी०ए०वी० कालेज को अम्बाला तथा डी०ए०वी० स्कूल को चंडीगढ़ में स्थानान्तरित किया गया था।
12. विष्णु प्रभाकर एवं विष्णुदत्त राकेश (993), *स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती* (नई दिल्ली: साहित्य अकादमी) पृष्ठ 29.
13. Madhu Kishwar, 'Arya Samaj and Women's Education: Kanya Mahavidyalaya, Jalandhar', *Economic and Political Weekly*, Vol. XXI, No. 17 (April 26, 1986), pp. WS - 9 - WS - 24 इस लेख में कन्या महाविद्यालय जालन्धर की केस स्टडी की गयी है तथा रोचक मूल्यांकन किया गया है। 1912 ई० में विद्यालय में 362 छात्राएँ थीं जिनमें 158 हास्टल में रहती थीं और 26 विधवा भवन में (पृष्ठ WS-19 पर एक सारणी से)।
14. भारतीय परम्परा में ज्ञान का प्रसार मौखिक रूप से होता रहा है। इसलिए सभी के लिए लिपि का ज्ञान होना आवश्यक नहीं समझा गया था। आज साक्षर होने का मतलब है लिखने और पढ़ने की योग्यता रखना। यह तब आवश्यक हो गया जब ज्ञान को लिपिबद्ध करने की परम्परा विकसित हुई। पुस्तक छापने की तकनीक ने ज्ञान को प्रसारित करने एवं स्वयं पढ़कर ज्ञान प्राप्त करने की विधि को बढ़ावा दिया।
15. <http://www.hinduonnet.com/2001/10/09/stories/13090178.htm>, retrieved on May 29, 2024.
16. स्वामी दयानन्द सरस्वती कर्म के आधार पर वर्ण के निर्धारण की बात स्वीकार करते थे न कि जन्म के आधार पर। उनका यह मन्तव्य रहा है कि सभी एक ही ईश्वर की सन्तान हैं तथा सबको समान अधिकार प्राप्त है। स्वामी जी के अनुसार शूद्रों को भी अध्ययन-अध्यापन का अधिकार है। लेकिन उनके लिए प्रतिबन्ध यह था कि वे उपनयन के अधिकारी नहीं माने गये थे और अपने से इतर वर्ण को वे शिक्षा नहीं दे सकते थे। रोचक तथ्य यह है कि स्वामी जी का विचार था कि शूद्रों को खाना बनाना सीखना चाहिए जिससे वे अन्य लोगों के लिए खाना बना सकें और अन्य लोग खाना बनाने में बिना समय नष्ट किये अपना उत्तरदायित्व निभा सकें। यह विचार छुआ-छूत मानने वालों पर करारा प्रहार है।
17. सत्यार्थ प्रकाश। पृष्ठ 51।
18. Avijit Pathak 2002, *Social Implications of Schooling: Knowledge, Pedagogy and Consciousness* (Delhi: Rainbow Publishers), pp. 165-235.
19. Madhu Kishwar, 1986, p. WS - 23.

भारतीय सामाजिक संरचना के निर्माण में प्राकृतिक संसाधनों की भूमिका

ब्रजेन्द्र कुमार¹, अभितोधन बाबूराव कांबले²

सारांश :

शोध-पत्र में भारत की सामाजिक संरचना को प्राक्-इतिहास काल में गठन से प्रारम्भ कर मध्यकाल में आये परिवर्तनों की पड़ताल करते हुए आधुनिक भारत में प्रारूपों में आये संक्रमणों को प्राकृतिक संसाधनों के परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश की गई है। भारतीय सामाजिक संरचना में एकत्व और विविधता के तत्त्वों का समन्वय विद्यमान मिलता है। प्रागैतिहासिक कालीन मानव ने जिस प्रकार से अपने जीवन को एक इकाई के रूप में संगठित किया है, उसमें उनकी प्राकृतिक संसाधनों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। प्राकृतिक संसाधनों के संकेंद्रण के लिए वह सतत् रूप से प्रयासरत रहा है। प्राचीन भारतीय समाज की संरचना में प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण के लिए संगठित प्रयास प्रारम्भ हो जाते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में समाज की संरचना में प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता और उन पर नियंत्रण के लिए वर्ण व्यवस्था की स्थापना को एक मूर्त रूप देकर निश्चित रूप से ही प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण की एक प्रक्रिया के रूप में दिखाई पड़ता है। इस प्रक्रिया में विशेषीकरण के माध्यम से विभेदीकरण को आकार देकर इन संसाधनों से बहिष्करण की प्रवृत्ति आकार लेने लगती है। समयानुसार ये प्रवृत्ति आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विभिन्नताओं को अपने अंदर परिवर्तित करती जाती है। मध्यकाल में नई राजनैतिक सत्ता की स्थापना परम्परागत भारतीय संरचना को नियंत्रित करने के लिए केन्द्रीकृत और शक्ति के आधार पर नीतियों को अपनाती है, जिससे सामंतीय प्रवृत्ति पर नियंत्रण स्थापित कर पूँजीवादी व्यवस्था के द्वार खुल जाते हैं। आधुनिक काल में ब्रिटिश राज सत्ता की नीतियाँ रणनीतिक रूप से देश के प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए मुद्रा आधारित अर्थव्यवस्था को आकार देते हैं। इन नीतियों से भारतीय सामाजिक संरचना में वह संक्रमण शुरू हुआ, जिसने सामाजिक सुधार आंदोलनों की राह खोली थी। प्रस्तुत शोध पत्र में यह देखने का प्रयास किया गया है कि व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को नियंत्रित करने के लिए साधनों को चिन्हित करते हुए, समाज में व्यक्ति का स्थान निर्धारित करने में प्राकृतिक संसाधनों द्वारा निभायी जाने वाली भूमिका को समायोजित करने में विभिन्न माध्यमों का उपयोग किस प्रकार किया गया था।

बीज शब्द : आखेटक, संग्राहक, आदिम, बर्बर, प्रजनन, ग्राम्यता, अधिशेष, रज्ज, बज्ज, खेतिहर, जाति भ्रम, स्तरीकरण, सोपानीकरण, यजमानी, यातना, अपात्रीकरण।

किसी समाज का ऐतिहासिक विधि से अध्ययन उन प्रारूपों को समझने में मदद करता है, जो बहुत गहराई और व्यापकता से सन्निहित रहते हैं। भारतीय सामाजिक संगठन के निर्माण में प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण की अपनी विशेष भूमिका रही है। मानव ने अपने विकास की

कहानी उपलब्ध प्राकृतिक तत्वों की पहचान और उपयोग के आधार पर लिखी हुई है। प्रागैतिहासिक काल में मानव ने पाषाण को पहचान कर उसका इस्तेमाल हथियारों के रूप में कर अपनी सुरक्षा और खाद्य आवश्यकताओं को पूरा करने में किया था। पाषाण के साथ ही उसने हड्डी का प्रयोग भी हथियार बनाने में शुरू कर दिया था। मनुष्य प्रकृति के नए-नए तत्वों को पहचान कर उनके साथ दोस्ताना रिश्तों के साथ जुड़ता जा रहा था। यह मनुष्य की आखेटक और संग्राहक स्थिति थी जिसमें उसकी मुख्य आवश्यकतायें खाने और पीने तक सीमित थीं। इसे 'आदिम समाज' का नाम दिया गया है। जिसमें न संपत्ति थी और न किसी प्रकार का एकाधिकार। मनुष्य द्वारा मिट्टी के बर्तन बनाने की कला के विकास की प्रक्रिया उसे बर्बर युग में ले जाती है। बर्बर युग की विशेषता पशुपालन, प्रजनन और कृषि माने गये हैं। बर्बर युग की उन्नत अवस्था में खनिजों को गलाने, लेखन कला का विकास और कृषि का विस्तार देखने को मिलता है।¹ इस प्रकार से मानव के क्रमिक विकास ने उसे शिकारी से संग्रहकर्ता, संग्रहकर्ता से पशुपालक, पशुपालक से कृषिकर्मी और कृषिकर्मी से पूँजीपति के रूप में स्थापित किया था।

युवाल नोवा हरारी ने 'आग' को मनुष्य और दूसरे प्राणियों के बीच पहली खाई पैदा करने वाला तत्व माना है। प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य अपने आपको प्रकृति के दास के रूप में देखता है। इसीलिए वह प्राकृतिक संसाधनों जैसे— अग्नि, वायु, जल, पत्थर और अन्य पर नियंत्रण के लिए उनको दैवीय रूप देता है। दैवीय रूप में उन्हें स्थापित कर उन पर कुछ माध्यमों से नियंत्रण स्थापित करने की प्रक्रिया अपनायी गई तथा जिनको इन तत्वों का ज्ञान नहीं था, उनको वंचित रखा गया।² इस तरह से मनुष्य समूह की इकाइयों के मध्य साथ रहने लगे थे। समूह में साथ रहने की प्रवृत्ति ने उनको संगठित करना शुरू कर दिया था। जैसे ही मनुष्य ने समूह में साथ रहना शुरू किया, वैसे ही वर्चस्व को स्थापित करने के साधनों को विकसित किया जाने लगा था। इसी के साथ वर्चस्व स्थापित करने के नये साधन और विषय की खोज भी की जाने लगी थी। मानव जीवन के प्रमुख विषय इस समय प्राकृतिक संसाधन ही थे। अतः उन उपलब्ध संसाधनों पर नियंत्रण के लिए सामाजिक वातावरण का निर्माण होने लगा था। सामाजिक संरचना के गठन से राज्य की स्थापना की आवश्यकता ने जन्म ले लिया था।

बृजदुलाल चट्टोपाध्याय के अनुसार भारतीय सन्दर्भ में बौद्ध स्रोतों में चित्रित राज्य की उत्पत्ति में प्राकृतिक संसाधनों का संदर्भ मिलता है। इन स्रोतों से उन परिस्थितियों का भी पता चलता है जिनमें प्रकृति ने राज्य की उत्पत्ति में भूमिका निभाई थी। इनमें जीविका का सबसे पहला साधन पेड़ों के फल और जड़ें थीं। बौद्ध परंपराएँ वनलता और कुछ प्रकार की जड़ों को जीविका के सबसे शुरुआती साधन के रूप में संदर्भित करती हैं। मॉर्गन के संदर्भ से वे बताते हैं कि पहली आजीविका 'एक सीमित आवास पर फलों और जड़ों पर प्राकृतिक निर्वाह थी। तब कोई भी यह नहीं सोच सकता था कि फल और पेड़ केवल उसके हैं। वे चिंताओं और लालच से मुक्त एक तरह के सामंजस्यपूर्ण जीवन का आनंद लेते थे। लेकिन जीवन का यह सामंजस्यपूर्ण स्वरूप लाभ के लालच और खेती की कला की खोज के कारण नष्ट हो गया। जिसने लोगों को अपनी खपत से ज्यादा उत्पादन करने में सक्षम बनाया।³ कृषि के उत्पादन और अन्य प्राकृतिक संसाधनों जैसे— नदियों, खेतों, पहाड़ियों, पेड़ों, झाड़ियों और पौधों को बलपूर्वक और हिंसा से अपने अधीन कर लिया था।

राज्य की उत्पत्ति के साथ ही प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार के प्रयास तीव्र हो जाते हैं। यह प्रारूप सभी समाजों में थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ सामान्य रूप में देखने को मिलते हैं। नव प्रस्तर क्रांति का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य मानवीय अर्थ-व्यवस्था में ग्राम्यता का उदय था, जो कृषि के उदय के साथ-साथ हुआ था।⁴ कृषि के विकास ने मानव जीवन को स्थायित्व दिया। अब वह एक स्थान पर बस कर सामाजिक रूप से संगठित हो रहा था। कृषि के विकास के साथ ही संपत्ति का सृजन होने लगा था। संपत्ति के रूप में 'भूमि' पशुओं के बाद प्रमुख साधन बन गई थी। भूमि पर नियंत्रण और उससे अधिक उत्पादन के लिए साधनों का विकास तेजी से किया जाने लगा था। अधिकाधिक भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए जंगलों को साफ किया जाने लगा। इस प्रकार से मनुष्य, प्रकृति के साथ नियंत्रणकर्ता की भूमिका में आता जा रहा था।

भारतीय सामाजिक संगठन का प्रारूप भी कुछ इसी प्रकार से दिखाई पड़ता है। एक स्तरीकृत समाजीकरण का प्रारूप प्रदर्शित करता है कि कैसे उसकी संरचना की गई है? श्रम-विभाजन और कार्य-विभाजन से दक्षता और विशेषज्ञता का जो विस्तार हुआ, उसने उत्पादन को बढ़ा कर अतिरेक का सृजन किया। ये अतिरेक कृषि क्षेत्र में पहले बढ़ा इसीलिए इसकी बढ़त ने जनसंख्या वृद्धि को सुनिश्चित किया। एक ओर अतिरेक बढ़ाने के लिए श्रम की आवश्यकता थी, तो दूसरी ओर बिना श्रम के अतिरेक पर नियंत्रण की। इस स्थिति ने सामाजिक संगठन की प्रक्रिया को जटिल रूप देना शुरू कर दिया था जिससे विभाजन और वर्चस्वकारी शक्तियाँ हावी हो गई थीं। रामशरण शर्मा का मानना है कि "प्रारंभिक भारत की सामाजिक संरचनाओं को भौतिक जीवन के परिवर्तनों से अलग करके इनका अध्ययन नहीं किया जा सकता है। वास्तव में वैदिक तथा वैदिकोत्तर अनुष्ठान सामाजिक तथा आर्थिक दोनों ही प्रकार के विकासों के आवश्यक मार्गदर्शक रहे हैं। इसके लिए मिथकों और अनुष्ठानों के उद्भव और विकास को वास्तविकता के साथ सम्बन्धित किया गया। इनकी उत्पत्ति किन्हीं भौतिक तथा सामाजिक-पर्यावरण के कारण हुई है, जिन्हें ये सहायता प्रदान करते हैं और स्थिर बनाते हैं।⁵ सामाजिक गठन की प्रणाली में उन तत्त्वों को शामिल किया जाने लगा था, जिनसे उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके। एक समाज के स्वरूप का और उसके आकार का निर्धारण उत्पादन के साधनों और उन पर नियंत्रण की प्रक्रिया पर निर्भर होता है। भौतिकवादी इतिहासकारों ने सामाजिक इकाइयों, धर्म, विचारधारा, कला और साहित्य, राजतंत्र आदि को अधिरचना के क्षेत्र में रखते हुए अध्ययन किया है। प्रारम्भिक भारत में उत्पादन विधि के अध्ययन में भूमि, चरागाह, वृक्ष, जंगल, झील, इत्यादि के प्रयोग, आधिपत्य तथा स्वामित्व पर अधिकार महत्वपूर्ण हो जाता है। अधिशेष का सामाजिक वितरण और अधिशेष को अपना बना लेने की समस्या व्यापार तथा नगरों की समस्या तक ले जाती है।⁶ पर्यावरण के साथ अनुकूलता ने मानव को नए-नए प्राकृतिक संसाधनों से परिचित कराया और उनके उपयोग के माध्यम से जीवन को आसान किया। इससे मानव जीवन समृद्ध होता गया और सभ्यता के स्तर पर पहुंचा और सामाजिक संरचना का स्वरूप जटिल होता गया। इरफान हबीब ने लिखा है कि "सिंधु सभ्यता की आवास व्यवस्था और प्राकृतिक संसाधनों के वितरण तथा अतिरिक्त माल के उत्पादन और अन्य व्यक्तिगत संपत्ति रखने की अवधारणा से स्पष्ट होता है कि समाज के उच्च वर्गों में जाति व्यवस्था दृढ़ता से स्थापित थी।"⁷ सिंधु

सभ्यता के उन्नत नगर और वहाँ के लोगों के जीवन स्तर के आधार पर यह समझा जा सकता है कि समाज आपस में विभिन्नताओं के आधार पर विभाजित हो चुका था। इस विभाजन का आधार उनके कार्य करने की दक्षता और प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण हो सकता है।

भारतीय समाज के गठन की प्रक्रिया में पशुचारक से कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था की ओर संक्रमण के साथ ही कई नई कलाएँ और शिल्प भी उभरे। गंगा के मैदान में 1500 ई. पू. तक कृषि स्थापित हो गई थी, इसलिए पहले के बाशिंदे किसान रहे होंगे और शासकों व पुरोहितों के उपभोग के लिए वे नियमित तौर पर पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त उत्पादन करते रहे होंगे।⁸ ऋग्वैदिक काल में सामाजिक व्यवस्था का संगठनात्मक विस्तार होने लगा था। समाज के विभाजन की संरचित प्रक्रिया इस काल में देखने को मिलती है। ऋग्वेद के दशवें मण्डल के पुरुष सूक्त में वर्णव्यवस्था का संयोजन मिलता है। प्रारंभिक दौर में इस वर्ण व्यवस्था का आधार वर्ण (रंग) को माना गया था। लेकिन बदलते हुए समय के साथ जैसे-जैसे आजीविका के साधन विकसित होते गए वैसे-वैसे उसके आधारों में परिवर्तन होते गये। रोमिला थापर के विचार में “ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्ण-व्यवस्था की रचना एक रणनीतिक प्रक्रिया के रूप में की गई थी। यह सूक्त वेद में बाद में जोड़ा गया है और इसका काल ई.पू. पहली सदी के आस-पास माना जाता है।”⁹ उत्तर वैदिक साहित्य में दस्तकारी से जुड़े हुए व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। जैसे- धातुकर्म या बढ़ईगिरी, बुनाई, चर्म-कर्म, आदि। जीवन निर्वाह के साधन के रूप में कृषि के महत्व की अभिवृद्धि तथा शिल्पों में आई विविधता के साथ ही उत्तर वैदिक लोग पशु-चारक और खानाबदोशी वाली जीवन शैली का त्याग करते चले गए। उनके जीवन में निश्चितता और स्थिरता आ गई और अब वे अपने लिए तथा किसी हद तक पुरोहितों और शासक वर्ग को सहारा देने के लिए काफी पैदावार करने की स्थिति में थे। परंतु वे कृषि से भिन्न खास-खास कारीगरियों और धंधों में लगे लोगों के उपभोग के लिए पर्याप्त अधिशेष का उत्पादन नहीं कर पाते थे।¹⁰ समाज में होने वाले पेशेगत विकास ने श्रम के महत्व को पहचानना शुरू कर दिया था। इसीलिए व्यवसाय या पेशे जाति का और धर्म का आधार भी बनने लगे थे। भगवान सिंह शूद्र वर्ण की उत्पत्ति के विषय में बताते हैं कि आजीविका विहीन हो जाने पर जो लोग दुःखी मन से कुछ भी करने के लिए विवश हुए उन निस्तेज, कमजोर और कातर लोगों के लिए शूद्र शब्द प्रयोग में लाया जाने लगा था।¹¹ विभाजन की यह प्रक्रिया स्तरीकरण पर निर्भर थी, जिसमें सोपानीकरण उच्चतर से निम्नतर की ओर था। इन सोपानों में उच्च स्तर पर ब्राह्मण, उससे निम्न स्तर पर क्षत्रिय, उससे निम्न स्तर पर वैश्य और सबसे निम्न स्तर पर शूद्र थे।

छठीं सदी ईसा पूर्व तक अभिजन लोग खाद्यान्न के पैदावार का विस्तार और उसके अधिशेष पर कब्जा करने की स्थिति में आ गए थे। जनजाति से जाति समाज की संरचना में संक्रमण की प्रक्रिया ने इस अभिजन को उस स्थिति में लाभ दिया था कि श्रम गहन, उबाऊ और कम हैसियत के कामों को खाद्यान्न संग्रहकर्ता जनजातियों को दे दिया जाए और इस प्रक्रिया को वर्ण व्यवस्था के आधार पर तार्किक रूप से सिद्ध किया गया था। भोजन संग्रहकर्ता समूह को शूद्र और पांचवें दर्जे का स्थान प्रदान कर द्विज से बाहर कर दिया गया था। इन्हें कृषि, कारीगरी और सेवा के कार्यों में संलग्न कर कर्म और धर्म से जोड़ दिया गया था। इस प्रक्रिया को विशिष्टता और पूर्वजन्म के पापों

से संबंधित कर तार्किकता प्रदान की गई थी।¹² समाज के अभिजन द्वारा प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण और अधिशेष को हड़पने में संगठित प्रयासों को तरजीह दी गई थी। इसलिए सरदारियों के स्थान पर बड़े राज्यों का विस्तार होने लगा था। इन राज्यों ने दो लक्ष्यों पर ध्यान केंद्रित किया। पहले अपने खुद के राज्य से ज्यादा से ज्यादा अधिशेष हड़पने की नीति अपनाई गई और दूसरा अन्य राज्यों के क्षेत्र से अधिक अधिशेष प्राप्त करने के लिए व्यापार और युद्ध का सहारा लिया गया। इसमें ब्राह्मण और उनके यज्ञों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।¹³ राज्य द्वारा कृषि और दस्तकारी उत्पादन को बढ़ाने के लिए प्रौद्योगिकी के विकास को संरक्षण प्रदान किया गया था। उर्सुला एम. फ्रैंकलिन ने प्रौद्योगिकी विकास के दो तरीके बताए हैं— एक कार्य से संबंधित और दूसरा नियंत्रण संबंधी। पहली प्रौद्योगिकी वास्तविक व्यवहार को आसान बना देती है जबकि दूसरी कार्य पर नियंत्रण बढ़ाने का प्रयास करती है। वे इन्हें साकल्यवादी (होलिस्टिक) और आदेशात्मक (प्रिसक्रिप्टिव) प्रौद्योगिकी के रूप के रूप में रखते हुए बताती हैं कि साकल्यवादी प्रौद्योगिकियाँ दस्तकारी की धारणा से सम्बद्ध होती हैं। जैसे— कुम्हार, बुनकर और रसोईया आदि। वहीं आदेशात्मक प्रौद्योगिकी कार्य विभाजन से जुड़ी हुई है। इस प्रौद्योगिकी का प्रयोग वर्णाश्रम व्यवस्था में गहराई से दिखाई पड़ता है। लेकिन व्यवसायों से जुड़े हुए वर्ग और जातियों का स्वरूप साकल्यवादी प्रौद्योगिकी के रूप में दिखता है।¹⁴ उक्त दोनों प्रकार की तकनीकियों ने सामाजिक संरचना को इस प्रकार से जटिलता प्रदान की कि प्राकृतिक संसाधनों को आसानी से नियंत्रित किया जा सके।

देवराज चानना और आर. एस. शर्मा ने दिखाया है कि वेदोत्तर तथा मौर्य काल में भारत के कुछ क्षेत्रों में उत्पादन प्रक्रिया में दासों को बड़े पैमाने पर लगाया जाता था। इसके अलावा कबायली समता के ह्रास तथा कबीले के अंदर विभेदीकरण ने कबीले से बृहत्तर वर्गीय समाज का मार्ग प्रशस्त किया, जिसमें कबायली प्रभावों के जारी रहने के बावजूद 'पुरोहित तथा योद्धा जातियाँ आर्य किसान तथा अनार्य भूमी-दासों का दमन और शोषण करने के लिए एक हो गईं।'¹⁵ सामाजिक संगठन की प्रक्रिया में प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण के लिए अब बल प्रयोग कर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए अलग-अलग रणनीतियों को अपनाया जाने लगा था। ये रणनीतियाँ थीं— अन्तर्विवाही प्रथा, शौच-अशौच की पवित्रता, खान-पान के प्रतिबन्ध, धार्मिक कर्मकाण्डों की व्यवस्था, व्यवसायों की प्रकृति और सत्ता से नजदीकी के संबंध आदि। इन्होंने एक दिशा में धन के केन्द्रीकरण को अग्रेसर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। रामशरण शर्मा का मत है कि जिस चीज ने प्राचीन भारतीय समाज को मध्यकालीन समाज में रूपांतरित किया वह थी 'भूमि अनुदान की प्रथा'। पुरोहितों और पुजारियों को भूमि दान-पुण्य अर्जित करने के लिए दी जाती थी। भूमिदानों ने समाज के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया। भूमि अनुदान प्रथा ही सामंती अर्थव्यवस्था का आधार बनी। दान के द्वारा राजा पुण्य अर्जित करना चाहते थे और मंदिर, महंत और पुरोहित जैसे ग्राहिताओं को धार्मिक कार्यों के लिए साधना की आवश्यकता थी। ऐसी प्रथा के उद्भव ने प्राचीन समाज व्यवस्था के आर्थिक आधार पर आए गंभीर संकट को बढ़ावा दिया हुआ था।¹⁶ भूमिदानों ने सामंती समाज के उदय का मार्ग प्रशस्त किया तथा कृषिदासता के विकास ने वंचित समुदाय से बेगार लेने के साथ ही उन पर अन्य अनेक प्रकार के कर लगाने की प्रथा शुरू हुई। इस कारण किसानों की स्थिति और

भी कमजोर होने लगी थी।¹⁷ किसानों की सामाजिक स्थिति में गिरावट का प्रभाव समाज में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट के रूप में दिखाई पड़ता है। महिलाओं की गिरती हुई सामाजिक स्थिति से जाति व्यवस्था में और अधिक कठोरता आने लगी थी। इसका कारण था प्राकृतिक संसाधनों पर से महिलाओं के नियंत्रण को कमजोर करते हुए हटाना।

पूर्व मध्यकाल में राजपूतों ने जैसे-जैसे भूमि पर नियंत्रण स्थापित किया वैसे-वैसे वे श्रेणी क्रम में ऊपर उठने में सफल हुए तथा स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर राजनीतिक सत्ता को स्थापित किया। राजपूतों का उदय उस गठबंधन को प्रदर्शित करता है जिन व्यक्तियों का भूमि पर नियंत्रण स्थापित था।¹⁸ मध्यकालीन भारत में जब एक बाहरी राजनैतिक सत्ता के साथ संस्कृति का आगमन हुआ तो निश्चित ही उसका प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ना स्वाभाविक था। धार्मिक रूप से नई राजसत्ता के स्थापित होने से पूर्व स्थापित सामाजिक वर्चस्व को बनाये रखने के लिए जाति व्यवस्था को और अधिक कठोर रूप दिया गया। अब एक तरफ जाति की कठोरता थी, तो दूसरी ओर एक नई राजसत्ता जिसने जाति की गतिशीलता के द्वार खोल दिये थे। इस गतिशीलता से वंचित समुदाय के लोगों को एक अवसर मिल रहा था कि वे अमानवीय कार्यों और निम्न जीवन स्तर से बाहर निकलने के लिए प्रयास करें। यह एक प्रकार का देशांतरण था। टी. के. ऊम्मेन ने 'देशांतरण' से तीन प्रकार की गतिशीलता— भौगोलिक, सामाजिक, और वैचारिक को सामने रखा है। इसी के अन्तर्गत प्राकृतिक संसाधनों से वंचित तबके ने देशांतरण के मार्ग को अपनाने में रुचि प्रदर्शित की थी। वैचारिक देशांतरण औपनिवेशिक काल में आधुनिक शिक्षा के माध्यम से गतिशीलता को पा सका जिससे समाज में आजीविका के नए साधन विस्तृत हुए।¹⁹ सतीश चंद्र ने इस बात को स्पष्ट किया है कि भक्ति काल के दौरान रामानंद ने जाति पर ध्यान दिए बिना अपने ज्ञान के द्वार सभी के लिए खोल दिए थे।²⁰ इरफान हबीब ने सवाल उठाया है कि धार्मिक आंदोलन से जुड़े दस्तकारी और निम्न वर्ग के संतो जैसे कबीर, रैदास, सेन और दादू आदि के उपदेशों और उनकी शिक्षाओं को सामाजिक स्तर पर जितनी व्यापक स्वीकृति मिली उसके पीछे कहीं वह सामाजिक अस्थिरता तो नहीं थी, जिसने सल्तनतकालीन बाजार आधारित अर्थव्यवस्था में दस्तकारी से जुड़े वर्गों के सामने चुनौती खड़ी कर दी थी। और यह चुनौती प्राकृतिक संसाधनों के पुनः वितरण की मांग कर सामंजस्य स्थापना के लिए प्रयासरत थी।²¹ मध्यकाल के भक्ति और सूफी संतों ने विषमताग्रस्त समाज में मानव की अंतर्निहित शक्तियों को जगा कर समाज में व्याप्त कुरीतियों तथा अंधविश्वासों, आडम्बरों पर प्रहार करते हुए समाज में समरसता स्थापित करने के लिए लोगों को नई राहें दिखाने में मदद की थी।²² ताराचंद का मानना है कि इस्लाम के प्रजातांत्रिक नजरिये ने सामाजिक जीवन को इतनी गहराई से प्रभावित किया कि हिन्दू धर्म में सामाजिक समानता की भावना तेज हो गई और सामाजिक बंधनों को तोड़ने की प्रवृत्ति विकसित हुई, जिससे राजनीतिक समरूपता बनाने और स्वामिभक्ति की भावना का विकास हुआ।²³ इसके लिए मध्यकाल के भक्ति और सूफी संतों ने एक नई सामाजिक संरचना के निर्माण पर बल दिया। जे. एल. मेहता का मानना है कि राजनैतिक प्रभुसत्ता को सामाजिक संरचना पर स्थापित करने के उद्देश्य से मुस्लिम अभिजात तंत्र ने हिंदुओं के जातिभेद से भी अधिक नस्लीय, जातीय और जनजातीय भेदभाव को अपनाया था।²⁴ भारत में कुलीनता के नए स्वरूप रज़्म (युद्ध) व बज्म (आनंद)

ने सामाजिक व्यवहार में उस विचार को जोड़ दिया जिसमें एक भद्रजन की प्रतिष्ठा व सम्मान के लिए घरेलू कार्य करना ठीक नहीं माना गया तथा श्रम का उपहास करते हुए दासों के प्रयोग को बढ़ावा दिया गया था।²⁵ मध्यकालीन भारत में भूमि संबंधी विशेषाधिकार प्राप्त जमींदार जिन्हें पुश्तैनी अधिकार दिए गए थे तथा दूसरी ओर राजकीय कार्यों के लिए शासको द्वारा मनोनीत जागीरदार व अमीर थे। इस काल में विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग ने प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित कर समाज की इकाइयों और राज्य पर अपना वर्चस्व स्थापित करने में भूमिका का निर्वहन किया हुआ था।²⁶ सल्तनत काल में अमीर वर्ग का समायोजन राज्य को केन्द्रीकृत ढांचा प्रदान करने के लिए किया जा रहा था ताकि शासित जनों को नियंत्रित किया जा सके। मुगल काल में उमरा और उलेमा वर्ग ने प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण के लिए राज्य के माध्यमों के रूप में कार्य किया था।

18वीं सदी में मुद्रा आधारित अर्थव्यवस्था के विकास में पूंजीवादी व्यवहार को स्थान दिया जाने लगा था, जिसने भूमि के स्वामित्व की प्रकृति में परिवर्तन कर व्यवसायिक फसलों के उत्पादन को बढ़ावा दिया। इस उत्पादन से लाभान्वित समाज के वे समुदाय हुए जिनका प्राकृतिक संसाधनों पर अधिक नियंत्रण था।²⁷ औपनिवेशिक काल से पहले प्राकृतिक संसाधनों का बंदोबस्त स्थानीय ग्रामीण समुदायों के उत्तरदायित्व में चला आ रहा था और इसका समाज के उच्च प्रभुता संपन्न समुदायों ने नियंत्रण किया हुआ था। औपनिवेशिक प्रशासन की नीतियों से यह नियंत्रण बिखरने लगा था, लेकिन किसी भी हद तक संपन्न और शक्तिशाली लोग चरागाहों और जंगलों पर अपना विशिष्ट अधिकार बनाए रखना चाहते थे ताकि उनका सामाजिक प्रभुत्व कायम बना रहे।²⁸ आधुनिक भारत में नई राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था ने सामाजिक संरचना में संक्रमण की स्थिति को पैदा कर दिया था। सदियों से चली आ रही सामंती व्यवस्था का पतन हो गया था और सामाजिक व्यवस्था को प्रश्रय देने वाले भी समाप्त हो गये थे। इसलिए औपनिवेशिक दौर में निचली जाति के उत्थान के प्रति अवज्ञा का भाव शुरू हो गया था।²⁹ ब्रिटिशकाल में प्रशासनिक संरचना में आए परिवर्तनों से कुछ बदलाव दिखने लगे थे। जैसे— खेतिहर संरचना में परिवर्तन, बाजार अर्थव्यवस्था की शुरुआत, नये नगरीय केंद्रों में वृद्धि और ब्रिटिश शासन व्यवस्था के अंतर्गत उदारवादी शिक्षा के प्रसार के साथ, पिछड़ी जातियों में से कुछ जातियों ने अपनी आर्थिक व्यवस्था में सुधार किया था और इसके लिए उन्होंने संस्कृतिकरण के रास्ते का अनुसरण किया था।³⁰ ताकि समाज में अपनी नई पहचान को प्रतिस्थापित किया जा सके। यह तरीका प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण के एकाधिकार को तोड़ने के लिए अपनाया हुआ प्रतीत होता है।

औपनिवेशिक काल में आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति, संस्कृतिकरण और पाश्चात्त्यीकरण ने भारतीय समाज के संगठनात्मक स्वरूप को परिवर्तित करना शुरू कर दिया था। यह परिवर्तन की प्रक्रिया इतनी तीव्र और सुगठित थी कि उसने स्थायित्व के तत्त्वों को झकझोर कर रख दिया था। दीपक कुमार ने माना है कि समाज के वर्चस्वशाली तबकों ने क्रूरता से दूसरे तबकों को ज्ञान से दूर रखा था। एक अत्यंत चतुर जाति—व्यवस्था में धर्मग्रंथों और उपदेशों द्वारा समाज को अलग-अलग हिस्सों में बाँट रखा था। इस व्यवस्था ने ऐसा विभाजन किया, जिससे समाज में उत्पादन करने वाले वे लोग जो अपने हाथों का इस्तेमाल करते थे, हाशिये पर ढकेल दिए गए। समाज का एक बड़ा

हिस्सा जो अपने हाथों से काम करता था, वह मजदूर और सेवक वर्ग बन गया तथा असंगठित और गरीब रहा। मस्तिष्क और हाथ, बुद्धि और उत्पादकता के बीच में काफी दूरी थी और इसका परिणाम सामाजिक क्लेश और धीमी गुलामी के रूप में आया था।³¹ समाज में विषमता के जो तत्त्व अपनाये गये थे, उन्होंने व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व विकास के अवसरों को सीमित कर दिया था। लेकिन जैसे ही राजनीतिक परिवर्तन हुआ और नई संस्थाओं की स्थापनाओं ने नए अवसरों के द्वारा खोल दिये।

औपनिवेशिक भारत में शहरीकरण और नई शिक्षा के विकास ने जाति की जटिलता पर चोट करनी शुरू कर दी थी। परंपरागत समाज में जाति को चुनौती देते हुए दलित आंदोलन उभर कर सामने आये। घनश्याम शाह ने भारत में दलित आंदोलनों को दो भागों में बाँटा है— पहला सुधारवादी और दूसरा वैकल्पिक आंदोलन। सुधारवादी आंदोलन अस्पृश्यता की समस्या का समाधान करने के लिए जाति व्यवस्था में सुधार लाने के प्रयास हेतु किए गए थे। वहीं वैकल्पिक आंदोलन किसी अन्य धर्म में धर्म परिवर्तन या शिक्षा, आर्थिक स्थिति और राजनीतिक शक्ति हासिल करने के द्वारा एक वैकल्पिक सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना की रचना के प्रयास से संबंधित रहे हैं।³² अतः अस्पृश्य या दलित आंदोलन के केन्द्र में मुख्यतः जाति की जटिलता को चुनौती देते हुई हाशिए के समुदायों ने अपने आपको एक नई स्थिति में लाने के लिए संगठित करने के प्रयास तेज कर दिये थे। परिवर्तन की इस पहल के पीछे निहित कारणों को लेकर एम.एन. श्रीनिवास का मानना है कि “यूरोपीय धर्म प्रचारकों द्वारा हिंदू धर्म की अस्पृश्यता और जाति व्यवस्था की तीव्र आलोचना और उनके द्वारा चलाये गये स्कूल, अनाथालयों और अस्पतालों ने पिछले 140 वर्षों में भारत में किए गए सामाजिक सुधारों में और पश्चिमीकरण के लिए अनुकूल सैद्धांतिक और नैतिक वातावरण तैयार करने में योगदान दिया है।³³ इसी बदले हुए पर्यावरण ने ब्रिटिशकाल में राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान जाति विरोधी और ब्रह्मणवाद विरोधी आंदोलनों का प्रसार सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलन के रूप में उभर कर सामने आता है। इन समाज सुधार आंदोलनों को विभिन्न जगहों पर अलग-अलग नेतृत्व स्थानीय और साझा मुद्दों पर मिला। डॉ. भीमराव आंबेडकर ने भी वंचित समुदायों को संगठित कर जाति के उत्पीड़न से मुक्ति के रास्ते दिखाये। सुमित सरकार लिखते हैं कि ब्रिटिश पूर्व भारत में परिवर्तनशील राजनीतिक व्यवस्था के कारण अतिरिक्त भूमि के सुलभ होने और इस कारण प्रदेशांतरण के आसान होने के कारण जातियों में पर्याप्त गतिशीलता आई थी। अंग्रेजी शिक्षा छोटे किंतु बढ़ाते हुए समुदायों के लिए सामाजिक प्रोन्नति के लिए नया सोपान सिद्ध हुई।³⁴ दलित आंदोलनों की बढ़ती हुई क्रियाओं ने लोगों की उन भावनाओं पर चोट की जिन्होंने उनके मस्तिष्क को जड़ बना दिया था। इनमें से सुधारवादी आंदोलन ने सामाजिक नियंत्रण, अंधविश्वास, धार्मिक कट्टरता, अंध भाग्यवाद, हैसियत जैसे कारकों ने समाज को कई स्तरों पर बांट रखा था और उन्हें जड़ बना रखा था। इनमें सुधारवादी आंदोलनों ने इन बातों को पतनोन्मुख समाज के लक्षण की संज्ञा दी और उनका विरोध शुरू किया। इन आंदोलनों ने देश में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू करने के लिए पहले सामाजिक वातावरण तैयार करने का काम हाथ में लिया तथा इसके लिए लोगों के सामने ‘सुनहरे अतीत’ को हथियार के रूप में प्रयोग किया।³⁵ सुधारवादी नेतृत्वकर्ताओं ने समस्याओं के आधार पर आंदोलन के लिए लोगों को संगठित करना शुरू कर दिया था। इस कार्य में डॉ. आंबेडकर ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया

था। बिपिन चंद्र के अनुसार “चालीस के दशक के आरंभ तक आंबेडकर समझ चुके थे कि कांग्रेस के विरुद्ध मोर्चा बनाने की उनकी कोशिश नाकाम हो रही है, इसलिए उन्होंने जनजातियों पर अपना ध्यान केंद्रित कर लिया और 1942 ई. में ‘जनजाति संघ’ की स्थापना की। दलितों और जनजातियों का आंदोलन बंजर जमीन पर अधिकार को लेकर भी था। सामाजिक मतभेदों को लेकर डॉ. आंबेडकर ने सरकार छोड़ कर ‘अखिल भारतीय जनजाति महासंघ’ का निर्माण किया।³⁶ वंचित समुदायों की स्थिति को लेकर डॉ. आंबेडकर का यह कदम बताता है कि वे अब इस बारे में सोचने लगे थे कि सिर्फ दलितों के उत्थान से समाज में व्यापक बदलाव नहीं होंगे बल्कि जनजातीय समुदायों की स्थिति को ठीक करने के लिए प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता की समस्या को चिन्हित कर आवाज उठानी होगी और इसके लिए एक संस्कृति के निर्माण को महत्व प्रदान करना आवश्यक है।

औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और सामाजिक संघर्ष की शुरुआत से समाज में चेतना का उदय संस्कृति के क्षेत्र में हुआ था। ब्रिटिश प्रभुत्व के साथ ही साथ देशज परम्परागत प्रभुत्व के खिलाफ प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण को लेकर संघर्ष की स्थिति सामाजिक धार्मिक सुधार आंदोलनों के रूप में उभर कर आती है।³⁷ इसी चेतना के तहत जातिवाद विरोधी आंदोलनों का संगठन और विस्तार होता है और राष्ट्रीय आंदोलन का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाता है। इन सामाजिक आंदोलनों के उद्देश्य प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण को लेकर आधारित थे। ग्रामीण समाज और अर्थव्यवस्था में भूमि हमेशा से ही लालच का संसाधन रही है, जो वहाँ विवादों को पैदा भी करती रही है। दलितों के संदर्भ में यह विवाद भूमि हस्तांतरण, भूमि सुधार, कृषि योग्य भूमि पर अधिकार, सामूहिक भूमि के इस्तेमाल, सिंचाई के अधिकार और जमीन के संक्रमण आदि समस्याओं के माध्यम से होता रहा है।³⁸ यह मुख्यतः वे समस्याएँ थीं जो कि समाज के अभिजनों द्वारा नियंत्रित और चलायमान थीं। शेखर बंद्योपाध्याय ने लिखा है कि “भारतीय सामाजिक पर्यावरण के सन्दर्भ में राजनीति और समाज के संबंधों में जातिगत पेशों की प्रकृति और शक्ति के केन्द्रों से दूरी जैसे तत्व कार्मकाण्डीय श्रेणीपद का निर्धारण करते थे। अर्थात् शक्ति, संपदा और श्रेणीपद के बीच गहरा संबंध था। यह एक ऐसा सामाजिक संगठन था जिसे गेल ओमवेट ने ‘जातीय-सामंती समाज’ की संज्ञा दी है तथा इसकी विशेषता ‘जाति भ्रम’ को बताया है।”³⁹ निश्चित रूप से ही भारत में जाति व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसी संरचनाओं को लाया गया था, जिनसे भिन्न प्रकार के व्यवसायों के लोग अन्य बातों से अनभिज्ञ या वंचित थे।

प्राकृतिक संसाधनों को नियंत्रित करने और जाति व्यवस्था को चलायमान रखने में ‘यजमानी व्यवस्था’ ने अहम् भूमिका का निर्वहन किया था। यजमानी व्यवस्था को ऐतिहासिक संदर्भ में समझने के लिए रामेंद्रनाथ नंदी इस बात पर बल देते हैं कि यह व्यवस्था ब्राह्मणों के बीच शुरू हुए लड़ाई-झगड़े को समाप्त करने के रूप में सामने आयी थी। वे इसे समझाने के लिए अपात्रीकरण के सिद्धांत और परवर्ती ‘नरक की यातना भोगने’ वाली अवधारणा पर बल देते हैं। उनका मानना है कि अपात्रीकरण के सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य था ब्राह्मणों द्वारा पारंपरिक अनुष्ठान संपादित कराते समय मिलने वाले उपहारों में हिस्सा बांटने वाले प्रतिद्वंद्वी साथियों को अवैध ठहराना।⁴⁰ अतः यजमानी

व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था रही है जिसने समाज को बाहरी दुनिया से बंद कर, एक स्थान के निवासियों को एक-दूसरे पर निर्भर बनाये रखते हुए समाज को स्थायित्व प्रदान किया था। जजमानी व्यवस्था ने दान करने की परम्परा को तेजी से विकसित किया हुआ था। दान की प्रक्रिया ने एक दिशा में धन के केन्द्रीकरण को अग्रेसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

रामचंद्र गुहा का मानना है कि अनुसूचित जातियों के पास अभी भी जमीन पर अधिकार नहीं था या ना के बराबर था। इसके अतिरिक्त वे सामाजिक और कुछ मामलों में यौन शोषण के शिकार बनते रहे हैं और यह सामाजिक प्रतिरोधों के द्वारा व्यक्त किया जा रहा था। इससे सामाजिक गतिशीलता के नए अवसरों में मदद मिल रही थी। सामाजिक गतिशीलता का पहला रास्ता शिक्षा थी एवं दूसरा रास्ता सरकारी नौकरी। सामाजिक गतिशीलता का आखिरी रास्ता देश भर में हुई विकास की गतिविधियाँ थीं— जैसे कि औद्योगीकरण और शहरीकरण इसमें गाँव से बाहर नए अवसरों का पैदा होना भी शामिल था क्योंकि घर से बाहर जाने पर उनके मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ होगा।⁴¹ भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान 19वीं सदी में दुनिया में वैचारिक स्तर पर समानता एवं लोकतंत्र की अभिलाषा को जो बल मिल रहा था, उससे भारतीय संपर्क को भी प्रेरणा मिल रही थी और इसीलिए अंग्रेजी शासन से मुक्ति के आंदोलनों के समानांतर भारत के पारंपरिक शोषण और उत्पीड़न से मुक्त होने की आकांक्षा भी मुखर होने लगी थी। भारत का महत्वपूर्ण सामाजिक विभाजन जो वर्ण व्यवस्था और शोषण एवं उत्पीड़न आधारित था, उससे मुक्त होने की भावना प्रबल होने लगी थी। इसीलिए आजादी का अर्थ और अधिक व्यापक हो कर अब एक मूल अंग्रेजों से आजादी नहीं था बल्कि द्विज जातियों द्वारा आरोपित विषमता और शोषण से मुक्ति भी था। नए उद्योग धंधों और फौज में भर्ती का अवसर देकर अंग्रेजों ने कुछ क्षेत्रों में बराबरी का स्थान हासिल करने का मौका दिया था। इसीलिए डॉ. आंबेडकर ने राष्ट्रीय आजादी के किसी पहलू में दलितों के अधिकारों की गारन्टी को पूर्व शर्त के रूप में पेश करने की कोशिशें की थी।⁴² राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान जिस प्रकार सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ विकसित हुई थीं उन्होंने लोगों को इस बात के लिए तैयार कर दिया था कि वे अब समाज में अपने एक ऐसे स्थान की तलाश कर सकते हैं जहाँ उनके अस्तित्व को स्वीकार किया जा सके।

डॉ. बाबासाहब आंबेडकर ने वंचित समुदायों की स्थिति को उस रूप में देखा, जिसमें उन्हें शोषण से मुक्ति का रास्ता मिल सकता था। राष्ट्रीय आंदोलन में इस समुदायों में उन्होंने उस सपने को जगाने का कार्य किया जिसके बारे में वे कभी सोच नहीं सकते थे और ये आकांक्षा जाग्रत की कि एक आजाद देश में नए तरीके से प्राकृतिक संसाधनों का वितरण हो सकेगा। भारतीय समाज के स्वरूप को लेकर अमर्त्य सेन का मत है कि “वर्गगत विषमता का मूल परिप्रेक्ष्य लिंग, जाति, क्षेत्र और समुदाय जैसे घटकों के रूप में देखा जा सकता है। विषमता के इन घटकों के समन्वय को जानना आवश्यक हो जाता है। अगर वर्ग जनित अभाव और लिंग भेद का संगम हो तो वह गरीब महिलाओं के जीवन को ही दूभर बना डालता है। निम्न वर्ग और महिला होना यह दोनों ही लक्षण वंचित वर्ग की महिलाओं को अनेक प्रकार की निर्धनता की ओर धकेल देते हैं। निम्न जाति में जन्म लेना विषमता का एक स्वतंत्र कारण है किंतु यदि यह निम्न जातीय परिवार बहुत गरीब ही हो, तो

विषमता के दुष्प्रभाव और भी गहरे हो जाते हैं।⁴³ वंचित समुदाय में मुख्य समस्या उसके जीवकोपार्जन की रहती है। जीवकोपार्जन की समस्या का प्रत्यक्ष संबंध प्राकृतिक संसाधनों की अनुपलब्धता से होता है। इसके प्रबंधन के लिए इस समुदाय के सामने प्रवजन का रास्ता ही रहता है, फिर चाहे वह नए चरागाहों की तलाश हो, मजदूरी, खेतिहर खेती, शिक्षा प्राप्त करना या अन्य प्रकार के आवश्यक जीवन निर्वाह के साधन। अतः मनुष्य और समाज से उसकी अन्तःक्रिया उसे सामाजिक प्राणी के रूप में स्थापित करती है। मनुष्य को सामाजिक प्राणी होने के लिए प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता का होना आवश्यक बन जाता है।

निष्कर्ष:

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय सामाजिक संरचना में प्राकृतिक संसाधनों की भूमिका का अध्ययन करने से यह तथ्य सामने आता है कि प्राचीन काल में सामाजिक व्यवस्था के गठन की जो प्रक्रिया सरल रूप में प्रारम्भ हुई थी, वह अपने विकास के साथ जटिलता का रूप धारण करती गई। जिस मनुष्य का शुरुआती दौर में समूह के साथ जुड़ाव स्वेच्छा से हुआ था, अब वह मजबूरी के साथ जाति से जुड़ा हुआ था। अपनी जाति और व्यवसाय से इतर उसके पास चयन का अधिकार नहीं रह गया था। अब जाति में रह कर ही वह अपनी सुरक्षा और संरक्षण को तय का सकता था। जाति के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि संस्थाओं और सत्ता का सम्बन्ध समाज की संरचना को तय करता है। इसका कारण है कि सत्ता का रास्ता भी ज्ञान से तय होता है। अतः ज्ञान एक ऐसा कारक है जिससे परिवर्तन किया जा सकता है। मध्यकाल में नई संस्कृति के साथ सम्पर्क से परिवर्तनों को एक दिशा मिली तथा नये सूत्रों का जुड़ाव उनके साथ हुआ था। इस काल में सामाजिक संरचना के समायोजन में भक्ति संतो की भूमिका सराहनीय दिखाई पड़ती है। निर्गुण और सगुण परंपरा के तहत ज्ञान और प्रेममार्गी से होते हुए इन संतो ने सामाजिक समरसता को स्थापित करने के लिए विषमताओं और विभाजन पर चोट करते हुए प्राकृतिक संसाधनों और संपत्ति पर नियंत्रण को छोड़ने के लिए समाज में प्रोत्साहन को स्थापित किया।

ब्रिटिशकालीन व्यापार और औद्योगिकरण ने नव विकसित पूँजीपति वर्ग के लिए वह परिस्थितियाँ तैयार कीं जिनमें उन्होंने समाज में स्थित प्राकृतिक संसाधनों पर सामूहिक नियंत्रण को खंडित कर व्यक्तिगत नियंत्रण को स्थापित करने में भूमिका निभाई थी। औपनिवेशिक काल में लागू की गई नई शिक्षा प्रणाली से भारतीय सामाजिक संरचना में जो संक्रमण हुआ, उसका परिणाम एक नई व्यवस्था के रूप में परिणत हुआ। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त वर्ग में दो तरह की संवेदनाएँ प्राकृतिक संसाधनों को लेकर दिखाई पड़ती हैं— प्रथम में वे शिक्षित थे जो प्राकृतिक संसाधनों पर अपना नियंत्रण बना कर एकाधिकार करना चाहते थे। वहीं दूसरे ऐसे शिक्षित भी थे जो प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रित एकाधिकार को खत्म कर, समान वितरण के लिए प्रतिरोध करते हुए दिखते हैं। भारतीय परम्परागत अभिजन जो अपने आपको प्रभु के रूप में देखता था तथा अपने हित साधने के लिए बहिष्करण और विशेषाधिकारों को माध्यम के रूप में उपयोग किया गया था। ये बहिष्करण

और विशेषाधिकार जैसे साधन प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करने रूप में उपयोग में लाये गये थे।

¹इतिहास विभाग, पंजाब केन्द्रीय विश्वविद्यालय, ग्रा./पो.: घुद्दा, जिला, बठिंडा,
(पंजाब), 151401,

brijendramed14@gmail.com

²इतिहास विभाग, श्रीकृष्णा महाविद्यालय, ग्रा./पो.: गुनजोति, तालुका, उमरगा, जिला,
धाराशिव, (महाराष्ट्र), 413607 kambleabhitodhan@gmail.com

सन्दर्भ :

1. एंगेल्स, फ्रेडरिक, परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य का उदय, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1884, पृ. 32-35.
2. हरारी, युवाल नोआ, सेपियन्स: मानव-जाति का संक्षिप्त इतिहास, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल, 2021, पृ. 19-21.
3. चट्टोपाध्याय, बृजदुलाल, ऐसेज इन एनशिइण्ट इण्डियन इकॉनोमिक हिस्ट्री, प्राइमिस बुक्स, दिल्ली, 2014, पृ. 3-5.
4. हबीब, इरफान, मनुष्य और पर्यावरण, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2023, पृ. 39.
5. शर्मा, रामशरण, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनायें, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 38-39.
6. वही, पृ. 47.
7. हबीब, इरफान, मनुष्य और पर्यावरण, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2023, पृ. 79.
8. हबीब, इरफान, वैदिक काल, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2022, पृ. 61.
9. मजूमदार, डी.एन., भारतीय जन संस्कृति, अपाला प्रकाशन-मुद्रण सहकारी समिति लि. लखनऊ, 1985, पृ. 57.
10. गाडगिल, माधव और रामचंद्र गुहा, यह दरकती जमीन: भारत का पारिस्थितिक इतिहास, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2018, पृ. 75.
11. सिंह, भगवान, भारतीय परंपरा की खोज, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2021, पृ. 177.
12. वही, पृ. 76.
13. फ्रैंकलिन, उर्सुला एम., प्राद्यौगिकी और समाज, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2016, पृ. 21-24.
14. थापर, रोमिला, वंश से राज्य तक, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2006, पृ. 42.
15. जायसवाल, सुवीरा, वर्णजाति व्यवस्था, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2018, पृ. 59.
16. शर्मा, रामशरण, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 18-19.
17. झा, द्विजेंद्रनारायण, प्राचीन भारत, आकार बुक्स, नई दिल्ली, 2000, पृ. 170.
18. सतीशचंद्र, मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2013 पृ. 87.
19. वोहरा, एन.एन., भारत की बीसवीं सदी, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2001, पृ. 125.
20. सतीशचंद्र, मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2013 पृ. 86.
21. वही, पृ. 87.
22. वर्मा, हरिश्चंद्र, मध्यकालीन भारत, भाग-1, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2006, पृ. 438.

23. ताराचंद, भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ. 134.
24. हबीब, इरफान, भारतीय इतिहास में मध्यकाल, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2013, पृ. 158.
25. सतीशचंद्र, उत्तर मुगलकालीन भारत, हिंदी माध्यम कार्यालय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2004, पृ. 2-3.
26. मेहता, जे. एल., मध्यकालीन भारत का बृहत् इतिहास, खंड-3, जवाहर पब्लिशर्स एस एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2019, पृ. 118.
27. शर्मा, घनश्याम दत्त, मध्यकालीन भारतीय सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाएं, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ. 222-23.
28. रंगराजन, महेश, भारत में पर्यावरण के मुद्दे, पियर्सन, दिल्ली, 2010, पृ. 78-81.
29. कुमार, दीपक और देवेन्द्र चौबे, हाशिये का वृत्तान्त, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2011, पृ. 74.
30. शाह, घनश्याम, भारत में सामाजिक आंदोलन, सेज भाषा, नई दिल्ली, 2009, पृ.126.
31. कुमार, दीपक, त्रिशंकुराष्ट्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, पृ. 58.
32. शाह, घनश्याम, पूर्वोक्त, पृ. 106.
33. श्रीनिवास, एम.एन, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 85.
34. सरकार, सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 73.
35. चन्द्र, बिपिन, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2006, पृ. 48-49
36. चन्द्र, बिपिन, आजादी के बाद का भारत, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2002, पृ. 583-84.
37. पणिकर, के. एन., औपनिवेशिक भारत में संस्कृति और विचारधारात्मक संघर्ष, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2003, पृ. 83.
38. तेलतुमड़े, आनंद, सत्ता, समाज और दलित, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2018, पृ. 181.
39. बंद्योपाध्याय, शेखर, पलासी से विभाजन तक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 340.
40. नंदी, रमेशनाथ, प्राचीन भारत में धर्म के सामाजिक आधार, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2008, पृ. 67.
41. गुहा, रामचंद्र, भारत: गाँधी के बाद, पेंगुइन बुक्स, गुडगांव, 2012, पृ. 467-69.
42. सिंह सच्चिदानंद लोकतंत्र की चुनौतियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 154-55.
43. सेन, अमर्त्य, भारतीय अर्थतंत्र इतिहास और संस्कृति, राजपाल, नई दिल्ली, 2017, पृ. 191.

महात्मा गाँधी का हिन्द स्वराज और सुन्दरलाल बहुगुणा

आभा नवनी

सारांश :

महात्मा गाँधी का महात्त्वपूर्ण 'हिन्द स्वराज' जो गाँधीवाद का सार है, आधुनिकता के प्रति यह नकारात्मक दृष्टिकोण प्रकट करता है। यह कृति पश्चिमी सभ्यता एवं उसकी भौतिकवादी विशेषता और इसके स्वरूप पर प्रहार करती है। इसी पश्चिमी सभ्यता से जन्य औद्योगीकरण तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण अधिक से अधिक लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन का दुष्प्रभाव पर्यावरण पर पड़ा। पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाली औद्योगिक सभ्यता का दुष्प्रभाव उत्तराखण्ड (पूर्वकालीन उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग) की वन सम्पदा, नदियों एवं प्राकृतिक संसाधनों पर पड़ा। परिणामस्वरूप पर्यावरण की रक्षा के लिए उत्तराखण्ड में 'चिपको' आंदोलन का जन्म हुआ। 'चिपको' आंदोलन पर महात्मा गाँधी के दर्शन का कितना प्रभाव है? यह विषय पर्यावरण-विदों में बहस का विषय बन गया है। जब भी हम 'चिपको' नेताओं के विचार एवं संघर्ष पद्धति का गहराई से अध्ययन करते हैं तो यह पाते हैं कि कहीं न कहीं गाँधी जी के दर्शन तथा आंदोलन के तौर-तरीके ने हिमालय के वनों को नष्ट होने से बचाया है। वनों को बचाने के लिए 'चिपको' नेताओं ने गाँधी जी के विचारों को भिन्न-भिन्न रूपों में स्वीकार किया है। अग्रिम पंक्ति के 'चिपको' नेता भूदान आंदोलन से जुड़े हुए थे। अतः वे किसी न किसी रूप में महात्मा गाँधी की सर्वोदय विचारधारा के अनुयायी थे। सुन्दरलाल बहुगुणा तथा चण्डी प्रसाद भट्ट दोनों ही सक्रिय रूप से सर्वोदयी विचारधारा के रहे हैं। हिमालय क्षेत्र में जीवन-यापन के लिए उन्होंने जो मॉडल प्रस्तुत किया है, वह गाँधी जी के साबरमती तथा वर्धा आश्रम के रचानात्मक कार्यों के सदृश है।

बीज शब्द : बहुगुणा, सर्वोदय, गाँधी, हिन्द स्वराज, सत्याग्रह, चिपको आंदोलन, पर्यावरणीय दर्शन, पर्यावरणीय सुरक्षा, सामाजिक वानिकी

महात्मा गाँधी की प्रथम महत्त्वपूर्ण रचना 'हिन्द स्वराज' जो गाँधीवाद का सार है, आधुनिकता के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण प्रकट करती है। यह कृति पश्चिमी सभ्यता एवं उसकी भौतिकवादी विशेषता और इसके स्वरूप पर प्रहार करती है। इसी पश्चिमी सभ्यता से जन्य औद्योगीकरण तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण अधिक से अधिक लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन का दुष्प्रभाव पर्यावरण पर पड़ा। पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाली औद्योगिक सभ्यता का दुष्प्रभाव उत्तराखण्ड (पूर्वकालीन उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग) की वन सम्पदा, नदियों एवं प्राकृतिक संसाधनों पर पड़ा। परिणामस्वरूप पर्यावरण की रक्षा के लिए उत्तराखण्ड में 'चिपको' आंदोलन का जन्म हुआ।¹ 'चिपको' आंदोलन पर महात्मा गाँधी के दर्शन का कितना प्रभाव है? यह विषय पर्यावरण-विदों में बहस का विषय बन गया है। जब भी हम 'चिपको' नेताओं के विचार

एवं संघर्ष-पद्धति का गहराई से अध्ययन करते हैं तो हम यह पाते हैं कि कहीं न कहीं गाँधी जी के दर्शन तथा आंदोलन के तौर-तरीके ने हिमालय के वनों को नष्ट होने से बचाया है। वनों को बचाने के लिए 'चिपको' नेताओं ने गाँधी जी के विचारों को भिन्न-भिन्न रूपों में स्वीकार किया है।

अग्रिम पंक्ति के 'चिपको' नेता भूदान आंदोलन से जुड़े हुए थे। अतः वे किसी न किसी रूप में महात्मा गाँधी की सर्वोदयी विचारधारा के अनुयायी थे। सुन्दरलाल बहुगुणा तथा चण्डी प्रसाद भट्ट दोनों ही सक्रिय रूप से सर्वोदयी विचारधारा के हैं। चण्डी प्रसाद भट्ट बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक के प्रारम्भ में सर्वोदयी विचारधारा के सम्पर्क में आये। विनोबा भावे तथा जयप्रकाश नारायण को आदर्श बनाकर अपने क्षेत्र (चमोली जिले) में श्रम की प्रतिष्ठा, नशाबंदी तथा महिलाओं, दलितों के सशक्तीकरण के द्वारा आगे बढ़ाने के कार्य में सक्रिय रूप से जुटे रहे। आगे चलकर भट्ट हिमालयी क्षेत्र में पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण की रक्षा में कार्यरत रहे। हिमालयी क्षेत्र में जीवन-यापन के लिए उन्होंने जो मॉडल प्रस्तुत किया है, वह गाँधी जी के साबरमती तथा वर्धा आश्रम के रचनात्मक कार्यों के सदृश है।

'चिपको' आंदोलन के दूसरे शीर्षस्थ नेता सुन्दरलाल बहुगुणा गाँधी जी के 'हिन्द स्वराज' पुस्तिका में अभिव्यक्त विचारों से बहुत प्रभावित थे। उन विचारों को ग्रहण करके उसके अनुरूप ही उन्होंने 'चिपको' आंदोलन की कार्य-शैली को अपनाया। 'चिपको' आंदोलन को नेतृत्व प्रदान करने के पूर्व सुन्दरलाल बहुगुणा ने सामाजिक सेवा के क्षेत्र में एक महती भूमिका का निर्वहन किया था। वे और उनकी पत्नी विमला नौटियाल बहुगुणा टिहरी गढ़वाल (वर्तमान उत्तराखण्ड का एक भाग) में सर्वोदयी विचारधारा एवं समाज सेवी कार्यकर्ताओं की अग्रिम पंक्ति में आते थे। वे दोनों ही गढ़वाल में गाँधी जी की अंग्रेज शिष्या सरला देवी (कैथरीन मैरी हैलमेन) द्वारा सर्वोदयी विचारधारा में प्रशिक्षित हुए, प्रथम पंक्ति के अनुयायियों में आते थे। सरला देवी का गढ़वाल में गाँधी जी की सर्वोदयी विचारधारा के प्रचार तथा प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान रहा। सन् 1940 के दशक में वे कुमाऊँ चली गयीं थीं और कसौनी में उन्होंने लक्ष्मी आश्रम आरम्भ किया था। इसी लक्ष्मी आश्रम से प्रशिक्षित प्रथम स्नातकों में से सुन्दरलाल बहुगुणा की पत्नी विमला नौटियाल थीं। सरला बहन ने कुमाँऊ की स्त्रियों में समाज सेवा की भावना उत्पन्न की और पहाड़ों में होने वाले खनन कार्यों से पर्यावरण को होने वाली हानियों से अवगत कराया। इस भौति सरला देवी ने कुमाँऊ तथा गढ़वाल में गाँधी जी की विचारधारा को प्रस्थापित किया। गढ़वाल में उनकी तथा गाँधी जी की दूसरी अंग्रेज शिष्या मीरा बहन की प्रेरणा से 'चिपको' आंदोलन के अग्रिम पंक्ति के नेता गाँधीवादी सोच तथा कार्यप्रणाली से प्रेरित हुए।

सुन्दरलाल बहुगुणा के विचारों में गाँधीवादी सोच उत्पन्न करने में गाँधी जी की विदेशी शिष्याओं के अतिरिक्त गढ़वाल के स्वतंत्रता सेनानी श्रीदेव सुमन² का विशेष योगदान रहा है। श्रीदेव के चरखे एवं स्वदेशी के मंत्र का बालक सुन्दरलाल बहुगुणा पर अमिट प्रभाव पड़ा। उन्होंने ही बालक बहुगुणा को दो लघु पुस्तिकाएँ पढ़ने के लिए कहा था। ये पुस्तिकाएँ थीं – प्रिंस क्रोप्रोकिन द्वारा लिखित 'एन अपील टू द यंग' (An Appeal to the young) तथा मोहनदास करमचंद गाँधी द्वारा लिखित 'हिन्द स्वराज'।³ 'हिन्द स्वराज' की तीन महत्वपूर्ण विषय-वस्तुओं ने सुन्दरलाल बहुगुणा के मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ी जो जीवन-पर्यन्त रही। यह जानकारी उन्होंने जॉर्ज

अल्फ्रेड जेम्स को दिये गये अपने साक्षात्कार में दी थी।⁴

‘हिन्द स्वराज’ का प्रथम विचार, जिसने सुन्दरलाल बहुगुणा पर अपना प्रभाव छोड़ा था, वह गाँधी जी का स्वराज तथा सभ्यता संबंधी दर्शन था। स्वराज का अर्थ गाँधी जी के लिए ब्रिटिश शासन का अन्त ही नहीं है, वरन् भारत को अपनी पुरानी पहचान की पुनः प्राप्ति करना है। गाँधी जी का मानना है कि सभ्यता वह आचरण है जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने का अर्थ है नीति का पालन करना। नीति के पालन का अर्थ है मन और इन्द्रियों को वश में रखना। ऐसा करते हुए हम अपने को (अपनी असलियत को) पहचानते हैं। यही सभ्यता है। सभ्यता व्यवहार का तरीका है, जो मनुष्य को कर्तव्य का मार्ग दिखाती है।⁵ नैतिकता का अर्थ है, अपने मस्तिष्क और अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रखना चाहिए। गाँधी जी का मानना था कि मस्तिष्क तो एक ऐसी बैचेन चिड़िया है; जितना उसे मिले उतना ही उसकी माँग बढ़ती जाती है और तब भी वह असंतुष्ट रहेगा। जितना हम अपनी इच्छाओं में लिप्त रहेंगे, उतना ही अबाधित रहेंगे।⁶ इसलिए हमारे पूर्वजों ने भोग की सीमा बाँध दी। बहुत सोचकर उन्होंने देखा कि सुख-दुख तो मन के कारण हैं। अमीर अपनी अमीरी की वजह से सुखी नहीं है, गरीब अपनी गरीबी के कारण दुखी नहीं है। उनका (हमारे पूर्वजों का) मानना है कि हाथ-पैर का प्रयोग करने में ही सच्चा सुख है, उसी में तंदुरुस्ती है। उनका मानना है कि बड़े शहर खड़े करना बेकार की झंझट है। उनमें लोग सुखी नहीं होंगे। वहाँ अनेक प्रकार की अनैतिकताएँ थीं। इसलिए उन्होंने गाँवों से संतोष माना।⁷ ये गाँव ही सभ्यता के केन्द्र रहे हैं। इस पुस्तिका में गाँधी जी ने यह माना है कि भारतीय सभ्यता को इन स्थितियों में किसी से कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं है।⁸ गाँधी जी का मानना है कि भारत में स्वराज का अर्थ है कि हम स्वयं शासन करना सीखें। परन्तु ऐसा स्वराज प्रत्येक पुरुष और स्त्री को स्वयं के लिए अनुभव करना होगा।⁹

‘हिन्द स्वराज’ में अभिव्यक्त दूसरा विचार जो सुन्दरलाल बहुगुणा के हृदय को छू गया था, वह थी गाँधी जी के द्वारा दी गयी संघर्ष-पद्धति। गाँधी जी का मानना था कि सच्चा स्वराज केवल अहिंसक तरीके से शांतिपूर्ण प्रदर्शन द्वारा, अतर्कयुक्त, अनैतिक तथा अस्वीकार्य कानूनों की अवज्ञा के कारण होने वाली पीड़ा को सहते हुए प्राप्त किया जा सकता है। ‘हिन्द स्वराज’ के सातवें अध्याय ‘Why was India Lost’ में गाँधी जी ने लिखा है कि अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार नहीं किया बल्कि भारतीयों ने ही उनको अधिकार प्रदान किया।¹⁰ उनका मानना था कि अंग्रेजों से घृणा करने के बजाय अंग्रेजी सभ्यता से घृणा की जाय। इसी पुस्तिका के सत्रहवें अध्याय ‘Passive Resistance’ में गाँधी जी का कहना था कि शारीरिक बल का उपयोग करना, गोला-बारूद काम में लाना, हमारे सत्याग्रह के कानून के खिलाफ है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि हमें जो पसंद है वह दूसरे आदमी से हम (जबरन) करवाना चाहते हैं। अगर यह सही हो तो फिर वह सामने वाला आदमी भी अपनी पसंद का काम करवाने के लिए हम पर गोला बारूद चलाने का हकदार है।¹¹ सत्याग्रह सबसे बड़ा और सर्वोपरि बल है। परन्तु जब तोप, बल से ज्यादा काम करता है तो सत्याग्रह सबसे बड़ा कमजोरों का हथियार कैसे माना जायेगा? सत्याग्रह के लिए जो हिम्मत और बहादुरी चाहिए, वह तोप का बल रखने वाले के पास हो ही नहीं सकती। क्या आप यह मानते हैं कि डरपोक और कमजोर आदमी नापसन्द कानून को तोड़ सकेगा? ‘एक्सट्रीमिस्ट’ तोप-बल, पशु-बल के हिमायती हैं। वे क्यों कानून

की बात करते हैं? मैं उनका दोष नहीं निकालता। वे दूसरी कोई बात कर ही नहीं सकते। वे खुद जब अंग्रेजों को मारकर राज्य करेंगे तब वे आपसे और हमसे (जबरन) कानून मनवाना चाहेंगे। उनके तरीके के लिए यही कहना ठीक है। लेकिन सत्याग्रही तो कहेगा कि जो कानून उसे पसन्द नहीं है, उन्हें वह स्वीकार नहीं करेगा, फिर चाहे उसे तोप के मुँह पर बाँधकर उसकी धज्जियाँ क्यों न उड़ा दी जाय।¹²

‘हिन्द स्वराज’ में अभिव्यक्त तीसरी विषय-वस्तु जिसने सुन्दरलाल बहुगुणा के मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ी, वह थी स्वदेशी की अवधारणा। चरखा ही आत्म-निर्भरता और स्वदेशी का प्रतीक है। स्वदेशी का अर्थ ही है कि विदेशी वस्तुओं को अस्वीकार करना तथा घरेलू बनी वस्तु पर निर्भर रहना। गाँधी जी का मानना था कि स्वदेशी एक आवश्यक रणनीति है, जिससे सत्य और प्रेम को आगे बढ़ाया जा सकता है। गाँधी जी यह तर्क देते हैं कि मैनचेस्टर की सूती कपड़ा मिलों ने भारत को गरीब बनाया है। परन्तु वे यह भी तर्क देते हैं कि मैनचेस्टर पर भारत को गरीब करने का दोष लगाना बेबुनियाद है। मैनचेस्टर इसलिए कपड़े का उत्पादन करता है, क्योंकि भारतीय इसे पहनने के लिए इच्छुक रहते हैं। यही कारण है कि भारत में कपड़ा बनाने वाले कुटीर उद्योग मौजूद थे, परन्तु सब विलुप्त हो गये।¹³ गाँधी जी ने एक लम्बी सूची दी थी जिसमें देव (मूर्तियाँ), दिया-सलाई, आलपीन, काँच के झाड़ू-फानूस आदि विदेश से ही आते हैं।¹⁴

सुन्दरलाल बहुगुणा ने ‘हिन्द स्वराज’ में अभिव्यक्त गाँधी जी की तीन विचारधाराओं—पश्चिमी सभ्यता से जन्य औद्योगीकरण तथा भौतिकवाद की बुराइयाँ, संघर्ष की पद्धति (सत्याग्रह) तथा स्वदेशी को विशेष रूप से ग्रहण किया है। इन विचारधाराओं का सुन्दरलाल बहुगुणा पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे युवावस्था से लेकर ‘चिपको’ आंदोलन तक की लम्बी यात्रा में वे उनसे अपने को अलग न कर सके। यही नहीं, सुन्दरलाल बहुगुणा के ऊपर गाँधीवादी विचारधारा का इतना गहन प्रभाव पड़ा था कि वे युवावस्था से ही उन्होंने खादी पहनना आरम्भ कर दिया। लाहौर में सनातन धर्म महाविद्यालय में बी.ए. की शिक्षा ग्रहण करते समय वहाँ टिहरी रियासत के लोगों द्वारा संगठित प्रजा मंडल की शाखा में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। अतः वे ब्रिटिश सरकार के निशाने पर आ गये। उन्हें अपनी पढ़ाई छोड़कर लाहौर से दूर अज्ञातवास के लिए लायलपुर जिले के सिक्खावाला गाँव में रहना पड़ा। इस अज्ञातवास के दौरान उन्होंने ग्राम-सेवक के रूप में कार्य करना आरम्भ किया तथा गाँधी जी की ‘आत्मकथा’, ‘रचनात्मक कार्यक्रम’ तथा अन्य पुस्तकों का अध्ययन किया। ‘स्वदेशी’ का प्रतीक चरखा उनके साथ रहता था और वे उससे सूत कातते थे। इस भाँति गाँधी जी की विचारधारा को आत्मसात करके सुन्दरलाल बहुगुणा ने स्वतंत्रता आंदोलन में श्रीदेव सुमन के शिष्य के रूप में अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया। बहुगुणा ने महात्मा गाँधी और विनोबा भावे की सर्वोदयी विचारधारा को ग्रहण करते हुए टिहरी गढ़वाल में रचनात्मक कार्य के क्षेत्र में अहम् भूमिका निभाते हुए सार्वजनिक जीवन में स्वयं को स्थापित किया।

सुन्दरलाल बहुगुणा के सार्वजनिक जीवन को नयी दिशा तब प्राप्त हुई जब वे गाँधी जी की यूरोपियन शिष्या और सहयोगी मीरा बहन¹⁵ के सम्पर्क में आये। मीरा बहन के सम्पर्क में आने से बहुगुणा की गाँधी जी की आत्म-निर्भर गाँव की अवधारणा और अधिक परिपक्व हुई। मीरा बहन

के पर्यावरण संबंधी विचार बहुत प्रगत थे। उन्होंने 'चिपको' आंदोलन के बहुत पहले ही हिमालय क्षेत्रों के वनों के विनाश पर देश के नीति निर्धारकों का ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को पत्र लिखकर वन-प्रबंधन की कमियों को उजागर किया था। मीरा बहन ने कई चित्र एवं आवश्यक जानकारियाँ इस पत्र के साथ प्रेषित की थीं। नेहरू जी ने यह पत्र संबंधित वन अधिकारियों के पास उचित कार्यवाही के लिए भेज दिया था। परन्तु उस दिशा में उचित कार्यवाही न होने तथा निर्बाध औद्योगीकरण के कारण हिमालय क्षेत्र में पारिस्थितिकी संकट गहराता गया। मीरा बहन सन् 1959 में यूरोप वापस जाने तक हिमालयी क्षेत्र में गाँधी जी की आत्म-निर्भर ग्रामीण व्यवस्था स्थापित करने तथा पारिस्थितिकी संतुलन बनाये रखने के कार्य में जुटी रहीं। सुन्दरलाल बहुगुणा उनकी समस्त गतिविधियों से जुड़े रहे।

मीरा बहन के अतिरिक्त सुन्दरलाल बहुगुणा का गाँधीवादी दर्शन, संघर्ष-पद्धति तथा सर्वोदयी विचारधारा में अटूट विश्वास उनकी जीवन संगिनी विमला नौटियाल बहुगुणा के कारण भी बना रहा। विमला नौटियाल अपने विवाह से पूर्व विनोबा भावे के भूदान आंदोलन से जुड़ी रहीं। बीस वर्ष की युवावस्था में ही वे भूदान के दर्शन से प्रभावित हुई थीं। विनोबा भावे ने गाँधी जी की ट्रस्टीशिप तथा सर्वोदयी विचारधारा को आत्मसात् करते हुए सामाजिक एवं आर्थिक न्याय के लिए 18 अप्रैल सन् 1951 में तेलंगाना के पोचमपल्ली गाँव में भूदान यज्ञ आरम्भ किया। भूदान यज्ञ के संबंध में विनोबा जी ने उद्घोषणा की थी — 'यदि सत्य-अहिंसा के मार्ग से हृदय-परिवर्तन द्वारा विदेशियों से राजनीतिक आजादी हासिल की जा सकती है, तो क्या उसी प्रेम-मार्ग से आर्थिक तथा सामाजिक आजादी हमारे अपने ही देशवासी भाइयों से प्राप्त न हो सकेगी?'¹⁶ भूदान आंदोलन के आदर्शों से विमला नौटियाल बहुत प्रभावित थीं। उन्होंने सरला बहन से इस आंदोलन में भाग लेने की अनुमति ली।

सरला बहन ने इस नेक काम के लिए उन्हें अनुमति प्रदान की। भूदान आंदोलन के बुनियादी सिद्धांतों में प्रशिक्षित करके विमला नौटियाल को बिहार में गया के निकट एक गाँव में भेजा गया। बिहार में जमींदारी व्यवस्था के कारण अत्यधिक शोषण था तथा जमींदार भी बहुत उद्वण्ड स्वभाव के थे। वहाँ विपरीत स्थितियों में विमला नौटियाल की कार्यक्षमता से विनोबा भावे तथा उनके सहयोगी कार्यकर्त्ता बहुत प्रभावित हुए। गया में उनके कार्य के पश्चात् उन्हें राँची के निकट भूदान आंदोलन में भाग लेने भेजा गया। एक वर्ष पश्चात् विमला नौटियाल पुनः कौसानी वापस आयीं। सरला बहन के साथ गाँव जाकर महिलाओं में समानता के अधिकार के लिए चेतना उत्पन्न करती रहीं। साथ ही वे दोनों तथा उनके सहयोगी नाटकों के माध्यम से महात्मा गाँधी तथा विनोबा भावे के विचारों से अवगत कराती रहीं।

इन सारी स्थितियों का सुन्दरलाल बहुगुणा के दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों के निर्धारण में मुख्य योगदान रहा है। सुन्दरलाल बहुगुणा का दर्शन तीन 'As' और पाँच 'Fs' आधारित है। प्रथम 'A' (Austerity) का अर्थ है सात्विकता। भारतवर्ष की पुरानी परम्परा सात्विकता की है, जिससे पृथ्वी पर कम से कम बोझ पड़े। दूसरे 'A' (Alternatives) का अर्थ है विकल्प अर्थात् सादगीपूर्ण जीवन के बावजूद पृथ्वी पर पड़ने वाले बोझ या पर्यावरण संकट से उबारने के लिए विकल्प ढूँढना। तीसरे 'A' (Afforestation) का अर्थ है वृक्ष खेती।¹⁷ पाँच 'Fs' का संबंध वृक्षों से है। ये पाँच 'Fs' हमें अपने जीवन के लिए वृक्षों से प्राप्त होता है — Food (भोजन), Fodder (चारा), Fuel and Timber

(ईंधन तथा इमारती लकड़ी), Fertilizer (उर्वरक) तथा Fiber,¹⁸। ये तीन 'As' और पाँच 'Fs' सुन्दरलाल बहुगुणा के पर्यावरणीय दर्शन के मुख्य बिन्दु बने और 'चिपको' आंदोलन का मुख्य आधार बना। इन्हें लेकर ही 'चिपको' नेताओं ने आंदोलन चलाया।

सुन्दरलाल बहुगुणा ने जिस पर्यावरणीय दर्शन को भारत और विश्व के समक्ष रखा है, उसकी जड़ें भारतीय परम्परा में हैं। बहुगुणा का मानना है कि 'हमारी परम्परा में प्रत्येक वस्तु में ईश्वरीय शक्ति विद्यमान है। ईश्वरीय शक्ति न केवल आकाश में विद्यमान है, बल्कि पक्षियों में, जंगली जानवरों में, झरनों तथा नदियों में, पहाड़ों तथा जंगलों के वृक्षों में भी विद्यमान हैं। इस जैविक क्षेत्र (biosphere) में बहुत सी नस्लें हैं। कई किस्मों के पौधे हैं। नदियाँ अपने नैसर्गिक प्रवाह में बह रही हैं। आज हम तकनीकी वातावरण में रह रहे हैं। चारों तरफ तकनीकी है। हमने बड़े डैम बनाने के लिए नदियों का विनाश किया और यह सब मानव जाति के कभी संतुष्ट न होने वाले लोभ को तृप्त करने के लिए किया जा रहा है। जैसा महात्मा गाँधी ने कहा था, प्रकृति के भण्डार में सबकी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त संसाधन उपलब्ध हैं, परन्तु चंद लोगों की लालच को तृप्त करने के लिए थोड़ा है।'¹⁹

अपरिग्रह का सिद्धांत गाँधीवादी दर्शन का आधार था और यही विनोबा भावे के सर्वोदय का आदर्श भी बना। यही अपरिग्रह का सिद्धांत और विचार सुन्दरलाल बहुगुणा को जीवन-पर्यन्त प्रभावित करते रहे। बहुगुणा का मानना था कि पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता से जन्य अबाधित इच्छाएँ ही पर्वतीय क्षेत्र में पर्यावरणीय संकट का प्रमुख कारण थी।²⁰ उन्होंने समाज के समक्ष भौतिकवादी जगत की बुराइयों का मुद्दा अपनी पदयात्राओं के दौरान रखा। महात्मा गाँधी की सर्वोत्तम पद्धति पदयात्रा को बहुगुणा ने पर्यावरण से जुड़े आंदोलन को प्रमुख माध्यम बनाया। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि जिस प्रकार महात्मा गाँधी ने साम्प्रदायिक सद्भाव बनाने तथा ब्रिटिश सरकार की अन्यायपूर्ण नीतियों का विरोध प्रकट करने के लिए तथा विनोबा भावे ने भूदान यज्ञ के लिए जमींदारों का हृदय परिवर्तन के लिए अनेक पदयात्राएँ कीं, उसी भाँति सुन्दरलाल बहुगुणा ने प्रथमतः गाँधी जी के विचारों का प्रसार करने के लिए तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए कई पदयात्राएँ कीं। ये कार्य उन्होंने अपने सिल्यारा स्थित सर्वोदय आश्रम से सम्पन्न किये थे, जिसकी स्थापना उन्होंने तथा उनकी पत्नी श्रीमती विमला नौटियाल बहुगुणा ने 1950 के दशक में भिलांगना घाटी में की थी। उनके सहयोगियों में कामेश्वर प्रसाद बहुगुणा, धर्मानन्द नौटियाल, वीरेन्द्र दत्त सकलानी, शंकरदत्त डोभाल तथा सत्य शरण असवाल थे।²¹

सिल्यारा स्थित आश्रम से सुन्दरलाल बहुगुणा ने अनेक पदयात्राएँ कीं। इन पदयात्राओं के प्रेरक पुरुष विनोबा भावे थे। सन् 1960 में विनोबा भावे ने सुन्दरलाल बहुगुणा को गाँधी जी के सत्याग्रह तथा सर्वोदय का संदेश सीमा-क्षेत्र के जनसाधारण के मध्य ले जाने का उत्तरदायित्व सौंपा। इस विचार को लेकर सुन्दरलाल बहुगुणा ने सीमावर्ती क्षेत्र में एक गाँव से लेकर दूसरे गाँवों तक पदयात्रा करके गाँधी जी के दर्शन का विस्तार करने के कार्य किया। समय के साथ-साथ सुन्दरलाल बहुगुणा की पदयात्राएँ बढ़ती ही गयीं। उस समय सुन्दरलाल बहुगुणा के साथ बहुत से

ऐसे सहयोगी थे, जिन्होंने बाद के चरण में 'चिपको' आंदोलन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। उनके इन सहयोगियों में धूम सिंह नेगी, कुँवर प्रसून, घनश्याम रतूड़ी 'सैलानी' सुरेन्द्र दत्त भट्ट, और भवानी भाई आदि थे।

सन् 1960 से 1965 के मध्य सुन्दरलाल बहुगुणा ने कई पदयात्राएँ कीं, जिनका मुख्य उद्देश्य गाँधी जी के विचारों से आम लोगों को अवगत कराना था। इन पदयात्राओं के दौरान सुन्दरलाल बहुगुणा और उनके सहयोगियों ने पहाड़ी क्षेत्रों में व्याप्त मदिरापान जैसी बुराइयों को देखा। सन् 1965 से 1971 के मध्य गाँधीवादी कार्यकर्ताओं ने यह पाया कि उत्तर प्रदेश सरकार अपना राजस्व बढ़ाने के लिए पहाड़ी क्षेत्रों में मदिरा भंडार तेजी से बढ़ा रही थी। इसमें पहाड़ी क्षेत्रों की जनता के हितों की अनदेखी की जा रही थी। मदिरा की बुराइयाँ वहाँ के जीवन में व्याप्त हो रही थी। गाँधीवादी कार्यकर्ताओं ने मद्य-निषेध आंदोलन किया। इस आंदोलन से विमला बहुगुणा, चण्डी प्रसाद भट्ट, सुन्दरलाल बहुगुणा आदि भी जुड़े। इन लोगों ने दूर-दराज के गाँवों की महिलाओं को मदिरापान तथा शराब की बिक्री के विरुद्ध आंदोलन में लामबन्द किया। इन्हीं नेताओं ने शराब की दुकान पर धरना दिया तथा यह माँग की कि शराब बनाने के भट्टे बन्द किये जाँय। यह आंदोलन सन् 1969 में और अधिक जोर पकड़ चुका था। यह वर्ष गाँधी जी का जन्म शताब्दी वर्ष था। मद्यनिषेध के लिए सरला बहन के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मंडल उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री श्रीमती सुचेता कृपालानी से मिला था।

इसके परिणामस्वरूप उत्तराखण्ड के तीन सीमान्त जिलों — पिथौरागढ़, चमोली और उत्तरकाशी में सन् 1969 के अन्त में मद्यनिषेध घोषित किया गया। सर्वोदयी कार्यकर्ता तथा अन्य समाज सेवी मद्यनिषेध को उत्तराखण्ड के अन्य जिलों में लागू करने के लिए अभियान चलाने लगे। मार्च, 1970 में टिहरी में मद्यनिषेध को उत्तराखण्ड के अन्य जिलों में लागू करने के लिए एक सत्याग्रह आरम्भ किया गया। इसमें भाग लेने वाले दर्जनों स्त्रियों और पुरुषों को गिरफ्तार करके देहरादून जेल भेज दिया गया।²² 14 अप्रैल 1971 को उत्तर प्रदेश सरकार ने टिहरी और पौड़ी जिलों में भी मद्य-निषेध लागू कर दिया। शराब बन्दी आन्दोलन की पदयात्राएँ सिल्यारा आश्रम से हुईं।

इतना होने पर भी राज्य सरकार ने शराब के भट्टों के लिए नये लाइसेंस प्रदान किये। इनमें से एक नया मदिरा भंडार भिलांगना नदी के तट पर घनस्याली नगर में खोले जाने के लिए प्रस्तावित था, जो सिल्यारा स्थित सर्वोदय आश्रम से थोड़ी दूरी में था। इसकी सूचना सुन्दरलाल बहुगुणा तथा विमला बहुगुणा को प्राप्त हुई। अब सुन्दरलाल बहुगुणा ने पदयात्रा को छोड़कर अहिंसक तरीके से नये मदिरा भण्डार के खोले जाने का विरोध करने का निश्चय किया। विनोबा भावे ने भी उन्हें अपनी सहमति प्रदान की। सुन्दरलाल बहुगुणा घनस्याली में खोले जाने वाले प्रस्तावित मदिरा भंडार के स्थान पर गये और धरने पर बैठ गये। यह शांतिपूर्ण विरोध कई दिनों तक चला और कई प्रभावशाली लोगों का भी समर्थन मिला। इनमें विशेष रूप से सुरेन्द्र दत्त नौटियाल तथा बालकृष्ण नौटियाल थे। उन्होंने आम लोगों को लामबन्द किया। इस प्रकार के धरने और विरोध को देखकर उत्तर प्रदेश सरकार ने घनस्याली के मदिरा भंडार खोलने के अपने आदेश को रद्द कर दिया।²³

शराब बन्दी आंदोलन का केन्द्र घनस्याली से टिहरी हो गया था। यहाँ प्रदर्शन मात्र प्रस्तावित खोले जाने वाले शराब भंडारों के विरोध में ही नहीं थे, बल्कि वहाँ मौजूद मदिरा भंडारों के विरुद्ध भी थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि बड़ी संख्या में महिलाएँ घनस्याली और टिहरी से आकर प्रदर्शन में सम्मिलित हुईं।

सुन्दरलाल बहुगुणा ने सोलह दिन का उपवास रखा। 20 नवम्बर 1971 को टिहरी में बहुत बड़ा प्रदर्शन हुआ। यह आंदोलन उत्तर प्रदेश पुलिस के आने पर समाप्त हुआ तथा कई लोग गिरफ्तार हुए। टिहरी में गिरफ्तार हुए लोगों में सुन्दरलाल बहुगुणा, श्रीमती विमला बहुगुणा, उनकी वृद्ध माँ तथा 6 वर्षीय पुत्र प्रदीप थे।²⁴ अप्रैल 1972 में पाँच जिलों — पिथौरागढ़, चमोली, उत्तरकाशी, टिहरी में मद्य निषेध लागू किया गया। सरला बहन, मान सिंह रावत, सुन्दरलाल बहुगुणा, विमला बहुगुणा, चण्डी प्रसाद भट्ट, घनश्याम सैलानी, शांतिलाल त्रिवेदी, राधा बहन, देवकी कुंजवाल, शेर सिंह कार्की, केदार सिंह कुंजवाल, दीवान सिंह भाकुनी तथा उनके कई सहयोगियों ने इस आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभायी। मद्य निषेध आंदोलन ने ही 'चिपको' आंदोलन की रणभूमि तैयार की और योद्धा प्रदान किये। नशा विरोधी आंदोलन में सिल्यारा स्थित नवजीवन आश्रम से जुड़े घनश्याम सैलानी²⁵ का गीत —

‘हिटा दीदी हिटा भुली चला गौं बांचूला,

दारू कू दैंत लग्युं तै दैंन भगौला’

यह गीत उत्तराखण्ड के आम लोगों के जुबान पर था। ‘सैलानी’ ही ‘चिपको’ आंदोलन के उद्बोधक गीत के लेखक और गायक थे।

सिल्यारा स्थित नवजीवन (सर्वोदय) आश्रम बाद के चरण में पर्यावरणीय संकट से उत्तराखण्ड को उबारने के लिए रणनीतियों का केन्द्र था। इसी आश्रम से पर्यावरण-रक्षा के लिए चेतना जागृत करने के हेतु अनेक पदयात्राएँ कीं। उन्होंने अपनी पदयात्राओं में इस विषय की चर्चा की कि भौतिकवादी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर मैदानी भाग के उद्योगपतियों ने अधिकतम लाभ कमाने के लिए पहाड़ी क्षेत्रों के वन संसाधनों का दोहन किया गया। पहाड़ी क्षेत्रों में बड़ी संख्या में जंगल काटने के कारण यहाँ, बाढ़, भूस्खलन तथा भूक्षरण जैसी विपदाओं की भरमार हुई। वनों और पर्यावरण को बचाने के लिए 30 मई 1981 को सिल्यारा स्थित अपने आश्रम से प्रथम पदयात्रा काश्मीर-कोहिमा आरम्भ की।²⁶ सन् 1982-83 में 4000 किलोमीटर की पदयात्रा सम्पन्न हुई। इस पदयात्रा का मुख्य उद्देश्य था कि ‘चिपको’ आंदोलन का संदेश ‘वृक्ष है हमारा जीवन प्राण’ जन-जन तक पहुँचा सके। पर्यावरण सुरक्षा तथा पारिस्थिति कीटा संकट से उबारने के लिए बहुगुणा की, इस पदयात्रा का प्रभाव केवल उत्तराखण्ड तक ही सीमित नहीं रहा। इस प्रकार की पदयात्राएँ भारतवर्ष के अन्य भागों में भी पारिस्थितिकीय संकट से उबारने के लिए विभिन्न संगठनों द्वारा आरम्भ की गयीं। इनमें 1987-88 में ‘पश्चिमी घाट बचाओ’, ‘शिवालिक की रक्षा’ (Shave the Shivalik), 1991 में ‘वन्य प्रांत चैतन्य यात्रा’ (Tribal Areas Awareness), 1989 में नेशनल फिशरफोक फोरम (National Fisherfolk Forum) आदि पदयात्राएँ प्रमुख थीं।²⁷

पर्यावरण सुरक्षा तथा पारिस्थितिकीय संकट से उबारने के लिए देश के विभिन्न भागों में आरम्भ की गयीं पदयात्राओं के लिए कहीं न कहीं सुन्दरलाल बहुगुणा की 'चिपको' यात्रा प्रेरक रही। पदयात्राओं के अतिरिक्त 'चिपको' का बढ़ता हुआ प्रभाव दृष्टिगत हुआ। सन् 1983 में 'चिपको' मात्र उत्तराखण्ड का ही आंदोलन नहीं रह गया था। यह हिमांचल प्रदेश, राजस्थान तथा कर्नाटक (अपिको आंदोलन) तक फैल गया था। इसके अतिरिक्त 'चिपको' आंदोलन भारत की सीमा को पार करके सन् 1984 में स्विटजरलैंड तक पहुँच गया। अपने 'चिपको' रैबार (संदेश) को दूरस्थ स्थानों तक ले जाने में उन्होंने एक प्रेरक वक्ता की भूमिका का भी निर्वाह किया था। प्रेरक वक्ता के रूप में उन्होंने लोगों को विशेषतः शहरी बुद्धिजीवियों में अबाधित भौतिकवादी खतरों के प्रति चेतना जागृत की। उनका मानना था कि पाश्चात्य सभ्यता से जन्य लोभ के कारण ही निर्बाध रूप से प्रकृति का दोहन किया गया जिससे पर्यावरण को हानि पहुँची।

इस प्रकार के विचार का प्रेरक स्रोत महात्मा गाँधी का 'हिन्द स्वराज' था। उक्त पुस्तिका में गाँधी जी अबाधित भौतिकवाद के लिए पश्चिमी सभ्यता को उत्तरदायी मानते थे। वे पश्चिमी एवं मशीनी सभ्यता को प्राचीन भारत के उच्च आदर्शों के प्रतिकूल मानते थे। वे 'हिन्द स्वराज' में एक ऐसे सादगीपूर्ण समाज का आदर्श रखते थे, जिसका मूल विचार था — सादा जीवन और उच्च विचार।²⁷ वे यह मानते थे कि इस प्रकार का समाज पश्चिमी सभ्यता से प्रेरित औद्योगीकृत पूँजीवादी व्यवस्था में सम्भव नहीं है। कारण, इस प्रकार के औद्योगीकृत समाज में अत्यधिक उत्पादन होने के फलस्वरूप असमान वितरण तथा शोषण होता है। यह सब मशीनी सभ्यता के कारण सम्भव है। गाँधी जी मशीन को आधुनिक सभ्यता की सबसे बड़ी निशानी मानते थे। इसी कारण वे इसे एक महान पाप मानते थे।²⁸ उनका मानना था कि मशीन एक साँप का बिल है जिसमें अनेक साँप रहते हैं।²⁹ अर्थात् मशीनी सभ्यता में अनेक बुराइयाँ हैं।

अपने ढंग के प्रथम पर्यावरणविद होने के कारण गाँधी जी का मानना था कि प्रकृति के भण्डार में सबकी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त क्षमता है परन्तु चंद लोगों की लालच पूरा करने के लिए थोड़ा है। इसी कारण गाँधी जी का मानना था कि पश्चिमी सभ्यता न तो नैतिकता से और न ही धर्म से कोई सबक लेती है। अतः इस सभ्यता का संबंध केवल शारीरिक सुख से है।³⁰ मशीनी सभ्यता इसी पश्चिमी सभ्यता का परिणाम है। मशीनी सभ्यता ने जहाँ एक ओर शोषण का मार्ग प्रशस्त किया है वहीं दूसरी ओर इसने औद्योगिक नगरों में घनी बस्ती और अस्वस्थ स्थितियों को जन्म दिया है। ऐसे में स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ जन्म लेती हैं।³¹ मशीनी सभ्यता से अनीतिपूर्ण ढंग से धन कमाया जाता है। तभी तो गाँधी जी का मानना था कि गरीब हिन्दुस्तान तो गुलामी से छूट सकेगा, लेकिन अनीति से पैसे वाला बना हुआ हिन्दुस्तान गुलामी से कभी नहीं छूटेगा।

'हिन्द स्वराज' में अभिव्यक्त महात्मा गाँधी के विचारों का कई लेखकों की कृतियाँ समर्थन करती आयी हैं। इनमें इ.एफ. शूमाखर (E.F. Schumacher) की रचना प्रमुख है। 'चिपको' आंदोलन के दौरान सरला बहन ने सुन्दरलाल बहुगुणा को सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री इ.एफ. शूमाखर की 'Small is Beautiful: Economics as if People Mattered' (1973) नामक पुस्तिका पढ़ने को दी।³² यह

पुस्तक महात्मा गाँधी के 'हिन्द स्वराज' की भाँति पाश्चात्य जगत की पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना करती है। इस पुस्तक में सुन्दरलाल बहुगुणा को 'चिपको' आंदोलन की समस्याओं और उद्देश्यों के लिए एक बौद्धिक चेतना प्राप्त हुई। श्वूमाखर की पुस्तक जनसाधारण की विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है। इस प्रकार की विचारधारा के प्रमुख चिन्तक प्रिंस क्रोप्रोकिन और महात्मा गाँधी थे। श्वूमाखर गाँधी जी के सही अर्थों में अनुयायी और शिष्य थे। गाँधी जी का अर्थशास्त्र व्यक्ति के साथ ही आरम्भ होता है और उसके साथ ही उसका अंत होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि गाँधी जी की अर्थ-व्यवस्था में मनुष्य ही केन्द्रबिन्दु है। इन विचारकों की कृतियों का गहरा प्रभाव सुन्दरलाल बहुगुणा के चिन्तन और जीवन-शैली पर पड़ा। तभी तो बहुगुणा की जीवन-शैली सादगी एवं संयम (Austerity) पर आधारित थी, जिसे उन्होंने 'चिपको' आंदोलन में फलीभूत किया।

इस प्रकार की विचारधारा में निष्ठा रखने वाले सुन्दरलाल बहुगुणा पारिस्थितिकी और पर्यावरण की रक्षा के लिए बड़े उद्योगों की स्थापना के कट्टर विरोधी थे। चाहे ये बड़े उद्योग मैदानी भागों में क्यों ही न स्थापित हों। 'चिपको' नेताओं ने यह अनुभव किया था कि वन पर आधारित उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति के लिए मैदानी भाग के पूँजीपतियों ने पहाड़ी क्षेत्र के वनों का विनाश किया। इसके फलस्वरूप उत्तराखण्ड में पर्यावरणीय संकट उत्पन्न हुआ। इस संकट से उबारने के लिए तथा पर्वतीय क्षेत्र के लोगों की आर्थिक दशा सुधारने के हेतु 'चिपको' नेताओं ने छोटे-मोटे उद्योगों की स्थापना पर जोर दिया। वे भी महात्मा गाँधी की भाँति यह मानते हैं कि बड़े उद्योगों से वातावरण दूषित होता है तथा वे भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुकूल नहीं हैं। जैसा कि गाँधी जी 'हिन्द स्वराज' में लिखते हैं कि पश्चिमी सभ्यता का जहाँ प्रभाव नहीं रहा, वहाँ भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता के अनुरूप स्वच्छ ग्रामीण जीवन उपलब्ध है। उन्होंने पश्चिमी सभ्यता की बुराइयों को बताते हुए कहा कि इसका झुकाव अनीति को मजबूत करने की आरे है।³³ इसलिए वे इसे हानिकारक मानते थे। यही कारण है कि गाँधी जी का मानना था कि बड़ी कपड़ा मिल की जगह प्राचीन एवं पवित्र हथकरघा उद्योग को वजूद दिया जाय।³⁴ ऐसी व्यवस्था भारतीय आत्म-निर्भर ग्रामीण समाज में ही उपलब्ध हो सकती है।

गाँधीवादी आत्म-निर्भरता का विचार सुन्दरलाल बहुगुणा को प्रेरित करता रहा, जिसमें गाँव बिना प्राकृतिक शोषण के अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। उनका विश्वास है कि वनों पर आधारित उद्योग जो वृक्षों का विनाश करते हैं, किसी भी दृष्टि से स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते। उनकी भोजन, चारे, लकड़ी, खाद्य तथा अन्य कच्चे माल की आपूर्ति बिना जंगल काटे हो सकती है। दूसरे गाँधीवादी 'चिपको' नेता चण्डी प्रसाद भट्ट पर्यावरण और पारिस्थितिकी को हानि पहुँचाये बिना एक पृथक मॉडल रखते हैं। चण्डी प्रसाद भट्ट और उनके दशौली ग्राम स्वराज मंडल (D.G.S.M.), जिसका नाम सन् 1980 के पूर्व दशौली ग्राम स्वराज संघ³⁵ था, ने एक मॉडल रखा था। यह मॉडल इस बात पर जोर देता है कि हिमालयी क्षेत्र में पारिस्थितिकी संतुलन को स्थापित करने के साथ-साथ यहाँ कच्चे माल प्राप्त होने वाले स्थान के निकटतम स्थान पर स्थानीय छोटी निर्माण इकाइयाँ स्थापित की जाय। ऐसी इकाइयाँ श्रम प्रधान हों। यह मॉडल

इस बात की पुष्टि करता है कि हिमालयी क्षेत्र में गरीबी का एक प्रमुख कारण प्रोसेसिंग उद्योगों की अनुपस्थिति होना है। इन लघु उद्योगों से कहीं भी पर्यावरण को हानि नहीं पहुँचाती।³⁶

भले ही 'चिपको' आंदोलन के दो प्रमुख नेताओं में हिमालयी क्षेत्र के लोगों की आर्थिक समस्याओं के निवारण के लिए प्रस्तुत किये गये विकल्प में वैचारिक मतभेद हो। फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि इन दोनों की सोच गाँधीवादी है और दोनों ही सर्वोदय आंदोलन से जुड़े हुए थे। इसी कारण 'चिपको' नेताओं ने गाँधीवादी रणनीति के आधार पर ही आंदोलन चलाया। वे बड़ी परियोजनाओं से होने वाली हानियों को बखूबी समझते थे और उन्होंने इससे होने वाली त्रासदी को देखा भी। वे यह मानते हैं कि शहरी लोग पर्यावरण के नाम पर बड़े-बड़े सम्मेलन व गोष्ठियाँ करते हैं, परन्तु बड़ी परियोजनाओं के नाम पर किये जाने वाले मानव अस्तित्व के प्रति जघन्य अपराध को पर्यावरण बनाम विकास की बहस का नाम देकर हल्का कर देते हैं। वे वास्तविक समस्या (जिंदा रखने के सवाल) को अप्रासंगिक बना देते हैं। इसके विपरीत, 'चिपको' आंदोलन जिंदा रहने के सवाल से जुड़ा हुआ है। यह शहरी सभ्यता के प्रभाव से दूर हासिए पर रहने वाले पर्वतीय क्षेत्र के गरीब ग्रामीणों का आंदोलन है। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य ही यह रहा है कि धरती को बिना कष्ट पहुँचाये मानव को आस-पास से प्राणवायु (ऑक्सीजन), पानी, भोजन और आवास उपलब्ध हो सके। तभी तो 'चिपको' आंदोलन का मूल नारा है –

क्या है जंगल के उपकार? मिट्टी, पानी और बयार

मिट्टी, पानी और बयार, जिंदा रहने के आधार।³⁷

'चिपको' आंदोलन के इस मूल नारे को देने वाले कुँवर प्रसून थे। वे छात्र युवा संघर्ष वाहिनी के सदस्य थे तथा 'चिपको' आंदोलन से जुड़े हुए थे। इस नारे की रचना उन्होंने सन् 1977 में की थी। यह नारा पर्वतीय जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को दर्शाता है। यह नारा टिहरी गढ़वाल की हेवल घाटी के अदवाणी गाँव में महिलाओं के वृक्षों की रक्षा करने के संकल्प के दौरान जन्मा।

5 दिसम्बर 1977 में अदवाणी गाँव की महिलाओं ने काटने के लिए अंकित वृक्षों को रक्षाबंधन करके बचाने के लिए संकल्प किया था। उन महिलाओं को समझाने के लिए वनाधिकारी को भेजा गया था। उक्त वनाधिकारी ने महिलाओं को समझाया कि जंगल से औद्योगीकरण तथा व्यापार बढ़ता है। इस विचार की पुष्टि के लिए वनाधिकारी ने नारा दिया – 'क्या है जंगल के उपकार? लीसा, लकड़ी और व्यापार।' इसके प्रत्युत्तर में कुमार प्रसून ने यह नारा दिया – 'क्या है जंगल के उपकार, मिट्टी, पानी और बयार।'

'चिपको' आंदोलन का मूल नारा यह दर्शाता है कि जंगल का उपकार लकड़ी व सूखे मेवे नहीं हैं। इसका मुख्य उद्देश्य तो जंगल की रक्षा से मिट्टी, पानी और प्राणवायु (ऑक्सीजन) प्राप्त करना था। इनकी रक्षा से ही स्वतः बाँयमास तत्व जैसे भोजन, ईंधन, छोटे-मोटे काम के लिए लकड़ी, जैविक खाद आदि प्राप्त हो जायेगी। इस नारे का प्रभाव सुन्दरलाल बहुगुणा की पारिस्थितिकी अर्थ-व्यवस्था में देखा जा सकता है। इस अर्थ-व्यवस्था में वृक्ष ही मानव जाति की

समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और इस कारण वन पर आधारित छोटे उद्योगों को वे अस्वीकार करते हैं।

अदवाणी की घटना के बाद कुमार प्रसून द्वारा दिया गया नारा 'चिपको' आंदोलन का मार्ग-दर्शक बना तथा उत्तराखण्ड की महिलाएँ मिट्टी, पानी और प्राणवायु को बचाने के लिए कृतसंकल्प हुई। अदवाणी की घटना के पूर्व उत्तराखण्ड की महिलाएँ चमोली जिले के मण्डल गाँव में उत्तर प्रदेश सरकार की पक्षपातपूर्ण वन नीति के विरोध में आगे आयीं। यहाँ की महिलाओं ने वनों को बचाने के लिए वृक्षों से चिपक कर अपना रोष प्रकट किया। मण्डल गाँव में पहाड़ों की सम्पदा (वन) को बचाने के लिए जो प्रतिकार के अंकुर फूटे थे, वह चमोली जिले के ही रेणी गाँव में और अधिक प्रखर रूप से एक वर्ष बाद यानि सन् 1974 में प्रकट हुआ। यहाँ भी महिलाओं ने गाँधी जी के सच्चे सत्याग्रही की भाँति अदम्य साहस का परिचय दिया। रेणी की गौरा देवी ने आंदोलन का नेतृत्व किया। रेणी की घटना से 'चिपको' आंदोलन को अधिक गति मिली।

भले ही 'चिपको' नेताओं में वैचारिक मतभेद हों, परन्तु वृक्ष-खेती एवं जंगल की सुरक्षा के विषय में उनमें मतैक्य रहा है। 'चिपको' नेताओं ने वनों को सामुदायिक सम्पत्ति बताया। उन्होंने वनों की समाज में उपयोगिता बताते हुए तथा पर्यावरण को नष्ट होने से बचाने के लिए सामाजिक वानिकी की अवधारणा दी। 'चिपको' नेता एवं गायक धनश्याम 'सैलानी' का यह रैबार (संदेश) 'जरब भी देखा खाल जगा, तरब लगावा डाली' ही सामाजिक वानिकी का आधार बना। सामाजिक वानिकी की विचारधारा के तहत स्थानीय नस्ल के पौधों की खेती को ही महत्त्व दिया गया। इन स्थानीय नस्ल के वृक्षों की खेती से मृदा, जल और वायु को कोई हानि नहीं पहुँचती है। सामाजिक वानिकी में यूकलिप्टस जैसे एकल प्रजाति (Mono Culture) के पौधों के रोपण की मनाही है, क्योंकि ये मिट्टी की उर्वरता के लिए हानिकारक हैं। 'चिपको' आंदोलन ने नेता एकल प्रजाति के पौधों के रोपण के कट्टर विरोधी थे। तभी तो सुन्दरलाल बहुगुणा ने कर्नाटक के किसानों को स्थानीय प्रजाति के वृक्षों के जंगलों के मध्य रोपित एक करोड़ यूकलिप्टस के पौधों को उखाड़ फेंकने पर बधाई दी।

अस्तु, निष्कर्ष में कह सकते हैं कि सुन्दरलाल बहुगुणा के विचारों पर महात्मा गाँधी के सर्वोदय दर्शन तथा 'हिन्द स्वराज' का गहरा प्रभाव पड़ा। 'हिन्द स्वराज' में अभिव्यक्त महात्मा गाँधी के विचारों से वे अपने को आजीवन मुक्त नहीं कर सके। यही कारण है कि उन्होंने उसी से प्रेरित होकर अपरिग्रह के सिद्धांत को अपने जीवन में लागू किया एवं सादगी पर अडिग रहे। उन्होंने महात्मा गाँधी तथा विनोबा भावे से प्रेरणा लेकर अनेक पदयात्राएँ कीं। इन पदयात्राओं का प्रमुख मुद्दा था। समाज में व्याप्त बुराइयों को हटाना तथा पर्यावरण की रक्षा करना। इन पदयात्राओं के दौरान बहुगुणा ने शहरी मध्यम वर्ग तथा जनसाधारण को औद्योगिकतावादी तथा भौतिकवादी संस्कृति के कारण पर्यावरण को पहुँचाने वाली हानियों को उजागर किया। उन्होंने औद्योगीकरण और बड़ी परियोजनाओं के परिणामस्वरूप हुई भयंकर त्रासदी को देखा और उससे होने वाली हानियों को अनुभव किया। इसीलिए बाद के चरण में टिहरी बाँध जैसी बड़ी परियोजना के विरोधी आंदोलन में उन्होंने अगुवाई की। सुन्दरलाल बहुगुणा की भाँति सभी शीर्षस्थ नेताओं ने गाँधी जी की भौतिकवादी विरोधी नीति को हृदय से स्वीकार किया था। साथ ही उन्होंने महात्मा गाँधी और विनोबा भावे की

सर्वोदय की विचारधारा को ग्रहण किया तथा वे भूदान आंदोलन से जुड़ गये थे। यह अवश्य है कि कुछ बातों में 'चिपको' नेता में मतैक्य नहीं था फिर भी महात्मा गाँधी की सत्याग्रह आंदोलन की कार्य-विधि जैसे पद-यात्राएँ करना, भूख-हड़ताल, जुलूस निकालना, महिलाओं को लामबन्द करना आदि को सभी ने अपनाया।

अपार्टमेंट 8444, ब्लाक- सी-8

बसंत कुंज, नई दिल्ली

rprasad.sgo@gmail.com

सन्दर्भ :

1. वनों को बचाने के लिए चण्डी प्रसाद भट्ट ने वृक्षों से चिपकने के लिए गढ़वाली शब्द 'अंगवालथा' का प्रयोग किया था, जो हिन्दी में 'चिपको' नाम से विख्यात हुआ।
2. श्रीदेव सुमन का जन्म सन् 1916 में गढ़वाल के एक गाँव में हुआ था। वे स्वतंत्रता सैनानी थे, जिनका कार्य-क्षेत्र टिहरी राज्य प्रजामंडल में केन्द्रित था। उन्होंने टिहरी गढ़वाल के गाँवों में प्रजामंडल के माध्यम से स्वदेशी का प्रचार एवं प्रसार किया। सन् 1942 में वे गिरफ्तार हुए तथा राजा के द्वारा टिहरी रियासत से निर्वासित कर दिये गये। अब उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र ब्रिटिश गढ़वाल को चुना। वहाँ वे ब्रिटिश शासन द्वारा गिरफ्तार कर लिए गये तथा आगरा जेल भेज दिये गये। जेल की सजा काटने के बाद वे पुनः टिहरी रियासत गये तथा प्रजामंडल के कार्य में सक्रिय हुए। राजा और उनके मध्य कटुता उत्पन्न हुई। उन्हें टिहरी में गिरफ्तार किया गया और उन्हें जेल में शारीरिक यातनाएँ दी गयीं। 84 दिनों की भूख हड़ताल के बाद 25 जुलाई 1944 को श्रीदेव सुमन का निधन हो गया।
James, George Alfred, Ecology is Permanent Economy. The Activism and Environment al Philosophy of Sunderlal Bahguna. Motilal Banarasidass Publishing House, New Delhi, 2020, pp. 29-31.
3. James, George Alfred, Ecology is Permanent Economy. The Activism and Environment Philosophy of Sunderlal Bahguna. Motilal Banarasidas Publishing House, Delhi, 2020, pp. 19.
4. James, George Alfred, p. 19.
5. Gandhi, M.K., Hind Swaraj or Indian Home rule, Navjivan publishing House, Ahemedabad, 1958, p 61.
6. Hind Swaraj, p. 61
7. Hind Swaraj, p.
8. Hind Swaraj, p. 63
9. Hind Swaraj, p. 65
10. Hind Swaraj, p. 38
11. Hind Swaraj, chapter 17 p. 79
12. Hind Swaraj, p. 81-82
13. Hind Swaraj, p. 93-94
14. Hind Swaraj, p. 95
15. मीरा बहन (Madeline Stade) अंग्रेज एडमिरल की पुत्री थीं। वे सन् 1925ई. में साबरमती आश्रम से जुड़ गई थीं और कुमाटप्पा की भाँति गाँधी के अन्तरंग सहयोगियों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं। उन्होंने महात्मा गाँधी के आदर्शों के अनुकूल कई वर्षों तक ग्रामीण पुनर्रचना के लिए कार्य किया था। सन् 1947 में उन्होंने ऋषिकेश के निकट एक पशुलोक नामक आश्रम स्थापित किया था। बाद में उन्होंने अपना आश्रम टिहरी गढ़वाल में भिलांगना घाटी में स्थानान्तरित कर दिया था। वे जीवन-पर्यन्त हिमालयी क्षेत्र को पारिस्थितिकीय एवं पर्यावरण

- गीय संकट को उबारने के लिए प्रयत्नशील रहें। मीरा बहन की मृत्यु 20 जुलाई 1982 को वियाना में हो गई थी।
16. नार्क, दादाभाई, ग्रामदान: वरदान, अखिल भारत सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी, 1957, पृ. 06
 17. 19.05.1996 को सुन्दरलाल बहुगुणा ने तीन शेर का उल्लेख लेखिका को लिखे पत्र में भी किया था।
 18. जार्ज एल्फ्रेड जेम्स को सुन्दरलाल बहुगुणा का दिया गया साक्षात्कार। George Alfred James, Ecology is Permanent Economy. The Activism and Environmental Philosophy of Sunderlal Bahuguna, Motilal Banarasidass Publishing House, New Delhi, 2020. P. 12
 19. बहुगुणा, सुन्दरलाल, पर्यावरण और चिपको यात्रा, चिपको सूचना केन्द्र, नवजीवन आश्रम, सिल्यारा, टिहरी गढ़वाल, पृ. 50
 20. Pathak, Shekhar, The Chipko Movement A People's History, Permanent Black, Ranikhet, p. 78
 21. नया जमाना, 21 मार्च 1970
 22. James, George Alfred, p. 78
 23. James, George Alfred, p. 78-79
 24. घनश्याम 'सैलानी' गाँधी जी की शिष्या मीरा बहन के गेंवली गाँव के गोपाल आश्रम से जुड़े रहे। मीरा बहन से सम्पर्क के कारण उनका रुझान ग्रामीण विकास और गाँधीवाद की ओर हुआ। यह काल था सर्वोदय (भूदान) आंदोलन का। 'सैलानी' 1956-57 में इस आंदोलन से जुड़ गये। सन् 1956 में सिल्यारा में सुन्दरलाल बहुगुणा और विमला बहुगुणा द्वारा स्थापित नवजीवन आश्रम से जुड़े लोगों में 'सैलानी' प्रमुख कार्यकर्ता के रूप में उभरे। यह नवजीवन आश्रम सर्वोदय आंदोलन का अंग था।
पाठक, शेखर, घनश्याम 'सैलानी' विद्रोह, कविता और मुस्कान, पहाड़ 10, नैनीताल, 1999, पृ. 413-414
 25. 30 मई का टिहरी गढ़वाल में वन रक्षा के इतिहास में विशेष महत्त्व था। उस दिन यमुना के तट पर बरकोट गाँव के निकट तिलाड़ी (आधुनिक उत्तरकाशी जिला) में रंवाई की जनता ने टिहरी रियासत की वन नीति और वनों के व्यवसायीकरण के विरुद्ध जन-आंदोलन किया था।
 26. Gadgil, Madhav and Guha, Ramchandra, Ecological conflicts and Environmental Movement in India, Rangrajan, Mahesh (ed.), Environmental Issues in India, A Reader Pearson India Education Services Pvt. Ltd., 2007, pp. 411-412
 27. Gandhi, M.K. Hind Swaraj or Indian Home Rule, Navjivan Publishing House, Ahmedabad, 1958, Chapert XIII & XIX
 28. Hind Swaraj, p. 94
 29. Hind Swaraj, p. 96
 30. Hind Swaraj, p. 37
 31. Hind Swaraj, p. 36
 32. James, George Alfred, Ecology is Permanent Economy the Activism and Environmental Philosophy of Sunderlal Bahuguna, Motilal Banarasidass Publishing House, Delhi, 2020, p. 121
 33. Gandhi, M.K. Hind Swaraj, P- 63
 34. Gandhi, M.K. Hind Swaraj, P- 94-95
 35. चण्डी प्रसाद भट्ट ने 1964 में दशौली ग्राम स्वराज संघ की स्थापना की थी।
 36. Shiva, Vandana and Bandyopadhyay, The Evolution, Structure and Impact of the Chipko Movement, Mountain Research and Development, Vol. 9, No. 2, May 1986, Published by International Mountain Society, p. 14
 37. बहुगुणा, सुन्दरलाल, चिपको (मानव और प्रकृति के संबंधों का अभिनव जन आंदोलन), टिहरी गढ़वाल बहुगुणा, सुन्दरलाल, धरती की पुकार, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रायवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2019, पृ. 17

Decomposing Value of Ecosystem Services: A Case of Panchaganga River

Prakash Kamble

ABSTRACT:

The significance of the ecosystems and the services they provide is a missing and neglected aspect in a studies as well as research. This poses a need for enlisting the services actually being provided by the ecosystems, and more importantly their economic valuation due to their social / public good or service nature, and market failure as a salient feature and property. Ecosystems are a very important component and ingredient of the environment and hence the significance of the ecosystems is same as that of the environment. Ecosystems also perform a number of duties and functions, and more importantly provide a number of services useful for overall development of the economy as well as maximisation of welfare of the society. In the total economic value of the Panchganga river ecosystem services, worth of Rs. 1055.00 lakh pa, the category Social / Cultural services was dominant with 51% share, indicates that people prefer social or cultural services of the Panchganga ecosystem above others. Because, they are directly related to social welfare of the individuals and the society as a whole. It is followed by the Provisioning services with 47% share in total, which is also significant. Ecosystems, their services, importance and valuation should be made an integral part of curriculum and research, for their knowledge, spread and reach among the students, faculty, society, government and policy makers, will facilitate and aid in identifying the role and importance of ecosystems and their services in enhancing development of the economy and wellbeing of the society.

Keywords: Ecosystem, Services, Valuation, Economic Value, Decomposing Economic Value

1) INTRODUCTION:

Environment plays a vital role not only in the survival of living things, but also in the overall development of the economy. It performs a number of functions and provides a variety of natural resources, which enable the survival of all living things and contribute to the development of all the economic activities, productive sectors and the entire economy. Therefore, the importance of the environment is of greater and higher significance from a variety of perspectives. Ecosystems are a very important component and ingredient of the environment, and hence the significance of the ecosystems is the same as that of the environment. Ecosystems also perform a number of functions, and more importantly provide

a number of services useful for overall development of the economy as well as maximisation of the welfare of the society.

The services of the ecosystems are categorized as: provisioning services, social / cultural services, regulating services and supporting services, for the sake of convenience and simplicity. Likewise, the ecosystems are also classified into types, like-terrestrial ecosystems, water ecosystems, natural ecosystems, artificial ecosystems, and so on. But the significance of the ecosystems and the services being supplied by them is a missing and neglected aspect in the studies as well as in research. This poses the need for enlisting the services actually being provided by the ecosystems, and more importantly their economic valuation due to their role in social / public good. It is against this over all background, that the present research study endeavours to enlist the services being provided by the Panchaganga river water ecosystem and its economic valuation. The present research study is exclusively devoted to the economic valuation of the services of the Panchaganga river ecosystem along with decomposition, which is located in Kolhapur district of Maharashtra.

II) RESEARCH METHODOLOGY:

The present research study is analytical in nature and estimates and analyses the economic value of the Panchganga river and its services as an ecosystem. The present research study relies on the data, secondary as well as primary. The secondary data has been collected from the sources like publications, annual reports and official records from Irrigation department of Government of Maharashtra, Agriculture department, Fishery department, Maharashtra Pollution Control Board, Socio economic survey of Kolhapur district, Economic survey of Maharashtra, Reports of Kolhapur municipal corporation and others for the period between 2015-16 to 2022-23. Likewise, the study has also collected primary data by administering a well-prepared questionnaire among the sampled respondents, and interviews and group discussions in the year 2023.

The dependence of the present study on the Primary data is greater as far as the economic valuation of services of the Panchganga river ecosystem is concerned. Hence, the attempt has been made here, to adopt a Random sampling method, which is an appropriate Sampling method, sample design and a moderate Sample size to collect the necessary primary data for the present study. The Total universe of the Panchaganga river basin comprises of in all 174 habitat centers that includes 2 cities namely Kolhapur and Ichalkaranji, and 172 villages from seven tehsils namely Karvir, Hathkanangale, Shirol, Radhanagari, Shahuwadi, Panhala, and Gaganbawada. As an urban area both Kolhapur and Ichalkaranji cities have been selected for the study. Moreover, from rural area, a random sample of 10% of total villages from the Panchganga river catchment area that stands at 17 villages, has been selected for the present study. It has been stratified based on tehsils, which gives 10 % representation to villages from each tehsil in the Panchganga basin. It stood at 6 villages from Karvir tehsil, 2 villages from Hatkanangale, 1 village from Shirol, 3 villages from Radhanagari, 1 village from Shahuwadi, 1 village from Panhala, and 3 villages from Gaganbawada.

tehsils respectively. Thus, total sample of the present study is 19 habitats comprising of 2 cities and 17 villages. From each habitat, 50 household respondents have been selected for the present study, which reaches to 950 total households. If on an average a family is considered of 5 members is considered, the total number of sampled respondents stood at 4750 individuals.

Sample Design and Size: Panchganga River Basin

Sr. No.	Name of the Tehsil	No of Cities / Villages	Probable Sample	Actual Sample
1	Urban Area	2	Kolhapur Ichalkaranji	Kolhapur Ichalkaranji
2	Karvir	6	Chinchwad, Unchgaon, Haldi, Kotli, Sadoli, Balinga, Chikhali, Vavgade, Parite	Unchgaon Balinga Chikhali, Sadoli, Parite, Chikhali
3	Hatkanangale	2	Shirol, Halondi, Herle, Chokak, Mangaon, Rui, Rukadi	Shirol, Halondi
4	Shirol	1	Nrusinghwadi, Khidrapur, Akiwat, Rajapur, Herwad	Narushinvwadi
5	Radhanagari	3	Ghotvade, Kaulav	Ghotwade, Yelwade Kaulav
6	Shahuwadi	1	Perid, Bambavade, Gogave,	Bambavade
7	Panhala	1	Asurle, Jakhale, Waghve, Kale, Gharpan	Kale
8	Gaganbawada	3	Tisangi, Salwan, Aslaj, Asandoli, Nivade	Longe Kirave, Mutkeshwar
9	Total Sample	19 Habitats	2 Cities and 17 Villages.	2 Cities and 17 Villages
10	Sample From Each Habitats	50 Households	50	
11	Total	950 Households		
12	Total Respondents	$5 \times 950 = 4750$	4750 Individuals Respondents	4750 Individuals Respondents

The collected primary as well as secondary data has been scrutinized, classified, tabulated and processed in the light of the objectives and hypothesis and research methods adopted for the study. In addition, the processed data has been analysed by employing appropriate statistical techniques like, Ratio Analysis, and descriptive statistics such as Mean, and Variance to arrive at the neutral data results. The analysis of the data has been carried out by using the computer software packages such as SPSS, Excel. The hypothesis of the present study has been tested by applying the statistical method test.

III) DECOMPOSITION (PROVISIONAL & SOCIAL AND SUPPORTING SERVICES) OF TOTAL ECONOMIC VALUE OF PANCHGANGA RIVER SERVICES:

The Millennium Ecosystem Assessment (MA) identifies four broad categories of ecosystem services: provisioning, regulating, cultural / social, supporting.

Economic valuation of ecosystem services is of crucial importance. It is a neglected part of studies in Environmental and resource Economics. It is necessary and important on various grounds and counts. It is therefore, the present research study endeavours to value economically the services of Panchganga river as a river ecosystem. Economic value has the number of terms and concepts, and Total Economic Value (TEV) is one of them. The sum of values of all the categories of ecosystem services provided by the particular ecosystem is called as total economic value. In the case of our study, it is the total of economic value of all categories or groups and their activities and services is the Total Economic Value of Panchganga river ecosystem services.

The break of total economic value is the decomposition of total economic value of the Panchganga river ecosystem services. This enables us in analysing the relative importance and shares of different groups and categories of total services being provided by the Panchganga river as an ecosystem. It has policy implications and relevance. It is also helpful in knowing the relative importance of each activity and service and in all the groups or categories and activities also.

Table 1: Decomposition (Provisional & Social and Supporting Services) of Total Economic Value of Panchganga River Services: Provisioning, Regulating, Cultural / Social, and Supporting services

Sr. No.	Service Group	Value (Rs in lakh)	% Share
<i>I</i>	<i>Provisioning Services</i>		<i>47</i>
1	Drinking water	11173.68	32
2	Domestic use	10574.40	30
3	Agriculture	10524.00	30
4	Agri. Allied	1430.75	4
5	Industry	150.00	0.42

6	Business	1535.00	4
	Total	35387.83	100
II	<i>Social / Cultural Services</i>		51
1	Religious place	10610.00	27
2	Cultural heritage	9130.00	24
3	Recreational value	4850.00	13
4	Aesthetic place	11790.00	30
5	Tourist place	2320.00	6
	Total	38700.00	100
III	<i>Supporting Services</i>		1.40
1	River as a habitat/ place of genetic / rare species	1055.00	100
	Total	1055.00	100
IV	<i>Regulating Services</i>	NA	
	Grand Total	75142.83	100
	Willingness To Pay (WTP)	33770.00	45 (100)

Source: Calculated by the Researcher

The aforementioned data results reveal that, in the total economic value of the Panchganga river ecosystem services worth of Rs 75142.83 lakh, the category of services Social / Cultural services was dominant with 51% share in total, indicates that people prefer social or cultural services of the Panchganga ecosystem than all others. It was followed by the Provisioning services with 47% share in total, is an adequate proof of people are equipped with the knowledge and awareness about the importance of this category of services in satisfying individual wants as well as development of the area.

The contribution of Supporting services (1.40%) in total economic value is very meagre and lower and hence less effective. But it gives us a lesson that, people do not know much about supporting services of the ecosystem, and hence it is a under exploited and extracted group of services of the ecosystem, which demands due attention and precaution. Regulating services of the river ecosystem are very important and valuable, but due to difficulty of generating and collecting such data the present research study has excluded this aspect in the present study. But it is the area of future study and should be endeavoured in that direction. The aforementioned data results are useful in the activity wise analysis of their contribution in the major category as well as in total economic value, but it is attempted below. Despite their potential, rivers are often exploited to deliver a relatively narrow range of objectives, to the detriment of river health as well as other human needs (Parker and Oates, 2016, p9).

ACTIVITY / SERVICE WISE TOTAL ECONOMIC VALUE OF PANCHGANGA RIVER:

The ecosystems provide the number of services, which are classified into the categories

such as Provisioning services, Social / cultural services, Supporting services and Regulating services. These variety of services being provided by the ecosystems are either useful in the development of economic activities and there by productive sectors and the economy as a whole, as well as direct satisfaction of wants and wellbeing. This demands to analyse the decomposition of total economic value of the Panchganga river, which is necessary and of crucial importance.

Table 2 : Activity/ Service wise Total Economic Value of Panchganga River

Sr. No.	Activity / Service	Value (Rs in lakh)	% Share
1	Drinking water	11173.68	15
2	Domestic use	10574.40	14
3	Agriculture	10524.00	14
4	Agri. Allied activities	1430.75	2
5	Industry	150.00	0.19
6	Business	1535.00	2
7	Religious place	10610.00	14
8	Cultural heritage	9130.00	12
9	Recreational value	4850.00	6
10	Aesthetic place	11790.00	16
11	Tourist place	2320.00	3
12	River as habitat of genetic / rare species	1055.00	2
	Total	75142.83	100
	Willingness To Pay (WTP)	33770.00	45 (100)

Source: Calculated by the Researcher

The activity or service wise analysis of total economic value of the Panchganga river ecosystem services shows, the contribution of the river as an aesthetic place was dominant with 16% share, indicates that people like the aesthetic services of the river and the satisfaction and benefits which people derive give maximum satisfaction. It is followed by the drinking water supply services of the river with 15% share in total, then domestic use of water, water for agriculture, river as a religious place are at equal contribution of 14% in total. Besides these, the contributions of the services such as river as a cultural heritage, recreational services, tourist services, business activities, and a habitat of genetic and rare species have shared marginally, but they are also important and hence cannot be neglected. Ecosystem services are being impaired and destroyed by a wide variety of human activities. Foremost among the immediate threats are the continuing destruction of natural habitats (Daily G. C. et al, 1997 p11).

This adequately guides us that, they are under extracted services of the Panchganga river ecosystem, hence should be attempted to harvest to their available potentialities. But this does not mean that all others are extracted fully as per their potentialities, they also can be harvested further. This will enable the extracting of fully potential services of the river ecosystem activities or services, which can help in the wellbeing enhancement as well development of the area under the jurisdiction. The environment does not need you, you need the environment. It is time for a reality check, but, are we up for it? (Stalin, 2020, p20).

IV) HYPOTHEIS TESTING:

We have the null and alternative hypothesis as

H0: Services of Panchganga river ecosystem are not economically significant.

H1: Services of Panchganga river ecosystem are economically significant.

We are going to use t-test to test the H0 against H1.

Let μ be the average economic value of Panchganga river services.

We have taken assumed mean (μ_0) under null hypothesis = 1000.

We restate our null and alternative hypothesis as

H0: $\mu = \mu_0$

H1: $\mu > \mu_0$ (one-sided)

or

H1: $\mu \neq \mu_0$ (two-sided)

Under null hypothesis H0 the test statistic t is given by

We have

Thus, the calculated value of test statistic t is given by $t_{cal} = 4.0237$

The critical value of t at 5% level of significance and at 11 (n-1) degrees of freedom is $t_{critical} = 2.2010$ (for one sided alternative hypothesis, H1: $\mu > \mu_0$).

Thus, $t_{cal} > t_{critical}$ and hence we reject H0 and conclude that services of Panchganga river ecosystem are economically significant.

(Note: The critical value of t at 5% level of significance and at 11 (n-1) degrees of freedom is $t_{critical} = 2.5930$ for two-sided alternative hypothesis. Thus, same conclusion can be drawn if we assume this alternative, H1: $\mu \neq \mu_0$)

This statistically proves that H0 is rejected and H1 is accepted, which means the services of Panchganga river ecosystem are statistically significant and infer that these services are playing a vital role in the development of the different productive sectors as well as overall economy in the basin of Panchganga river. Further extraction of these services will further contribute to the development of the different sectors as well as overall economy in the Panchganga basin.

V) MAJOR CONCLUSIONS AND POLICY SUGGESTIONS:

In the total economic value of the Panchganga river ecosystem services is worth of Rs. 1055.00 lakh pa, the category of services namely Social / Cultural services was dominant in the total economic value with 51% share, indicates that people prefer social or cultural services of the Panchganga ecosystem than all others. Because they are directly related to social welfare of all and society as a whole. It was followed by the Provisioning services with 47% share in total, which is also significant, no doubt at all. The contribution of supporting services (1.40%) in total economic value is very meagre and lower and hence less effective and productive. But it gives us a lesson that, people do not know much about supporting services of the ecosystem and hence it is an under exploited and extracted group of services of the ecosystem, which demands due attention and rigorous and honest efforts. Regulating services of the river ecosystem are very important and valuable too, but due to difficulty of generating and collecting that necessary data, the present research study has excluded this aspect in this study.

Ecosystems, their services, importance and valuation should be made an important part of curriculum and research for their knowledge and wide spread and reach among the students, faculty, society, government and policy makers, which will further facilitate and enable in identifying the role and importance of ecosystems and their services in the enhanced development of the economy and wellbeing of the society. The ecosystem development fund should be created by the government through subscriptions and contributions by the industry, business sector and corporate houses under the corporate social responsibility, which will help in growth, development, preservation and maintenance of ecosystems and their services. Diversification, commercialization of agriculture, allied activities, industry and business should be carried out in the ecosystem areas by providing incentives and encouragements for the proper and optimum extraction and utilization of the ecosystem services for the development and social welfare quickly and immediately. Local governments with the help of social organisations and activists should carry out a frequent survey about the nature, extent, position of the ecosystems and their services and should be published yearly or at least once in five years so as to get acquainted with the status of ecosystems and their services.

VI) CONCLUDING REMARKS:

Environmental or natural resources play a very important role in the satisfaction of social wants of people as well as development of the economy. In absence of use of a natural resource, a single economic activity cannot be started. Ecosystems are natural and provide natural resources and services. It is found that, the economic value of the Panchganga ecosystem is substantial and important and more importantly very much valuable. The estimation of economic value of the Panchganga river reveals that, it provides three categories of services which includes the number of individual services. It is observed that there is a scope for extracting services and consequently their valuation in the study area. The

economic value of fourth category of services have not been endeavoured to estimate due to certain problems and challenges.

Department of Economics
Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya
Sagar (MP)
pskambleeconomics1965@gmail.com

References

1. Liu et al (2020), Valuation of ecosystem services of rice–fish coculture systems in Ruyuan County, China, *Ecosystem Services*, 41 (2020) 101054 , Contents lists available at Science Direct, pp1-11, www.elsevier.com/locate/ecoser
2. Barua et al (2020), Valuing forest-based ecosystem services in Bangladesh: Implications for research and policies, *Ecosystem Services*, 41 (2020) 101069 , Contents lists available at Science Direct, pp1-14, www.elsevier.com/locate/ecoser
3. Shipley et al (2020), A deliberative research approach to valuing agro-ecosystem services in a worked landscape, *Ecosystem Services*, 41 (2020) 101083 , Contents lists available at Science Direct, pp1-12, www.elsevier.com/locate/ecoser
4. D'Souza et al (1998), Re-Evaluating Multi-Purpose River Valley Projects A Case Study of Hirakud, Ukai and IGNP, *Economic and Political Weekly* February 7, 1998, pp297-302.
5. Parker and Oates (2016) , How do healthy rivers benefit society? A review of the evidence, Working Paper 430, WWF-UK
6. Whittington, John et al (2000), Ecological Sustainability of Rivers of the Murray-Darling Basin, Review of the Operation of the Cap, Cooperative Research Centre for Freshwater Ecology, Technical Report, pp1-131 , Email: pa@lake.canberra.edu.au , WWW: freshwater.canberra.edu.au
7. Baron, et al (2003), Sustaining Healthy Freshwater Ecosystems, *Issues in Ecology* Number 10 Winter 2003, Ecological Society of America, pp1-18.
8. Kothari and Bajpai (2017), We Are the River, the River Is Us , *Economic & Political Weekly (EPW)* September 16, 2017 Vol LII No 37, pp 103-09.
9. Mehta et al (2013), Social Ecology of Domestic Water Use in Bangalore, *Economic & Political Weekly (EPW)* April 13, 2013 Vol. XLVIII No 15, pp 40-50.
10. Ahmed, Imtiaz (2012), Teesta, Tipaimukh and River Linking Danger to Bangladesh-India Relations, *Economic & Political Weekly (EPW)* April 21, 2012 Vol. XLVIII No 16, pp51-53.
11. G. van der Velde et al (2008), Fresh Surface Water: Types of River Ecosystems Article • January 2008, *FRESH SURFACE WATER – Vol. I - Types of River Ecosystems*, pp1-15. : <https://www.researchgate.net/publication/241878788>
12. Khandekar et al (2020), Towards More Inclusive Water Management, June 20, 2020 Vol LV No 25 *EPW Economic & Political Weekly*, pp16-18.
13. Baron et al (2003), Sustaining Healthy Freshwater Ecosystems, *Issues in Ecology* Number 10 Winter 2003, Ecological Society of America, pp1-16.
14. Parker and Oates (2016), How do healthy rivers benefit society? A review of the evidence, Working Paper 430, WWF-UK, pp1-73.
15. Stalin, Dayanand (2020), The Myth of Sustainable Development in Mumbai's Infrastructure Projects, *Economic & Political Weekly EPW* JANUARY 18, 2020 Vol LV no 3 19, pp16-20.
16. D. Liu, et al (2020), Valuation of ecosystem services of rice–fish coculture systems in Ruyuan County, China, *Ecosystem Services*, Contents lists available at Science Direct , *Ecosystem Services* 41 (2020) 101054 , Journal homepage: www.elsevier.com/locate/ecoser pp1-11.

17. D. Cabanaa et al (2020), Evaluating and communicating cultural ecosystem services, *Ecosystem Services* 42 (2020) 101085, Contents lists available at Science Direct, Journal homepage: www.elsevier.com/locate/ecoser, pp1-15.
18. J. Huge et al, (2020), Ecosystem services assessment tools for African Biosphere Reserves: A review and user-informed classification, *Ecosystem Services* 42 (2020) 101079, Contents lists available at Science Direct , Journal homepage: www.elsevier.com/locate/ecoser , pp1-15.
19. Daily G. C. et al, (1997), *Ecosystem Services: Benefits Supplied to Human Societies by Natural Ecosystems*, Issues in Ecology Number 2 Spring 1997, pp1-16.
20. Whittington et al (2000), *Ecological Sustainability of Rivers of the Murray-Darling Basin*, Cooperative Research Centre for Freshwater Ecology, Technical Report February 2000, pp1-131.

Reconstructing the Lives of the Zamindars of Bankura District in Pre-colonial and Colonial Period

Ramyajit Sarkar

Abstract:

There has been a long history of the zamindar system in the Bankura district. Sometimes they formed as vassalages of the sovereign Malla dynasty; sometimes, they got tax-free lands from Malla kings. In the colonial period, when the British East India Company made experiments on land settlements and introduced land settlements again and again within a few years, many old zamindari were curbed and sold. Many outsiders bought these lands and accepted the new land settlements of the British East India Company. Sometimes, they also granted some of their lands to other people in exchange of annual revenue. As a result of this new section of the zamindar families evolved in the Bankura district during the Colonial period. They became wealthy by indigo planting or trading first with the British East India Company and later with the British raj. In this article, I will be exploring about some of the zamindar families of the Bankura district try to give a and few glimpses of their lives.

Keywords: Malla dynasty, zamindar, feudal kings, Ajodhya, British East India Company, Culture Body

Introduction

Bankura is a district of West Bengal in India. From the ancient period, we find existence of kings and zamindars in the Bankura district. The Susunia inscription, the earliest inscription of the district, of the 4th century A.D. tells about an endowment of a village to lord Chakraswami i.e. lord Vishnu and his worshippers¹. So endowment to Brahmins was popular in the district. Later in the Malla period (starting from 694 A.D.), these endowments became so popular that if a brahmin did not get tax-free land from the Malla kings, people questioned if he was truly a brahmin. In this way, many Brahmins became landlords in the Bankura district. During the Malla period, many officials got land as salary in place of direct cash. During the colonial period, many outsiders came to the district who rented land from the British East India Company or its vassalages in exchange for an annual tax. Some people of the district also became rich and owners of lands by dealing with the Company or taking a job under the British East India Company. Some zamindar families were also involved in the indigo plantation.

Importance of the Study

From ancient period, Bankura has seen progress in politics, education, culture and other aspects of the society which has not only made Bankura proud, but also made West Bengal and India famous worldwide. The local kings and zamindars of the district had a great role in shaping it; but there has been hardly any study on role of zamindars of Bankura district. To write a concrete history of a country, we should focus on its regional history. In this article, I will be looking at the lives of the zamindars of Bankura district in pre-colonial and colonial Period.

Methodology

The research is an empirical research. I have visited some zamindar families of the district and conversed with the successors of these families. I have also taken help from some old district gazetteers of the district and some local books in native languages and have tried to find a conclusion.

Main text of the paper

The Bandopadhyay family of Ajodhya was the most prominent of them. They were the successors of Baraha. It assumes that in Bengal, once there was a king named Adisur who invited five brahmins from Kanyakubdja. These brahmins had settled in Bengal permanently. One of them had been Khitish whose grandson was Baraha.

The person in the family who settled in Ajodhya was Hari Bandopadhyay. He came to Ajodhya in the time between sixteen century A.D. and the seventeenth century A.D. His successors were Laxman, Basudev, Ramdulal and Nimai respectively. But at that time they were very poor. Nimai married Rangamani of the Goswami family of Amral, a neighbouring village of Ajodhya. This Goswami family was a wealthy family. They got Devottar land from the Malla king of Bishnupur. By the marriage, Nimai got twelve bighas land as a gift. Nimai and Rangamani had four sons and a daughter. Four sons were Krishnamohan, Rammohan, Lalmohan, and Gadadhar and the daughter's name was Sakhimani.

The story goes that once these four brothers were playing in the field. A neighbour rebuked them and told them that their father laboured day and night to feed them. But they did not try to help their father. Though other brothers went home, Rammohan did not go. He swore that when he could earn money, he would return home. He travelled here and there and at last, he reached the office of the indigo merchants of Hoogly. He was employed in the office by the Nilkar sahib Hicks.

Through his efficiency and loyalty to the nilkar sahib Hicks, he became a close person to him. The nilkar sahib appointed him as his diwan. When the sahib was on his deathbed, he wrote the Bankura office in Rammohan's name in exchange for fifty thousand rupees. To this way, the family started to become rich. After the death of the sahib, Rammohan returned to Ajodhya with a lot of money and bought many Parganas from neighbour zamindars and small rajas, who started to lose their glory after failing to continue with the Permanent land

settlement of Lord Cornwallis which he introduced in 1793. Rammohan's wife's name was Shibsundari. She was of the Chakraborty family of Bhara village. She died in 1876. He then married Hemangini of the Goswami family of Marui in Bishnupur. As Rammohan was childless Hemangini had a strong affection for her nephew Gorachand Goswami of her matrimonial relation. By taking this chance, Gorachand tried to curb some lands of the Bandopadhyay family in his name, but after the death of Hemangini, other brothers of Rammohan drove Gorachand away from their zamindari.

Rammohan had a keen interest in making temples. He built twelve deuls of lord Shiva, a Rasmancha, a Dolmandap, Girigobardhan temple, Sree Sree Radha Damodar temple and others. The Girigobardhan temple was a good example of stone-made architecture. The temple is shaped like the Girigobardhan hill. The deity of the temple is lord Krishna who holds the Girigobardhan hill with his toe. He also built a beautiful chariot of brass which is approximately eight feet in length. He died in 1869 in Bhara when he was travelling to Tribeni.

Krishnamohan, the eldest brother of Rammohan, was a man of will. He never stopped any work in the middle. In this way, the control of the zamindar family was firmly established over their zamindari. But his effort to control the villages might have caused an uprising in Amdangra a village under his zamindari. Though Krishnamohan himself went there and tried to solve the problem, he was murdered by a man from this village. When the news of the murder reached the zamindar Kothi at Lokpur of Bankura, his two brothers Rammohan and Gadadhar went there, with a large number of lathials and twelve or fourteen sepoy with fire guns. They subdued the uprising by torturing people of the village.

Lalmohan, another brother of Rammohan, bought a large area in present day Lalbajar of Bankura town. A large number of people settled there. He also built a bandh pond there. The name "Lalbajar" was derived from the name of Lalmohan and the bandh was also called "Lalbandh"² in his name.

Gadadhar Bandopadhyay, another brother of Rammohan was one of the important people in the family. He was appointed in the nilkothi of the Hiks sahib, at the request of Rammohan. When his brother Rammohan built up a large zamindari, he extended it by buying neighbouring territories. He knew that to increase their zamindari, loyalty and friendship with the British were important. When the Sepoy Mutiny broke out in large parts of north India in 1857, there was an uprising in Bankura as well. It might have been successful as there was insufficient British army in Bankura and to continue the night they had to collect soldiers from Kolkata which was far away from Bankura. At this point, Gadadhar spent lavishly money on the rebellious soldiers of Bankura and kept them busy in merry-making. Because of which the company got sufficient time to collect a large number of soldiers and the uprising in Bankura was curved before it could start. For this help, Gadadhar was honoured as "Raibahadur" in 1860 by the British government of India.³

There was a kingdom in Bankura for over a thousand years. The kings were referred

to as “Mallas”. Their capital was in Bishnupur. The founder of the dynasty was Raghunath Malla or Adi Malla. He founded the kingdom in 695 A.D. At first, the capital was in Praddumnapur. Later during the reign of Jagat Malla, the nineteenth king of the family transferred the capital from Praddumnapur to Bishnupur. During the reign of Bir Hambir, forty-ninth king of the family, the kingdom extended to Panchet in the west. During the reign of Gopal Singha, the kingdom was the largest in volume⁴. Malla kingdom stretched as far as the modern Damin-i-Koh in the Santal Parganas; to the west, it comprised part of Midnapore and the East part of Burdwan and the inscription of Malla kings found at Panchet show that it extended up to Chotonagpur plateau. W.W. Hunter says the kingdom was equal to modern Wales. But after the British East India became the diwan of Bengal, Bihar and Orissa by the consent of the treaty of Allahabad II in 1765 A.D., Chaitnya Singha, then Malla king of Bishnupur could not go on with the new land settlements imposed by the British East India Company and most parts of the kingdom was sold⁵. The Malla kingdom of Bishnupur was transformed into a small zamindari consisting only of Bankura, Onda and Bishnupur. After the death of Chaitnya Singha, the zamindari was becoming small day by day. After Chaitnya Singha, the zamindar of Bishnupur was Madhab Singha in 1801 A.D. Though local people referred them as kings, no comfort and luxury were there with them. The last zamindar of the family was Kalipada Singha.

After coming of Srinivas Acharya, the great Vaishnava saint, in Bishnupur and transforming the royal family into Vaishnavism, he remarried and got lands from the Malla king Bir Hambir in Bishnupur. His second wife's name was Gourangapriya. Their son was Gatigobinda. In this family, there were some singers and musicians like Nimaichand, Radhikaprasad Goswami and his nephew Jnanendraprasad Goswami⁶, Bipinchandra Goswami and Nakulchandra Goswami who took the Bishnupur Gharana in fame in India and rest of the world.⁷

Now I will be looking into the zamindaries of Ambikanagar. Ambikanagar was under Ranibandh p.s. The old name of Ambikanagar was Amainagar. Tradition says that there was a king in Ambikanagar whose name was Chintamani Dhopa. His kingdom's name was Dhalbhum. The Bengali term “Dhopa” means washer man⁸, generally belonging to the lower group of society. So it is clear that in the Rarh Bengal thrones were not only under the people of upper castes. The story of Kalketu and Fullara in the Chandimangal also tells about king Kalketu who had been a hunter. In the case of Dhalbhum, the similar thing happened. The zamindari included the southeastern part of Singhbhum district, the southwestern part of Bankura district and the western part of Medinipur. Jagaddeu Dhal defeated Chintamani and captured his kingdom. He was a Kshatriya in caste. He took the title “Jagannath Dhabaldev” and ascended the throne of Dhalbhum. His grandson Anantadhabal was the founder of the zamindari in Ambikanagar. After 32 generations of Anantadhabal, the zamindari was divided into two small zamindaris. One part went under Tekchandra Dhabal Dev and the other part went under Khargeswar Dhabal Dev. The capital of Tekchandra was Supur and the capital of Khargeswar was Ambikanagar. Ananta Dhabal Dev was the son of Khargeswar Dhabal

Dev and his grandson was Gopinath Dhabal Dev. Jagajibanram Dhabal Dev was the son of Gopinath who had two sons named Nimai Chand Dhabal Dev and Nilmani Dhabal Dev. During the reign of Nimai Chand Dhabal Dev, the zamindari was curbed as many parts of it were sold due to their inability to pay the annual tax to the British East India Company. Surendramohan Thakur bought many parts of the Ambikanagar zamindari. During the British period, the volume of the zamindari of Ambikanagar was 97,017 acres and the volume of the zamindari of Supur was 1, 22,599 acres. Nimaichand had a son named Goudadhwaja but he had no son. Nilmani had a son named Raicharan⁹. He was involved in the revolutionary struggle against the British raj in India.

There was the Bandopadhyay zamindari family in Kalikapur. Kalikapur is under Meijia p.s. in Bankura district. The founder of the zamindari was Nafarchandra Bandopadhyay. He had lived in Bagarchati village in the Burdwan district and he came to Kalikapur and started to live there. His son Fatelal Bandopadhyay had the business of coals. His son Mahendranath Bandopadhyay for the first time discovered coal in Kalikapur. At that time Kalikapur was under the Panchakot kingdom. In the heydays of Mallabhum, the Panchakot had been under the Malla kingdom of Bishnupur¹⁰. But when the kingdom started to decline, the Panchakot declared its independence. Mahendranath bought the lands of Kalikapur from the king of Panchakot. But when the coal mine in Kalikapur started to make a profit, the king of Panchakot demanded a percentage of the profit from the Bandopadhyay family. The conflict between them reached the court. What was the decision of the court is unclear as there is no definite source for it. Kasibilas Bandopadhyay was the son of Mahendranath Bandopadhyay. He was a man interested in literature. He edited and published the Ramayana and other books from Kalikapur.

The other important zamindari of Bankura was the zamindari of Chatna. Tradition says that once the zamindari of Chatna was part of Samantabhum. At that time, the kings of Samantabhum belonged to the Santals. Their tutelary deity was Devi Basuli. Thereafter the Santal dynasty was replaced by a Brahmin dynasty. Their dynasty was named Basalinagar or Bahullanagar. But when they started to torture the Santals, the Santals became rebellious and overthrew the Brahmin dynasty. In 1403 A.D., there became a new king in Samantabhum whose name was Sankha Roy who ended the turmoil that started after the fall of the Brahmin dynasty. Tradition says that he was born in Bahullanagar. Once he went to Delhi and joined the military fouz of the Lodi sultans, later he had a conflict with one of the Lodi Sultans and left Delhi and came to Samantabhum again. After becoming the king of Samantabhum, he transferred his capital from Bahullanagar to Chatna. Many silk merchants travelled through his kingdom. He collected tax from them and made his kingdom economically stable. His grandson Uttar Hamira was the most important king of the line. He extended the boundary of his kingdom and got the title “raja” from the Muslim ruler of Bengal perhaps from the nawab Nasrat Shah of the Hussein Shahi dynasty.

After Uttar Hamira, his son Bir Hamira Roy ascended the throne for a small period. In his time most people of the royal family including the king himself were slaughtered

by an invasion from the Panchakot king. Only twelve people of the royal family were able to flee from Chatna. With them, the princesses of the Samantabhum were also there. She perhaps got in love with a Kshatriya young man named Nisankanarayan. They married and after some years they recovered their lost kingdom. Nisankanarayan became the new king of Chatna. But in this time Mallabhum, a neighbour kingdom of Samantabhum became very powerful under its king Bir Hambira who by his power and by making friends with the Mogul empire annexed many of its neighbour kingdoms. The Malla kingdom of Bishnupur extended to Panchakot. Perhaps Panchakot was annexed by Malla king Bir Hambir. Two inscriptions in Duar Bandh and Khoribari gate in Panchakot (modern Panchet) refer the name of Bir Hambir, the Malla king, proving that during his reign the boundary of Mallabhum was extended to Panchakot. Chatna was in the middle of Mallabhum and Panchakot. So it is obvious that the Samantabhum either accepted the dominance of Mallabhum or it was annexed. Probably Nisankanaryan accepted the dominance of Mallabhum and became a feudal lord under Mallabhum. His title the “Samantabinath” seemed to be similar to the title of the Malla kings of Bishnupur i.e. the “Mallabinath”. It also indicates his acceptance of Malla's authority. After the fall of the Malla kingdom of Bishnupur, Samantabhum became independent but it was curbed into a small zamindari of Chatna under the British regime in India.¹¹

Next, I will be telling about the Tungabhum zamindari. During the 14th century, Samantasar ruled the area of Tungabhum which was later annexed by the Malla king Prithi Malla of Bishnupur. Then the Tungabhum included Shyamsundarpur, Fulkusma, Raipur, Simlapal and Valaidihi. Around 1358 A.D., Nakur Tung from Orissa came here and started to live in Tikarpara near Shyamsundarpur. With him, there were his guru and his general Sripati Mahapatra. It is not clear if Nakur annexed the area of Mallabhum or became the king of Tungabhum under the Malla dynasty of Bishnupur¹². Perhaps the first theory is right as in this time, there was no powerful king in the Malla kingdom of Bishnupur. Nakur Tung gave the Simlapal and Valaidihi to his general Sripati Mahapatra. He gave the Raipur to the Sikhar family of Raipur. Some utkal Brahmins also came with Nakur Tung who were also gifted some lands here. The Malla king Bar Hamber had influence on the Tungabhum reminder by matrimonial alliances.

During the reign of the Malla king Raghunath Singha II, Gaddahar Siromoni came from Bikrampur of Dhaka to the royal court of Raghunath Singha II. He was appointed as the court pundit of the king. He was also famous for his nice voice and skill in singing. The king perhaps gave some taluks to Gadadhar in Sonamukhi. He built the “Gobindaji” temple in Sonamukhi. His son was Bishwambhar Bidyabhushan. One of their ladies was married to the Mukhopadhyay family of Sonamukhi. Dhirendranath Mukhopadhyay was the most famous person of this family. Dhirendranath joined the shipping industry with Rasaraj Biswas. In this way, he made a good profit¹³. He increased the area of his zamindari by buying some taluks. The British Government gave him the title “Roy Sahib”.

Gandharba, a lady who belonged to this family, was married to Tariniprasad Bandopadhyay

who belonged to the famous Bandopadhyay family of Sonamukhi. They had four sons who were Haradhan Bandopadhyay, Sudarshan Bandopadhyay, Sasisekhar Bandopadhyay and Amritsekhar Bandopadhyay. This family was called by the common people the “Babu family”. Amritsekhar Bandopadhyay had three sons who were Ramaprasad Bandopadhyay, Tinkari Bandopadhyay and Bijaymadhab Bandopadhyay. The most important person in the family was Sagunanda Bandopadhyay. He became successful in shipping coals. He also joined the paper mill of Durlabhpur, now in Raniganj. He also started a cinema hall in Sonamukhi and established many rice mills in Sonamukhi. He later became the chairman of Sonamukhi municipality.

Mukhopadhyay family of Moinapur under Jaipur p.s. in Bankura was an important zamindar family of Bankura district. Nidhikrishna Mukhopadhyay founded the zamindari in 1700 A.D. He married the daughter of Sorottor Roy, the diwan of the Malla kings. They had a son named Chandicharan Mukhpadhyay who became the diwan of the Malla kings after the death of his maternal grandfather. His son Kaliprasad was the district magistrate of the Birbhum district. Tariniprasad, his other son, worked in the Bankura district court as the seristadar of the district judge of Bankura. From this family, there were many district magistrates, deputy magistrates, presidency magistrates, sub-judges, session judges, police, advocates and other high posts in the British government. Jagadananda Mukhopadhyay, Gangananda Mukhopadhyay, and Bagalalanda Mukhopadhyay who were three sons of Tariniprasad Mukhopadhyay and his grandson Jyotindra Mukhopadhyay received the title “Roysahib” from the British government. Durgagati Bandopadhyay, the daughter’s son of Tariniprasad Bandopadhyay became the collector of Calcutta. He also worked as the personal assistant of the commissioner of Patna. He was given the responsibility to welcome the prince of England in 1876. In 1895, he got the title “C.I.E” and was selected as a member of the Bengal Council. Despite his age, being passed by the age to hold a government job, the British government permitted him to continue his job. The British government was so pleased with him that he got 6000 rupees as his retirement salary, generally, a person in his post got 5000 rupees as his retirement salary. Tariniprasad’s second son Shyamalananda Mukhopadhyay was also very faithful to the British government. He was the district magistrate of Dumka district.

Chandrajyoti Mukhopadhyay, the eldest daughter of Jagadananda Mukhopadhyay the eldest son of Shyamalanada Mukhopadhyay, was married to Nabagopal Bandopadhyay, the rich family of Boro Kalitala area of Bankura district. He at first became the overseer and later district engineer and earned a lot of money. He built a palace in Boro Kalitala. Prasannakumar Bandopadhyay, the eldest son of Nabogopal Mukhopadhyay, became the sub deputy and later the deputy magistrate and abgari superintendent respectively. His eldest son Hariprasad Bandopadhyay made a large sum as a profit in coal mines. He bought many taluks like Arjunpur, Purandarpur, Holaigara and Kajla, Chiltor, and Banpathari of Raipur.

There was an important Mukhopadhyay zamindari family in Bankura town. This family had come from the Somsar village under Indus p.o. of Bankura district. Guruprasad

Mukhopadhyay of the family for the first time founded the zamindari in Hattala mahalla of Bankura town. He had four wives. His son Harishankar Mukhopadhyay was an important personage in the Bankura district. There is a popular Bengali proverb in Bankura town:

“Harishankar Babur bari, Kuladababur gari, Ali Jaminar dari.”

[It means the house of Harishankar Babu, the car of Kuladababu and the beard of Ali Jamin.]

Harishankar married Mangala, the daughter of the naib of the Burdwan zamindar. Through the influence of both his father and father-in-law, he bought twenty-six moujas in Bankura district beside the Dwarakeswar river like Lat Sahebganj of Benjira- Daldali, Sahebganj, Mankhamar, Tentulmuri, Nayanandapur, Kulara, Majdiha, Hatbari and other moujas.

During the period from 1812 A.D. to 1832 A.D., the palace of the Mukhopadhyay family was built. The volume of his palace was 5 bigha and 3 katha. His house was a unique one in Bankura town. He was not free from the Bangali babu culture. He many times grasped the lands of the poor men by involving them in fraud cases. From a record of 1863 A.D., it comes to know that the price of one-fourth land of five bighas land was 499 rupees i.e. the price of one katha was twenty rupees. But in the decade 1850, this Mukhopadhyay family grasped many lands in exchange of very few rupees. From a record of 1850, it comes known that the lands of Khoda Bakhs and Jan Bibi were taken over by the Mukhopadhyay family due to their inability to pay their loan in time. From another record of 1850 A.D., the family captured four and a half katha land in only twenty-one rupees and eight annas from Ramanath Chattopadhyaya. From a record of 1851, this family bought four katha lands in exchange for 49 rupees. From another record of 1850, the same family bought ten katha lands for 31 rupees.

This family had a rivalry with the Bandopadhyay family of Ajodhya who had also a similar intention to increase their zamindaries by grasping the lands of poor men with very little money. There had been a case between these two families on the possession of 509 bigha lands of Nityanandapur mouja. Kalikumar Mukhopadhyay and Anandakumar Mukhopadhyay of the Mukhopadhyay family complained against the Bandopadhyay family of Ajodhya that Rammohan Bandopadhyay and Gadadhar Bandopadhyay of the Bandopadhyay family of Ajodhya possessed that land illegally. The decision of the court went in the favour of the Mukhopadhyay family of Bankura. After building the town committee in Bankura town, Harishankar Mukhopadhyay was elected as a member of this committee by the British government from their side.

The original homeland of the Choudhury family had been in Faridpur of eastern Bengal¹⁴ or modern Bangladesh. From there, Ashuram Choudhury, a member of the family, migrated to Mallabhum not to bear the torture of the nawab of Dacca. He became faithful to the king of Mallabhum. The king of the Malla dynasty of Bishnupur granted three moujas i.e. Lokhasol, Balarampur, and Nonasol. His grandson was Bhairav Choudhury. He bought a

taluk in Narikola village, three hundred bigha lands and many ponds. Makhanlal Choudhury, son of Bhairav Choudhury took the contract of building roads from Purulia to Ranchi during the British East India Company's rule. He made many profits and bought two hundred bigha lands. His elder brother Dhanakrishna Choudhury renovated the ancient Kamakhya temple of Lokhasol and arranged daily worship of the deity of the temple. Makhanlal Choudhury himself built a Shiva temple in Lokhasol. He also arranged a regular bhogutsav for the temple. He could not complete the building of the temple during his life. His son Kalipada Choudhury completed the building of the temple. Gunamoi Choudhury and Tapomai Choudhury were involved in the freedom movement for India against British rule in India. They actively participated in the Quit India movement in 1942. Later Gunomoi Choudhury joined CPI. Prasanta Choudhury, another brother of Kalipada Choudhury became the headmaster of Patharmora high school of Panchal of Bankura district.

This family became wealthy in trading salt. They regard themselves as the descendants of Chand Swadagar, the merchant of the Manasamangals (the folktales related to Devi Manasa). After the Malla kingdom of Bishnupur was sold due to their inability to pay the settled tax to the British East India Company, Udaichand Mahatap, the zamindar of Burdwan bought many parts of it. The Bhadra family bought seventeen taluks in Kotulpur from Udaichand Mahatap.¹⁵

The Biswas family of Jujur had lived in Khandoghosh of Burdwan. Ramnarayan Biswas, one of the descendants of this family, took ijara of Jujur village of Bankura district from the zamindar of Burdwan. Their title had been "Das", but later being faithful to the Burdwan zamindars, they received the title "Biswas". Kiranbala Biswas, the wife of Debendranath Biswas, was the last zamindar of the family. After her husband's death, she took responsibility for the zamindari. It is to be noted that Kiranbala Biswas was one of the very few female zamindars among the male zamindars of the Bankura district.

Panchal village is twelve miles away from Bishnupur town. Now this village is under Sonamukhi p.s. Mishra family was the zamindar family of Panchal. Bhabaniprasad Mishra was the founder of this zamindari. He took a job as an accountant under the Malla kings. The Malla king granted him some lands in Panchal. This family demands that they belonged to the Kanyakubdja Brahmin family. The last of the Mishra family was Kalipada Mishra. He had two daughters named Sabitri and Gayatri with whom he gave marriage two persons with Chattopadhyaya titles from Hugli and Burdwan districts.¹⁶

There have been remains of a fort in Dumnigarh of Patrasayer. Perhaps it was a fort of the Malla kings of Bishnupur. During the eighteenth and nineteenth centuries, Nandaram Chakraborty established a zamindari in Patrasayer. He had lived in Dhaka of east Bengal. He with his other three brothers who were Sahebram, Giridhar and Harishchandra, came to Bishnupur and took jobs under the Malla kings. With his trustful and adequate work, he became the general of a thousand soldiers. The Malla kings gave him the title "Hajari" (Bengali of thousand) and gifted him many lands in Patrasayer. The volume of the zamindari is

fourteen thousand bighas of land. In the Non-cooperation movement in 1920, the descendants of the Hazra family joined. After the Malla kingdom of Bishnupur was sold and a large part of the kingdom was bought by the zamindars of Burdwan, the zamindari of Hazra was also gone under the zamindars of Burdwan. Under Burdwan zamindari, the condition of the family deteriorated. They lived as priests of Kalanjai Shiva temple of Patrasayer in Bankura district.¹⁷

Though Muslims came to Bankura in the later period of the Malla dynasty, there was a Muslim zamindar family in the Role of Bankura district and some wealthy Muslim families of Bankura town during the British period who also contributed a lot to develop the society of Bankura district.

After the battle of Plassey, the British East India Company became the de facto ruler of Bengal. Slowly their power rose to an epoch. With evolving of British raj in India, a new wealthy group of landlords rose, where many of the old zamindaries fell. So in revolts and rebellions against the British raj in India, we have found blended reactions from them. The zamindaries of Bankura district were not away from them.

Many old zamindaries of the Bankura district could not go on with the new land settlements, experienced by the British East India Company in Bengal. Their whole zamindaries or parts of the zamindaries were croaked by the British East India Company due to their inability to pay the settled tax to the company and the company sold the land to the bidders who could pay them the settled tax. Naturally, the deposed zamindars (landlords) raised the banner of revolts against the British East India Company. The common people, who had been living happily in cooperation with their old masters, became irritated with the high tax, levied on them and new rules and regulations on the lands and jungles, by their new landlords and the British East India Company and joined with their old landlords in the revolts and rebellions. But those zamindaries, who could continue cooperating with the company and those who rose with the help of the British, did not go against the company. They provided money and people to subdue the revolts and rebellions against the British East India Company.¹⁸

Durjan Singha was the most important rebellious zamindar of the Bankura district who flagged the banner of revolt against the British East India Company for a long period. He was the zamindar of Raipur paragana. He could not pay the high rate of revenue and the company snatched his zamindari and gave it to another man.¹⁹

In March month of 1798, the revolt broke out in Raipur. Durjan Singha with his one thousand and five hundred Chuar armies again re-established his authority on thirty villages of Raipur. Then his men attacked the houses of the officials of the new landlord of Raipur. The daroga of Raipur thana also flew away in fear of Durjan Singha. Then a large army of the British East India Company came there. After some skirmishes, Durjan Singha was forced to drive away from there. In May, Durjan Singha with his five hundred chuar people again reached Raipur. They looted and destroyed the houses of officials of new landlords.

At this time Gunari p.s. was the centre of the army of the company. Durjan Singha attacked the police station, but after a long battle from the evening of the day of the attack till 10 a.m. of the next day morning, Durjan Singha and his men were defeated. After one and a half month, a large army under Durjan Singha again attacked Raipur. This time, the army of the company was defeated and for some time, Durjan Singha again became the zamindar of Raipur. They built a mud fort in Raipur.

In 1799, Sundar Narayan, the zamindar of Fulkushma, Mohandas Choudhury of Bhelaidiha and zamindars of Ambikanagar and Supur also joined with Durjan Singha. Now the company took the policy of appointing rebellious chiefs to official posts of the company. In this way, this revolt was slowly restrained. Durjan Singha joined the police of the company. He did his duty successfully from 1800 to 1821 in exchange for only ten rupees monthly. The company also cut jungles of the district and made the lands arable for cultivation and gave it to many chuars. They now became faithful to the British East India Company.²⁰

We have been told that the kingdom of Bishnupur was curbed into a small zamindari and most of the parts of it were sold by the British East India Company due to their inability of paying settled tax by the British East India Company. Chaitnya Singha, the Malla king of Bishnupur, had to live in prison for some time. After him, the condition of the royal family became worsen. They had to live on the pensions given by the company. Sometimes they did not get pensions also. In 1808-1809, Madhab Singha of the dynasty became rebellious against the British East Indian Company. He with his men reached Bankura and looted the Bankura treasury. But at last, he was prisoned by the British force and he had to spend his last days in jail.

In 1832, a revolt broke out in Barabhum state under Ganganarayan Singh who was deprived of his zamindari by Madhab Singh, the diwan of the Barabhum estate. The torture of the diwan made him unpopular to the people and they revolted against him under Ganganarayan. Slowly the revolt went against the British East India Company which supported the diwan. The bhumija people of Barabhum, Ambikanagar, Raipur, Shyamsundarpur, and Fulkushma joined him. At last, a large army of British East India Company reached there and subdued the rebellion. Ganganarayan fled from there and reached Singhbhum and died there. This revolt was popular as the “Ganganarayan Hamla”.

But every zamindar did not go against the British East India Company. The zamindars of Chatna helped the company with wealth and army to subdue the revolt of Durjan Singha

Gadadhar Bandopadhyay of the Bandopadhyay family of Ajodhya was very much loyal to the British Government. When the revolt of 1857 broke out in India, there was dissatisfaction among the Sekhwati army of the British contingents in Bankura. They might successfully declare the revolt as there were few British soldiers in the Bankura district, but Gadadhar Bandopadhyay kept these soldiers in merry and comfort for two days. At this time, a large army of British came from Raniganj and the possibility of revolt from the Sekhwati soldiers in the Bankura district was destroyed in beginning. For this help, the

British government honoured him with the title “Raibahadur”.²¹

Shyamalananda Mukhopadhyay of the Mukhopadhyay family of Moinapur was also very loyal to the British government. During the revolt of 1857, He was the magistrate of the Dumka district then. There might be dissatisfaction among the cavalries, appointed in the Dumka district. Shyamalananda, taking the risk, transferred four thousand rupees from Dumka to Suri. This work of Shyamalananda deprived the rebellious Indian soldiers of that money which would help them financially but as he saved this large amount of money from the British government, the government was very pleased with him. His brother Jagadananda Mukhopadhyay welcomed British prince Edward VII in 1875 with all women of his family. On one side it was an example of improvement of women's condition from household to outside, but on the other side, some Bengali leaders protested against it as it shook the honour of Bengalis who considered the work of welcoming a British prince by Bengali women to be dishonourable. A drama “Hanuman Charita” was staged on 26 February, speaking their anger against Jagadananda and the British Government. At first, the name of the drama had been “Gajadananda” till British police banned the drama in its first show. Then organisers changed the name and staged it in a new name. Lord Northbrook, then viceroy of India, regulated the “Dramatic Performance Act” in 1876 to stop staging dramas which were against the British government in India.²²

The members of these zamindar families also actively participated in the freedom movement against the British raj. There were main three types of freedom fighters in the Bankura district i.e. revolutionaries, Indian national congress members and communists. We have found the name of Manmathanath Mullick, Kashinath Adhurya and Radhagobinda Roy and others who actively participated in the Swadeshi movement. Kuchiakol high school, led by the Kuchiakol zamindar family became the centre of disseminating Swadeshi ideas among students in the Bankura district.

In revolutionary movements, many members of these zamindar families joined. Their participations were of two types. Most of the zamindars helped the revolutionaries with money but they had no direct connection with them. But some of them actively participated in revolutionary movements. Jogendranath Singhaddev of Kuchiakol zamindar family, Raicharan Dhabaldev of Ambikanagar zamindar family, Kaliprasanna Narayan Deo, zamindar of Raspal, Birendranath Singhaddev of Malla royal family, Jagadish Palit of Palit family of Betur and others and others had a direct connection with Jugantar, Anushilan and other revolutionary groups. The house of Raicharan Dhabaldev became both a hidden place for revolutionaries and a meeting ground. It is said that he also built a hidden arm factory in Shyamsundarpur of the district. Goswami zamindar's family of Srirampur of Hooghly helped him to build the factory. Raicharan was arrested in 1908 though after a few days he became free due to a lack of proof against him. Raicharan had also planned for political loot in Hansadanga of modern Purulia with Barindra Kumar Ghosh, Narendranath Goswami, NirapadRoy, Harischandra Ghosh, Santicharan Ghosh, Prafulla Chaki and Satyacharan Ghosh²³. But this plan failed due to police activity²⁴. In the later period, many members of these zamindar families actively

participated in the congress movement also. Gobinda Prasad Singha was important to them.²⁵

In the progress of education in Bankura district, the zamindar families of Bankura district took a leading role. Before coming of the British East India Company, these zamindars cooperating with Malla kings patronised Sanskrit tols in their zamindaries. They also helped financial resources to Brahmin families to write or copy Sanskrit texts. For instance, the Roy zamindar family of Patrabakhra patronized the local Bhattacharya family to write or copy over hundred Sanskrit texts. After the establishment of British power in India, when the English language and western education became prominent in India, zamindars of Bankura district also walked on the road of modern education.

The Sanskrit education was promoted by many zamindars in later Malla and a period of Company raj. Perhaps as most of them belonged to Brahmins, they had a natural sympathy towards Sanskrit education. It is also noted that in the second half of the nineteenth century. When there raised a group of landlords from the so-called lower class society, Sanskrit education slowly lost its importance. The zamindars of Ajodhya, Patrasayer, Chatna, Raipur and others built a large number of tols in their zamindaries. The Girigobordhan tol of Ajodhya, patronized by the local Bandopadhyay family, was the most important of them.²⁶ There have been findings of a large number of Bengali and Sanskrit from many villages under these zamindaries. For instance, over a hundred manuscripts have been found from the Bandopadhyay family of Patrabakhra which were patronized by the Roy zamindar family of Patrabakhra.²⁷

After the development of the English language and Western Education as the Education system of India in the fourth decade of the nineteenth century, many members of these zamindar families of Bankura district came forward to disseminate Western Education and the English language in Bankura district. The three English medium schools of the Bankura district, in the decade of the eighties of the nineteenth century, were formed under the direct or indirect help of the zamindars.

The zamindars of Bankura district took also a leading role in shaping the culture of the people of Bankura district. Bhadu, the folk festival, which was very popular in the Purulia district with patronage from the Kashipur zamindar family, could not gain much popularity due to the absence of any patronage from the zamindars of the Bankura district. During the Malla reign, their feudal lords mainly tried to propagate Gaudiya Vaishnavism in their areas also. These zamindars along with the Malla kings built many Vaishnava temples in the district. During the Malla period, almost in every village, some excerpts from any Vaishnava text were recited to local people every day. The Vaishnava festivals were celebrated with great prompt and luxury. The Vaishnava impact on the people was very deep-rooted. Many people became vegetarian. They left eating meat and fish. To the date, the members of the Roy zamindar family of Patrabakhra have not taken chicken in their houses. You can hardly find a chicken or mutton shop in Bishnupur town due to their faith in Vaishnavism though now very few of them are Vaishnavas. In Onda, during the Dol festival of lord Krishna,

Radha and Sree Chaitnya with his associate Nityananda, no one in the area do not take any meat or fish in their home. The zamindars also patronized the worship of many local deities to please their subjects. We can tell about Devi Kaliburi of Ajodhya who got patronage from the Bandopadhyay family of Ajodhya. The name “Kaliburi” is another name of Devi Manasa and she is very popular among local people of the area.

After the establishment of the British raj in India, the zamindars of Bankura district became very enthusiastic about European culture and they tried to propagate it in Bankura district. We can tell about Satyakinkar Sahana and Jogeshchandra Vidyanidhi here. Satyakinkar Sahana’s father Prankrishna Sahana was a small zamindar of Suripukur under Indus p.s. Satyakinkar came to Bankura and bought a house titled “Ananda kutir” and renovated it. The vegetables like cabbage, cauliflower, peacod, turnip, and beat were not cultivated before the coming of Satyakinkar. He for the first time brought seeds of these vegetables from outside and taught the farmers of the Bankura district to produce them. From a young age, he wrote poems in journals like Sakha, Sathi, and Pradip and wrote stories in Sanjibani, Bangabasi and Hitabadi journals.²⁸ He wrote ‘Malika’, ‘Sakuntala Rahasya’, ‘Chandidas Prasanga’, ‘Aryasatak’ and other books. He was the man who proved that Chandidas, writer of “SreeKrishna Kirtan”, had lived in Chatna of Bankura district. For his contribution to Bengali literature, the Sanskrit college of Kolkata gave him the title “Vidyavinod” and the British government gave him the title “Rai Bahadur”. On his 86th birthday, he received a grand reception from the citizen of Bankura town. To develop the music world of the Bankura district, these zamindars played a pivotal role. The Goswami family of Bishnupur played the leading role to shape the Bengali songs. Radhika Prasad Goswami made Bishnupur Gharana famous and his nephew Jnanendra Prasad Goswami was a great singer who sang many songs of Nazrul Islam. Jamini Roy of Roy zamindar family of Beliatore of Bankura district was a great artist who became famous in painting oil paintings making phad paintings as the main content of his paintings. Basantaranjan Roy Bidyaballav of this family contributed a lot to Bengali literature. He discovered the manuscript of the “SreeKrishna Kirtan” from Kakila village of Bankura district. Ramananda Chattopadhyay of Pathakpara in Bankura district published the “Prabasi” from Allahabad. He also published the children’s magazine “Mukul” along with Jagadish Chandra Bose. He was the owner of the “Modern Review”, a monthly magazine published in Kolkata. He was called the father of Indian journalism. Kshirod Prasad Vidyavinode of Bikna in the Bankura district was a pioneer of Bengali dramas.²⁹

The lives of the zamindars were not different from other zamindars of Bengal. During the reign of the Malla dynasty of Bishnupur, the lives of zamindars were not in very luxurious styles their comfort and luxury but reached an epoch during the British raj in India. In Dharapat village of Bankura district, I have seen the remains of the palace of the zamindars of the village and they were the zamindars of Dharapat during the reign of Malla kings. The palace was surrounded by water on every side. It might help the zamindars to defend themselves from the attack of outer enemies. It is important to say that around Bishnupur

city, the Malla kings also built many bandhs (small lakes) which saved the city from outer enemies, working as a water fort. During the British period, we have not found this type of water fort around any zamindar palace in the Bankura district. At this time generally, the palaces of zamindars were built in mainly European styles. Generally, these zamindars built at least one Shiva temple near their palace. In the zamindaries of Ajodhya, Patrabakhra and Joykrishnapur, there were a large number of Shiva deuls. After the dissemination of Gaudiya Vaishnavism in the Malla kingdom of Bishnupur by Srinivas Acharya, a large number of Vaishnava temples were built in Bishnupur and the zamindaries under the Malla kingdom. The Malla kings gifted many tax-free lands to many people mostly who were Brahmins with Vaishnava idols to worship. During the British raj, there is a prone to build Durga temples and worship Devi Durga. It is perhaps to show their power and influence because in that time to the modern age, a huge amount of money needs for organizing a Durga puja. Generally, the temples built by the zamindars of the Bankura district were of four types i.e. “Chala” style, “Ratna” style, “deul” style and “dalan” style. Generally, Shiva temples were of deul style. The fourteen Siva deuls in Ajodhya built by the Bandopadhyay family were important to them. The navaratna temple of Rajagram near Bankura town was built by the zamindars of Chatna and the Navaratna temple in Hadal Narayanpur built by the local Mandal zamindar family were two important Ratna temples of Bankura district among the Ratna temples, built by the zamindars of Bankura district. The “Balaram Jiu” temple of Simlapal built by the Simlapal zamindars was a good example of Chala temples in the Bankura district. Most Durga temples, built by the zamindars, were dalan temples. The Rasmancha of the Bandopadhyay family of Ajodhya and the Dolmancha of the Roy zamindar family of Patrabakhra should be mentioned here.³⁰ The Girigobordhan temple of the zamindar family of Ajodhya was exceptional in the Bankura district. It seemed like a hill. The deity inside it is lord Krishna who holds the Girigobordhan temple with one of his fingers. He is in his tribhanga position.

The personal life of the zamindars was not above errors. Though sometimes, they made the chance for their women to come out of households, the Sati system and polygamy were also there. The wife of Padmalochan Mukhopadhyay became sati after her husband's death. Their marriage happened in 1803 A.D. So this event of Sati happened in the nineteenth century. Till 1931 A.D., the women of the family kept the parts of the cloth of the Sati. It is important to note that in 1829 William Bentinck, then Governor General of Bengal, prohibited the Sati system by regulation XVI but the myths of Sati have been popular till the first of the fourth decade or twentieth century in the Bankura district, above incident justifies this. Polygamy was also popular in the zamindars of the Bankura district. For instance, we find at least two examples of polygamy in the Mukhopadhyay family of Shanbandha. Nandakumar Mukhopadhyay of the family married two brides and his eldest son Pratapnarayan Mukhopadhyay married three brides. Generally, women were married at an early age. For instance, Saratchandra Palit of the Palit family of Betur of Bankura district married Santasila, 12 years old daughter of Prasanna Kumar Bose of Hooghly.³¹

Generally higher posts in the government were given to members of loyal zamindar families of the Bankura district by the British government. Before the British government, many zamindars had also worked as feudal kings under the banner of the Malla sovereign. Some of them had also been involved in the Malla army and administration. During British rule, most administrative posts in the Bankura district were given to the members of the zamindar family. Mainly they served as district magistrates, deputy magistrates, police, advocate, teacher, doctor, and high officials in various departments of the British government. Some of them also became successful in trade with cooperating British East India Company and later the British Empire in India. Bandopadhyay family of Ajodhya, Mandal family of Hadal Narayanpur, Choudhury family of Lokhashol, Bandopadhyay family of Kalikapur and others were the most famous zamindar families who made a huge profit in business.

Most zamindar families of the district did not live a very moral lifestyle. To save their interests, they could torture their subjects and sometimes people of other zamindaries. They could murder also if needed. We know the murder case of Dexter, nephew of Hiks, the indigo planter of Hooghly where Gadadhar Bandopadhyay of the Bandopadhyay family of Ajodhya was convicted. They were also addicted to wine and many types of “Babu Culture” including gambling and professional female dancers. Making people cheat and fraud to extend their zamindaries was common in the lives of the zamindar families of the Bankura district. In fact for this, they went to court also against each other. We know the case between the Mukhopadhyay family of Bankura town and the Bandopadhyay family of Ajodhya where the Mukhopadhyay family won the case.

But they also took steps to develop the condition of lives in the Bankura district. The role of zamindars to disseminate modern education in the Bankura district has already been discussed. They also took steps to improve the health condition, economic conditions, roads and others.

The lives of common people in the zamindaries of the zamindars were overall well. Most of them lived in agriculture. A middle-class society arose that served as a connector between zamindars and the common people. A percentage of crops was to be given to the zamindars as tax. During Malla's reign, the amount was low which did not affect much on common people's lives. But during the British period, the British East India Company and its associate zamindars increased the amount of taxes to a higher extent which led the people to revolt against them. The zamindars who could not levy that higher amount of tax on their subjects and failed to pay the company the settled tax were deposed and they also joined with rebellious people. The zamindars, who were the associates of the British raj, subdued this type of uprising in a very cruel manner. Bandyopadhyay's of Ajodhya subdued the uprising in Amdangra village against them with a strong hand.³² The subjects had to give many extra taxes to the zamindars besides the revenue. They had to work in the zamindar's house or fields without any wage. The society of the village was divided into four castes i.e. Brahmin, Kayastha, Baishya and Sudra. The system was not rigid in the Malla dynasty, especially after the dissemination of Vaishnavism in Mallabhum. Many people of sub-castes

and outcastes were in the Malla administration. But in the later period, Brahmins were greatly favoured. They were given tax-free lands. Mainly the zamindar families belonged to the first three castes of the society. Though the zamindar family was either Kayastha or Vaishya, Brahmins got more privileges than any other section of the society. Without their permission, the zamindars could not build a temple or arrange worship of any deity. Though education for all had been popular in the Malla kingdom of Bishnupur, later education was limited to the first three castes. We did not find the name of writers and singers from sub-castes and outcastes during the British period as had happened previously. Generally, students read in tols of Brahmin pundits of a village. Basic education was taught there. There was no chance of learning higher education. After the development of the modern schools in European style, students got the chance to take higher studies. There were some arrangements of amusement in the lives of common people. The zamindars arranged dramas for their subjects sometimes. People also enjoyed the festivals in the zamindar houses. They could eat good food and they also got clothes from the zamindars on these days of festivals. Common people also enjoyed folk festivals like Bhadu, Tusu, Karam, Ekhan and other festivals themselves. The worship of Devi Manasa was very popular among them. Often they arranged local music ceremonies on the songs from the stories of Devi Manasa.³³

Conclusion

So, the zamindar classes evolved in the Bankura district in some stages. Some of them started their journey as feudal lords under the Malla kingdom of Bishnupur. Some of them received tax-free lands from the Malla kings. After the fall of the Malla kingdom, some of them took ijara of some lands in the Bankura district from the Burdwan zamindars who had bought many parts of the Malla kingdom when the latter had been sold. Some of them became wealthy by trading with the British raj. These zamindars did not keep them limited in their territories, when they got the chance to extend their territories; they extended territories by hook or by crook. When their interests were curbed, they flagged the banner of rebellion. The personal lives of zamindars were not highly moral. On one side, they built a lot of temples and arranged regular recitation from various religious books in their territories, in another side they were addicted to wine and professional women dancers. In many cases, they cheat many poor people and grasped their lands. The lives of common men under their rule were not good at all. They had to bear the high rate of revenue. If a person was unable, he was tortured. They had to give some supplementary taxes to zamindars and their officials. Though some zamindars took some steps to increase the growth of education and health, the facilities were mainly received by the upper classes of society. In many villages of Bankura district, Brahmins also sucked the lower caste poor people in various ways. The zamindars also had to obey their rules and regulations. The Sati system, child marriage, and polygamy were prevalent in society. In the last half of the nineteenth century and the twentieth century, the condition changed in some sort. The educated members of these zamindar families truly tried to develop the condition of the society. Besides the establishment of schools, libraries, and dispensary halls for all sections of the society, they tried to break the rigid system of

castes in the society which had become more rigid in the Bankura district after the falling of the Malla dynasty of Bishnupur. Some of them tried to introduce inter-caste marriages in society. Some of the zamindar families also contributed a lot to developing music, paintings, literature and other types of arts and architecture of Bankura district which had been started during Malla's reign in Mallabhum centring their capital at Bishnupur of Bankura district. In freedom movements against the British raj, these zamindar families also had a lot of contributions. At last, it can be said above all the zamindar families of Bankura district controlled the administration, society, economy, culture and other aspects of Bankura district for at nineteenth and twentieth century.

History Department
Barkura University, Bankura
sarkarramyajit3@gmail.com

References:

1. Majumdar, R.C. ed.(1943) The History of South Bengal, vol-1, Hindu Period, The University of Dacca, Dacca, page 400
2. A conversation with Manohar Bandopadhyay of Bandopadhyay zamindar family of Ajodhya village, 21 June, 2021.
3. Ibid.
4. Choudhury, Rathindramohan, Sree(2000) Bankurajoner Itihas-sanskriti, Paschim Radha Itihas o Sanksriti, Bankura, page 249- 337 page
5. Ibid. page 311-321
6. Hunter, W, W(1868) Annals of Rural Bengal, Smith, Elder and co., London, page 439-446
7. Bhattacharya, Tarundev(1982) Paschimbanga Darshan-2 Bakura, Marmabani press, Calcutta, page 381-382
8. Sen, Anukulchandra(1367 B.S.) Bankura Parikrama, Book Syndicate Private Ltd., Calcutta, page 74-90
9. Chandra, Manoranjan(2002) Mallabhum Bishnupur, Mitra And Ghosh Publishers, Kolkata, page 602- 610
10. Beglar, J.D(1878) Report of a Tour through the Bengal Provinces, vol- VIII, Office of the Superintendent of Government Printing, Calcutta, 178 page
11. Bhattacharya, Tarundev(1982) Paschimbanga Darshan-2 Bakura, Marmabani press, Calcutta, page 384- 385
12. Choudhury, Rathindramohan, Sree(2000) Bankurajoner Itihas-Sanskriti, Paschim Radha o Itihas Sanskriti, Bankura, 2000, page 324-327
13. Ibid, page 324- 327
14. A Conversation with Basudev Choudhury of Choudhury zamindar family of Lokhasol village, 4 February, 2022.
15. Choudhury, Rathindramohan, Sree(2000) Bankurajoner Itihas-sanskriti, Paschim Radha Itihas o Sanksriti, Bankura, page 339
16. Bhattacharya, Tarundev(1982) Paschimbanga Darshan-2 Bakura, Marmabani press, Calcutta, page 381
17. Banerjee, Kumar, Amiya(1968) West Bengal district Gazetteers Bankura, Government of West Bengal, page 99-135
18. Choudhury, Rathindramohan, Sree(2000) Bankurajoner Itihas-sanskriti, Paschim Radha Itihas o Sanksriti, Bankura, page 252- 256
19. Ibid, page 253
20. Ibid, page 255
21. Ibid, page 256
22. Ibid, page 257
23. Ibid, page 314

24. Ibid, page 301
25. “Bakura Zela Swadhinata Sangramider Sankhipta Parichiti: Bakura Zela Swadhinata Sangrami Sangrahasala”, Gandhibichar Parishad, Bankura, page 27
26. Ibid, page 3
27. Banerjee, Kumar, Amiya(1968) West Bengal district Gazetteers Bankura, Government of West Bengal, page 429- 433
28. Choudhury, Rathindramohan, Sree(2000) Bankurajoner Itihas-sanskriti, Paschim Radha Itihas o Sanksriti, Bankura, page 438
29. Bhattacharya, Ashutosh, Dr.(1960) Banglar Loksruti, Purogami Prakasani, Kolkata
30. A Conversation with Sunil Kumar Roy, a member of Patrabakhra Roy family, 2 February, 2021
31. Choudhury, Rathindramohan Sree(2000) Bankurajoner Itihas-sanskriti, Paschim Radha Itihas o Sanksriti, Bankura, page 300-337
32. Chandra, Manoranjan(2002) Mallabhum Bishnupur, Mitra And Ghosh Publishers, Kolkata, page 321- 328
33. Ibid. page 602- 622

A Place Called Home: The Inter-subjective Belongingness Among the Bangladeshi Hindu Migrants

Vandana Kumari

Abstract:

Partition has always raised questions of identity, boundary, and civilization, transforming the geographical character of a border into a sociological reality. Against this background, this paper tries to explore the meaning and collective understanding of life beyond the border among Bangladeshi Hindu migrants living in the Siliguri town of Darjeeling district (West Bengal), India. The paper presents an ethnographic study of '*Hasna-Rona Mela*' (Festival) which takes place every year near the India-Bangladesh border. This festival tells about the life beyond the border of Bangladeshi people and is a festival which reveals the collective emotions, the anxieties surrounding the meeting of kin-groups across the physical demarcation of territorial division between the two countries.

Keywords: Sociology of Border, Collective Memory, Shared lifeworld, *Hasna-Rona Mela*

Introduction: Life along the border

In recent times, the border has become a significant field of research in social science disciplines for understanding, the idea of nation and nationalism, the dynamism of identity formation, and the subjective construction of community life in the context of transnational migration. It has been associated with research on psychological, social, and collective behaviour; cultural identity; social membership in a particular place; immigration; and an individual's political rights (in terms of citizenship), which are some of the most essential debates in the present social science discourse. The sociological literature tries to conceptualize border in many different ways, the understanding of "border" in sociological discourse attempts to capture migrants nostalgia for their country of origin as well as to explore migrants everyday anxiety through various means, such as collective memory, the memorisation of historical pasts of social and mental suffering, and the writing of poems and stories about their native land, culture, and way of life. It tries to conceptualise border beyond state imagination of *geographical boundaries* with macro political structure and emphasises on the micro level understanding of life along the border.

Thus, the sociological understanding of border accounts for the subjective meaning of geographically made border lines with human lines and their everyday perception in the

migrants' life world. Generally, the border line is drawn on paper officially, but practically, the line actually runs through various towns, villages, farmlands, forests, rivers, ponds, and people. For Bangladeshis, the Radcliff line was a destiny-altering line that had materialised in their palms overnight. There was no other option but to accept it. There is a deep meaning and pain inside people who encounter borders in their daily lives through their activities, and it is the scope of sociology of borders to explore it deeply. A border story talks about how these barbed wires have split families have turned neighbours into foreigners and people feel restrictions which are not followed by those countrymen. It's not as simple as it looks; only a migrant can feel this silently and think this is all about the story of this line. It is the borders that provide individuals with a concrete, local, and powerful experience of the state or their own homeland. It is the border which decides the identity and existence of an individual, which is truly comprised through either a migration certificate or through passport entries. So it is the border who decides an individual's citizenship, who are the victims of partition and communal riots and who are already shattered with their own loss of their motherland.

Boundary and border are not just physical borders or fencing between territories in this context, but also the harsh reality of their own country's separation. People are socially and emotionally attached to their borders. For them, that border is an ancestral land, their homeland and their '*desh*'. People are meaningfully and symbolically attached to them. Bangladeshi people consider their land to be sacred. Dipesh Chakrabarty (1996: 2144) emphasises on the sacredness of their ancestral land through a narrative where a person gets a gift from his friend, who has just arrived from his homeland ('*desh*'). He had just returned from (having spent some time in) the lap of the village in which they were both born. The question he asked as soon as they met was: "I have brought this ultimate treasure for you back from *Desh*. Can you guess what it might be?"... Eventually, he surprised us all by handing me a clod of clay. This was from the soil of my *bhite*, the 'Basu house', sacred soil from the blessing of my father and grandfather. This soil is my mother. The sacred memory of my forefathers is mixed with this soil. To me, this was not just of high value, it was invaluable. I touched this clod to my forehead. This is no ordinary dust. This clay is moist today with the blood that has been wrung out of Bengal's heart" (et al. Chakrabarty, 1996: 2145). From this narrative, it is clear that for the Bangladeshi migrants living in India, the border is integral to their daily life activities. It also reflects how just a clod of clay is so important to someone who has lost their homeland. For them, this is not just clay, but for them it's a whole of a life world. For Bangladeshi people in India, the meaning of migration is not just crossing the border and going to the other side of the border but it is a tremendous pain in their hearts. It was their *desh* which had become the capital of culture and their traditions. Involuntary and forcefully leaving their own place and settling down in another country break the soul of a human being. Regarding the painfulness of migration, Edward Said (1966) observed that, "once you leave your home, wherever you end up, you simply cannot take up life and become just another citizen of the new place" (Said, 1996,

61-62). For that you need time. *'How can you forget your own mother and overnight start calling somebody else as your mother? Thus it is but natural that the people from East Bengal would carry their 'homes' on their back.'* (Roy, 2000, et al. Ghosh, 2008)

Thus, from the perspective of a researcher, it is a difficult task to investigate and comprehend the migrant's deeply rooted emotional and psychological structures within the trinity of land-culture-society relationships. The story of migration and their subjective narration through various linguistic forms represents their actual meaning, emotion, and anxiety to which a researcher can only grasp through the use of different methodological approaches with various micro-level theoretical perspectives.

Understanding the life in other's Land

Migrant's histories exemplify multiple ways of knowing, constructing, and reproducing the past. Their geographical imaginations of their homeland shaped the daily life activity through which individuals create mental categorisation of "place", cultural representation of self and identity through various narratives, stories and poems. They adapted and reinvented their sense of belonging to the places they lived and remembered as they were displaced from their homeland. For migrants, the border reflects and represents the geographical separation from their native land, from their community, and from their kinship. For them, the border produces a symbolic meaning and inter-subjectivity of their lifeworld in the context of the historical conditions of crossing the border; the self as a cultural self in their native place; and the sense of belongingness in their geographical landscape. The Hindu Bangladeshi migrants who live in Siliguri Town and its surrounding area of Darjeeling District in West Bengal are one of the major examples of an in-migrant community in India who suffer this character of migration in their everyday life. Their lifeworld is full of memory, pain, and nostalgia associated with their kinship ties, emotional past, and the history of violence. In this sense, the border becomes an empirical fact for them, which produces everyday anxiety in relation to their separation from their "home land", narrations of the journey about the past life, collective memories and stories which reveal their nostalgia for mother land, culture and society.

In this context, a plethora of works have been done on the pain and memory of migrants from various perspectives; questions about partition; and questions about statistical data that does not address the migrant's pain. For instance, Bhalla (1994) emphasises the role of stories and narratives in respect to understanding the multiple uses of memory for the social existence of migrants in the land on the other side of the border. Urvashi Butalia (1998) has talked about the partition (history of partition). Nandi Bhatia (2008) in her work on "Narratives of Home, Displacement, and Resettlement" mentioned Bhisam Sahni's exploration of the ways in which official apathy is imposed through a method of record-keeping that has no room for human feelings and nuance. At the time of the survey in the camp, some people tried to narrate their whole painful stories regarding their suffering, separation from their kin group and other family members, and the complex journey that

they had been faced during the partition, but the record clerk stopped them and said, "We want statistics, nothing but statistics. Just try to understand. I don't want stories. I want the bare figures—how many died, how many were injured, and the extent of their financial loss (Shahni, 1988:214). The clerk was only interested in what he called "facts. In this story, when Harman Singh tried to interrupt the record clerk by trying to tell him about himself and his wife's escape, about the fate of their son and about their daughter (who jumped into the well and died), the clerk got irritated by his interruption and told him that 'my job is to accumulate only facts for newspapers'. He further said 'I couldn't maintain a record about your daughter because she is not with you now and she was in another village where she got married, so that area doesn't come under me."

Deewane Maulvi Sahib, in Joginder Paul's "Sleepwalkers" (2002), says, "The partition refugee is disoriented in the homeland that has an uncanny resemblance to the real, but can only survive in an imaginary homeland. Their stories are not the same in all the time, people have new and different realities through which we can re-read the past and can explore the root of the relationship between human beings and their history (Paul, 2007:136-139). Gyanendra Pandey (2001) criticizes the documented history, which only includes events, dates, and everything about the refugees in very statistical terms, and it ignores the pain and agony of the people. He says 'the history of any society, narratives of particular experiences of violence, go towards making the community as the subject of history, of shared experiences in the past, which serve to constitute these boundaries'. As a psychoanalyst, Jayanti Basu (2013) develops the 'psychological truth' and a psychoanalytical understanding of partition by exploring the memories of those who were dislocated from East Bengal. Veena Das (2007) has given more emphasis on time and subjectivity in relation to human pain and memory. Sociologists, cultural anthropologists and social psychologists look at it in a different way of exploring the meanings, cultural negotiations, and cultural subjectivity and intersubjectivity, i.e., looking at everyday life.

The identity discourse among Bangladeshi migrants

Partition always leaves the a questions of identity, boundary and civilization, which transforms the geographical character of border into sociological reality. In the same tune when we look at the community life of Bangladeshi migrants living in the border area of North Bengal areas in the West Bengal state, it is generally found that for this community, their everyday life world lives under the painful cloud of historical partition and undivided community emotion as Bangladeshi. This undivided community emotion beyond the geographical partition produces nostalgia among the Bangladeshi migrants towards the identity as 'Bangladeshi'. This kind of emotional existence of identity reveals through various historical recounting, ritual practices, kinship network and the marriage relationship.

People can't live without an identity because people have their own historical memories, local traditions, languages, and cultural specificities, and it is only on the basis of these identities that distinguishes one community from another. The discussion of identity in

social science discourse is centered mostly on two major themes, i.e., psycho-dynamic and sociological form. The first one is related to an individual's mind and the other is related to society. Identity is always present in the mind as an invisible concept, but it takes shape according to society and the socialization process, which forms the core identity as "real me." Whenever there is a context related to psychological analysis, it's important to discuss Freudian (1923) analysis, which basically focuses on the inner core of psychic structure for the development of individual identity in the form of individual personality. The psycho-historian Erick Erickson (1959) saw identity as a process "located" in the core of an individual, and there is a strong connection between a community and an individual.

During the fieldwork in the Darjeeling district of West Bengal from 2015 to 2018, so many sociologically meaningful facts have been explored by talking to many old migrant people who spent their half part of their lives in Bangladesh. There is a lot of folklore, public history, stories, and many life memories in their hearts. They always keep talking about their memories of their struggle for existence during the times of communal riots, the liberation war and partition. They called themselves original Bengali and used the term "*baangal*" to represent themselves as their own cultural self, which is different from "ghoti". "Ghoti" is the term used for those people who have no connection with Bangladesh. Their origin is in West Bengal itself. The *Baangals* are enjoying their political identity as citizens of India, but for them, they are lacking their cultural identity. Some migrants said that, even in the matrimonial sites and the advertisements in the local Bengali newspaper (even in the national newspaper), they used to mention "wanted bride or groom from *Baangal*," which is one of the most important everyday practices of community categorisation and social differentiation maintained by the Bangladeshi migrant community living in various parts of West Bengal.

They differentiate themselves from other Bengali people through different socio-cultural as well as linguistic practices. They use the Bangladeshi dialect as one of their primary means of communication among their community. The linguistics or the dialects they use also reflect their identity as Bangladeshi, which is different from other mainstream Bengali-speaking people. Aside from that, there is a concept of "*desher lok*" (people from their native place), which reflects the cultural and geographical categorization of *Baangal* and Ghoti and produces the Bangladeshi identity discourse. In the same village or the other, they feel united and attached when they find someone from their own desh or country, and they call it "*amader desher lok*" (people from our country, i.e., Bangladesh).

On the one hand, "*desher lok*" in a broader sense reflects society as a whole, as a nation, i.e., a reflection of nationhood as a sense of homo-psycho-logicus, feeling of togetherness (Nandy, 2001). On the other hand, their identity is also reflected through their own native district of Bangladesh, and the people who belong to the same districts are likely to be more closely connected through marriage and family relationships. In this sense, the migrants from the same district of Bangladesh are like their own kin group. It is found that there are two major categories of identity formation and everyday forms of social categorization and social differentiation exist among the Bangladeshi migrant population's lives in West

Bengal. Firstly, the term "*desher lok*" identifies the whole population of migrants living in West Bengal as '*baangal*' which makes socio-cultural differentiation from the original population of West Bengal as '*ghoti*'. Secondly, there was also a social categorization that existed among the *baangal* (Bangladeshi migrants) in relation to the geographical variability within Bangladesh (their native country). In other words, this second kind of internal identity formation among the migrant community from Bangladesh is based on the area or district from where they migrated. The first preference in the selection of a spouse for marriage among the migrants is based on the local regional variation in Bangladesh. Aside from these two categories, Bangladeshi migrants carry a variety of identities in the specific context based on occupational activities and caste. For example, in Malda, they called themselves *Maldoiya*s (those people who basically practice shifting cultivation on chars). On this background, the everyday life and the identity formation of Bangladeshi migrants are largely shaped through their "stock of knowledge" in relation to the historical truth of partition, the community experience of migration, and the painful story of separation from their homeland, from their primary kin groups, and from the life-world of their childhood memory. This kind of 'stock of knowledge' among the migrants in West Bengal is presented through storytelling, folk lore, marriage rituals, festivals, occupational behaviour, and community narratives. This collective presence of "knowledge stock" not only generates processes of "inter-subjectivity" among the Bangladeshi migrant community, but it also generates social categorization and social differentiation of this migrant community from the original West Bengal population.

Understanding the domains of human pain and memory

When the word "border" enters the minds of Bangladeshi migrants, it always brings back painful memories of their human life. What happened to people in the midst of all the joy? Their joys were replaced by sorrow, and their own nation (their own cultural community) became stranger to them, and then crossing the border and looking back to the border brings back many memories; a mixture of pain and happiness. The *mela* (festival) near the border of West Bengal tells the inside story of the history of migration; the feelings, the emotions, the pain and anguish, the trauma, the sense of loss and the silence in which all human beings who have suffered and reconstructed their lifeworld on the other side of the border.

Hasher-kanna mela (border festival/Milan mela)

A *mela* that takes place once a year in the month of April (*pohela boishakh* or Bengali New Year) at Chawalhati, Rajganj, and Balurghat is near the border area, which is near Siliguri town in West Bengal. This *mela* (festival) is popularly known as the "*Hasna-rona mela/Milan mela/border mela*". This '*Hansna Rona*' *mela* has a very significant social practice for the Bangladeshi migrants living in India. *Hansna* means to laugh or feel happy when someone meets with their loved one or member of their kin-group, and *rona* means when someone gets separated from their loved one or member of their kin-group.

The ethnographic approach is used to understand this festival of happiness-sorrow fair

(*Hasna-Rona Mela*) to explore the sociological meaning of life beyond the border. This *Hasna-Rona Mela* is a socio-cultural practice among the Bangladeshi migrants lives in Siliguri and other parts of the West Bengal border area of India that takes place once a year. This festival reveals the character of anxiety to meet their kin group lives on the other side of the border; the exchange of money and other forms of materials, which characterizes their collective living beyond the geographical division; and the sharing of a collective past, which reflects their everyday pain of living without their primary kin.

This *mela* itself is a nostalgic flashback of the past. Their visualization of this flashback is the form of a reconstruction. This *mela* is the reflection of bitter and sweet memories of the past, which takes place once a year in the Bengali New Year. This day comes with new hopes when migrants from West Bengal happily go to the border to meet their relatives, who didn't or couldn't cross the border in the different historical circumstances and decided to remain there in their own motherland.

The people from the two sides of the border have much in common. They speak the same language, look similar and share the same dreams. At the time of *Mela*, the people from both sides assemble near the border to share their joys and sorrows. This *mela* acts as the "melting of geographical boundaries" through shared knowledge and inter-subjective personalities. The migrant people eagerly wait for this *mela* every year. Those relatives who are staying in Bangladesh come to meet their own people in this *mela*. People on this side of the border send goods such as dresses, sweets, and some eatable items to relatives on the other side of the border, and vice versa. Many of them are somebody's sister, mother, father, and other relatives who migrated again to their native land of Bangladesh.

They didn't want to stay in India because they had a strong feeling for Bangladesh, their own homeland, and their emotional sentiment forced them to migrate again to Bangladesh. They had a feeling that 'one day we'll die, and then why not that death will come in my own land and on my own *mitti* (soil)'. But one thing that has always been there in their hearts is the safety and security of their kin groups. They wait for a whole year with a lot of enthusiasm and anxiety to meet their own people. Through an ethnographic study of this *mela*, it was found that the meaning of people's actions, their emotions for their relatives and the cultural imagination of their homeland are deeply rooted in the community psychology of the Bangladeshi migrants living in West Bengal. The sociological interpretation of this *mela* reveals the ambiguity of meaning, which can only be explored through people's perceptions and their experiences, which they have been carrying with them for many years. This *mela* makes us understand how people are encountering their past memories in the present context in relation to the border.

This *Hasna-rona mela* or *Milan mela*, was started nearly seven years ago. It is a question about 'why this *mela* conducted earlier? And in what context has the government started this *mela* with the name of *hansna rona mela* from past few years? There is a history behind this *mela*, which was explored through informal interviews with migrants settled around the

border area, local panchayat members, BSF soldiers and other local government officials. Before the construction of the wire-bound border, people used to meet their relatives by crossing the border easily (especially at night), but when the border has been constructed, everything becomes bureaucratic and official. Since then, the border has become another harsh reality for Bangladeshi migrants, who have already been facing the problem of separation from their homeland. Earlier, there was no fixed date for a meeting by the people of both sides of the border. People used to meet and talk while they worked in their respective agricultural fields, which came under the zero line (also known as no man's land). They used to exchange clothes and some edible things. They used to talk about their everyday household activities, daily life incidents, and problems. But, suddenly, one day, a serious conflict took place between local Bangladeshi migrants with a political man and his group from the native Bengali-speaking community. These politically powerful people wanted to stop communication and meetings of migrants with their relatives living on the other side of the border. The local migrants became violent, which led to a serious fight in which many people got injured and some even died. The West Bengal government intervened in this incident and made a solution that the migrant community could meet their relatives from the other side of the border once a year at the zero line. The date of the meeting was decided on *pohela boishakh* (14th April) of every year by the West Bengal government. Since then, the meeting has taken on the form of *mela*, complete with structured official rules and regulations.

This *mela* has a sociological meaning. For some people, those who are not connected to the borderland have nothing to do with it. For them, it is just like a normal festival, and the border seems like just a physical border that is constructed from various wires, and there is a gate that is always locked and high security forces always stand with their guns. Those who are linked to the borderland through cross-border migration they see the border as a symbolic border with which they always connect their daily lives. A lot of sociological realities are attached to this *Milan mela*. People bring their new born babies to show their relatives on the other side of the border, and that relative may be the grandmother or grandfather of that new born baby. Those relatives can't touch the baby, but they can click a photo of the baby for a memory. They get emotional seeing them. Some bring their newly wed daughter and her husband to show them so that they can give blessings to the couple.

Some migrants, those who don't have any relatives or any other known people on the other side of the border, also come to this *mela* and to see the people of Bangladesh. On both sides of the border, relatives come with goods and exchange with them. They exchange the goods not for economic purposes but for a symbolical feeling of attachment and the everyday feeling of presence in the absence of these relatives in their present life. The second sociological characteristic of this *mela* is that there is a mix of both Hindu and Muslim populations. Those Muslims who migrated to India in 1960 and settled here also come to see their relative staying in Bangladesh.

For the migrants, the *mela* is a harbinger of happiness for them. According to a migrant:

"Everybody has a mobile phone, and we talk to our relatives who stay in Bangladesh. We are always in touch with them, but then we also just wait for this border *mela*, which brings us more closely with our kin groups and other relatives' lives on the other side".

In many villages near the border area where the study was conducted, it was found that most people come to this festival to meet their relatives and beloved ones. Through the informal conversation with the migrants, it came to notice that this festival is not only a gathering of people but also has an inherent meaning of emotion, sentiments, and life with lived history and memory.

Rajan Bahrua (a Bangladeshi migrant) said:

"We have been coming to this *mela* for the last four years with all my family members. My maternal uncle is staying in Bangladesh, and we are very attached to him. He cared for me after the death of my parents. I will bring my family here to *Mela* because, if I die, my wife and daughter can come here and get connected with him. I always told my daughter that our relatives who are in Bangladesh now are everything to us. Don't forget them.

From this narration, one can analyze the socio-cultural role that the *mela* plays for the Bangladeshi migrants in making their history alive and continuing the kinship relationship beyond the geographical boundary. This *border mela* call many people from different places. This is not only a border, but it is an imagined community and nostalgia for collective social life.

Bimal Burman, living in the village of Narayanpalli (near Phulbari Borderland), informed:

The *hansana Rona mela* is not like the other *mela*. It represents the symbolic meaning of the geographical landscape near the border, which is called the "zero line," where people come to meet their own people and exchange their gifts and money. In the *mela*, relatives from Bangladesh present the *hilsa fish* (a type of fish that is also a culturally and socially significant symbol of the geographical and cultural identity of the Bangladeshi community). Every year, I and my wife used to come to this *mela* to meet my relatives who live on the other side. My mother and younger brother's family stay in Bangladesh, and almost every year they used to meet my family in this border *mela*. Sometimes I feel like crying when I look at the border and the crowd that gathered at the zero line, which always reminds me of the days of partition and the trauma that we all migrants had suffered".

The *mela* reminds them of past memories, which they encountered primarily among the migrant population living near the borderland. Looking toward the border always brings back memories, both sweet and bitter. Bimal Burman said:

Whenever I meet with my mother (who stays in Bangladesh) in this *mela*, I become silent and I can't understand at that moment how to talk to her, how to show my feelings to her and how to hug her. I feel helpless, because the border doesn't allow us to meet physically, we can only share our happiness and problems through talking and exchanging

goods.

Leelawati Sarkar, another female migrant from Chawalhati village near Jalpaiguri district of West Bengal, was in deep pain and in a depressed mood when she was returning home from the *mela*. She narrated:

"I come to this *mela* every year to meet my family members, but this year on today, I went to the *mela* early in the morning when the *mela* starts. I talked over the phone with whom I was going to meet and fixed a place of meeting, but due to the over crowd, I couldn't meet". She started crying. After awhile, she tried to make herself normal and continued... The whole year I was waiting to meet my family members, especially my son and elder daughter. I brought so many things and goods to give them, but I failed to search for them". She was overcome with sadness as she returned with all of the items she had brought for them. Her failure to meet with her son and daughter made her pessimistic about life. This was revealed by her psychological condition when she said:

"From now onwards, she won't come to this *mela* and will never visit this place again. We don't have a passport, so we can't even go to Bangladesh to meet our own family members. For this, we come to this border *mela*, which connects us with our children living in Bangladesh. But we are unfortunate to have met them and we will never come again".

While she was narrating, her mobile phone rang, and it was her elder daughter's call, to whom she went to meet in *Mela*, but she disconnected the call. She was suffering from both pain and anger at the same time, and was afraid of losing all hope of meeting her son and daughter again. After awhile, she became silent. This narration from a lady migrant clarifies the pain, everyday suffering, and nostalgic lifeworld of Bangladeshi migrants in West Bengal. There are various stories and different experiences of people who suffered a lot in the time of partition, but at present, they are happily living in the place near the border and sharing their past memoirs. As Nietzsche says, while in the world of animals, genetic programmes guarantee the survival of the species, in humans we must find a means by which to maintain our nature consistently through generations. And the solution to this problem is offered by cultural memory, which is collective for all knowledge that directs human action and experience in the interactive framework of society (Assmann 1995: 126).

In relation to the *mela*, one respondent named Tapan Rai said that he always comes to this *mela*, particularly to meet people and buy *hilsa fish*. He added that some people from the other side of the border come to this *mela* with *hilsa fish* to sell at a very low price for their own people who are at present living in West Bengal. This fish is very expensive and it costs about 1000–1500 rupees per kg, but some sellers from Bangladesh come with this fish especially to give it at a low price, which starts at rupees 150 depending on the size of the fish. Sellers feel very merriment and for them it's really a happy hour. They say that although we are poor, we want to contribute something to our people in a different way. They give this fish to their relatives at no cost and sell it to other people at a very low cost. They know that many people just wait for this *mela* to buy '*hilsa*' which is only found in

the Padma river of Bangladesh. *Hilsa fish* has also many varieties which are also found in other sea areas like the Bay of Bengal and some parts of Orissa, but the real authentic fish are found in the Padma river of Bangladesh. '*Hilsa*' fish is not only a fish; it is a symbolic identity of the Bangladeshi community. It is an integral part of the Bangladeshi culture and makes the everyday social categorisation of *baangal* (Bangladeshi) and *ghoti* (Bengali). Regarding this *mela*, even in the local Bengali news paper and Hindi news paper, there is a special focus on the '*hilsa*' fish which means to symbolize the reflection of culture of two Bengal. Secondly, it's very important because of the *mela* conducted on the day of Bengali New Year, and it's believed that the Bengali used to make many dishes of variety of fish, in which *hilsa* is very important, especially on an auspicious day like Bengali New Year.

Conclusion

The intensive study was done in the villages near the borderland in the Darjeeling district of West Bengal, such as Phulbari, Sheeshabari, Haldibadi, Narayanpalli, and Pelkujoth, which constituted the majority population of Bangladeshi migrants. In each and every household in these villages, there are some members who are still staying in Bangladesh. In this sense, almost all families from these villages used to go to the *border mela* to meet their relatives who live on the other side of the border. During the *mela*, families in these villages experience intense anxiety about meeting their relatives in person. The *Hasna-rona mela*, or the *Milan mela*, every year fulfils their anxiety to see their relatives and their nostalgia for their homeland and past memories. The *mela* became their life for existence, and it's a hope for them that brings happiness and attaches meaning to their social existence. *Hasna-rona mela* is a feeling of togetherness with happiness and sorrow, and a way of meeting ground among the relative lives on both sides of the border. *Hasna-rona mela* became part of the lifeworld of Bangladeshi migrants and it is a bridge connecting the past with the present, connecting the individual self with the collective self beyond the border and the feeling of homeland in another's land.

The detailed ethnographic study of Hasher-Kanna *mela* at the border land near Siliguri town in West Bengal reveals many narratives: anxiety and nostalgia, the painful memory of partition and *Hilsa* as a symbol of community identity, a symbolic meaning of the historicity of the imagined homeland, and the cultural self among the Bangladeshi migrants' lives in West Bengal. Sudhir Kakar (1978) rightly viewed, "culture certainly plays an influential role in the development and functioning of the individual psyche". On the other hand, Durkheim (1985) emphasizes collective memory through the understanding of the need for historical continuity. He believes that every society displays and requires a sense of continuity with the past and that the past confers identity on individuals and groups, allowing them to see collective memory, which is one of the elementary forms of social life. Although people migrate from one place to another, they are always in search of a reconstruction of home in terms of culture, habits, social practices, and food habits to maintain their own roots, which makes them a communitarian societal self makes them a communitarian societal self.



(Balloon: the symbol of meeting beyond border)

This picture show, this way the border/ *Milan mela* takes place every year. People are waiting for their relatives from both side of border. Those who already found their relatives are talking to each other and exchanging good. This *mela* is very unique and painful.(Source: During the field work) (Source: *During the field work, 2017-18*)

P.G. Department of Sociology
Magadh University, Bodh Gaya (Bihar)
vandana.sociology@gmail.com

References:

1. Pandey, G.2001. Remembering partition: violence, nationalism and history in India, Cambridge: Cambridge University press.
2. Hein, J. 1993. Refugees, immigrants and the state. '*Annual review of sociology*'. Vol. 19, pp. 43-59.
3. Mukherjee, R.1972. Social background of Bangladesh. *Economic and political weekly*. Vol.7, no. 5/7 pp.265-267+ 269-271+273- 274.
4. Chatterjee, D. 1996. Remembered village representation of Hindu- Bengali memories in the aftermath of the partition. *Economic and Political weekly*, vol. 31, no. 32, pp. 2143-2145+ 2147-2151.
5. Pandey, G. 1994. "The prose of others" in Arnold. D and Hardiman. D (ed.), *Subaltern Studies*, pp, 188-221. OUP: Delhi
6. Butalia, U. 1998. The other side of silence: voices from the partition of India. New Delhi: Penguin Books.
7. "Memories of partition" 1994, seminar, vol. 420
8. Guha, B.H. 1959. Studies in social tension among the refugees from East Pakistan. Delhi: Department of anthropology, Government of India.
9. Chakrabarti, P. 1990. The marginal men. KalyaniLumiere Books.
10. Chatterjee, N. 1994. The east Bengal refugees: A lesion in chaudhuriSukanta (ed.), Calcutta: The giving city, OUP.
11. Chatterji, J.1999. The fashioning of a frontier: the Radcliff line and the Bengal's border landscape. *Modern Asian Studies*, vol. 33, no. 1. pp. 185-242.
12. Samaddar, R. 1997. Reflections on partition in the east Delhi (ed). Vikesh.
13. Samaddar, R. 1999. The marginal nation: transborder migration from Bangladesh to west Bengal. New Delhi: Sage publication.
14. Samaddar, R. 2006. Refugees and the state: practices of Asylum and care in India, 1947-2000 (ed), New

- Delhi: Sage publication.
15. Geertz, Clifford. "Religion as a Cultural System," in *Anthropological Approaches to the Study of Religion*, ed. Michael Barton. London: Tavistock, 1973, pp.1-46.
 16. Anderson, B. (1983) *Imagined communities*, London: Verso
 17. Ahmed, Sara. 1999. "Home and away: narratives of migration and estrangement". *International journey of cultural studies* 2(3):329-347.
 18. Bhalla, Alok. 2006. *Partition dialogues: memories of a lost home*. Oxford: oxford university press.
 19. Bhalla, Alok. 1999. "Memory, history and fictional representations of the partition". *Economic and political weekly* 34 (44), 3119-3129.
 20. Bose, Pradip. 2000. "Refugees in west Bengal: institutional practices and contested identities", *Calcutta: Calcutta research group*.
 21. Berger, peter. 1973. *The homeless mind*. New York: London house.
 22. Butalia, Urvashi. 1998. *The Other Side of Silence: Voices from the Partition of India*. Penguin books India..
 23. Basu, Dakshina R. ed. 1975. *Chhere Asha Gram*. Calcutta: Jijnasa
 24. Basu, Jayanti. 2015. Psychoanalysis of partition violence. vol 50(24), june 13.
 25. Chatterjee, Joya. 2007. *The soils of partition, Bengal and India, 1947-1967*. Cambridge: Cambridge university press.
 26. Chakrabarty, Dipesh. 1995. "Remembered Villages: Representations of Hindu-Bengali Memories in the aftermath of the partition". *South Asia* XVIII: 109-129.

New Vistas of Cinema: Breaking Social Stereotypes of Gender

Saloni Sharma¹, Vivek Jaiswal²

Abstract:

The evolution of Indian cinema reflects the socio-cultural transformations of the nation, particularly concerning gender and sexuality. This article explores the impact of the abolition of Section 377 of the Indian Penal Code, a pivotal 2018 legal reform decriminalizing homosexuality, on the narratives within Indian cinema. Historically, Indian films mirrored societal gender stereotypes, perpetuating inequities and marginalizing non-heteronormative identities. Gender portrayals adhered to rigid archetypes-women as secondary and dependent, men as hypermasculine saviors, and the LGBTQ+ community as deviant or comedic. These depictions reinforced cultural biases and excluded authentic representations of diverse identities.

The decriminalization of homosexuality has instigated gradual shifts in cinematic narratives. While mainstream cinema remains cautious, online streaming platforms (OTT) have emerged as catalysts for progressive storytelling. Films now more frequently challenge entrenched stereotypes, presenting nuanced portrayals of gender and sexual orientation. Simultaneously, depictions of male characters are undergoing transformation, moving away from the hypermasculine ideal toward more relatable and emotionally complex portrayals. Additionally, narratives addressing body diversity and unconventional romantic relationships emphasize inclusivity and self-acceptance.

This article argues that cinema, as a potent cultural medium, wields transformative power, influencing public perception and fostering social progress. The repeal of Section 377 has emboldened filmmakers to challenge taboos and advocate for equality, albeit more prominently on digital platforms than in mainstream cinema. While challenges persist, contemporary Indian cinema is evolving as a site for dialogue, reflection, and advocacy for marginalized identities. Through its blend of entertainment and social commentary, cinema continues to shape and mirror the aspirations of an increasingly progressive society, promoting tolerance and acceptance.

Keywords: Gender Portrayal, Homosexuality Decriminalization, Indian Cinema Narratives, Cinematic Evolution, Socio-Cultural Evolution Through Cinema

Introduction

Cinema has long been a mirror of society, reflecting cultural values, norms, and prejudices. In India, films have played a pivotal role in shaping public consciousness, from reinforcing stereotypes to challenging them. Historically, the portrayal of gender in Indian

cinema was dominated by archetypal characters and perpetuating patriarchy. Cinema offers a feeling of relaxation to the stressed human brain and this feeling slowly makes an active brain passive. Media effect is the maximum when the audience's reception to a message is in passive mode¹. Thus, cinema is one of the most influential media to introduce cognitive changes in human perception. It's almost a decade since Indian audiences were introduced to cinema. Since then, it has become an inseparable part of the Indian social structure. It reflected different social system, their evils and a reflection of ideal social behaviour². Cinema in its medieval era imbibed stereotyping of genders as a general social behaviour. Which strengthened the social evils. Parallel Cinema came as a saviour to these deteriorating standards. The new generation of cinema is breaking all stereotypical standards and promoting harmony, tolerance and acceptance of different genders and sexualities.

Theoretical Framework and Contextual Foundations

The relationship between Indian cinema and societal transformation highlights the significance of this study, particularly in the context of shifting narratives on gender and sexuality following the decriminalization of homosexuality under Section 377 of the Indian Penal Code. *Judith Butler's Gender Trouble: Feminism and the Subversion of Identity* (1990)³ provides the theoretical foundation for this research by addressing the performative nature of gender. Butler's assertion that gender is a socially constructed performance, rather than an innate biological reality, is directly applicable to the evolution of gender portrayals in Indian cinema. This framework facilitates an analysis of the transition from rigid archetypes to more dynamic and inclusive depictions, serving as a critical lens for this inquiry.

Anirban Ghosh's *Queer Cinema in India: A Reader* (2019)⁴ offers a thorough analysis of queer representation in Indian cinema, tracing its trajectory before and after the repeal of Section 377. Ghosh documents the challenges faced by filmmakers during the period of legal repression and the subsequent progression toward more authentic representation. His work contextualizes the intersection of legal frameworks and cultural narratives, which is crucial for understanding the transformative impact of decriminalization on cinematic storytelling.

Dasgupta and Gokulsing's *Masculinity and Its Challenges in India: Essays on Changing Perceptions* (2013)⁵ provides a comprehensive examination of the evolution of masculinity in Indian culture and cinema. Their exploration of the shift from hypermasculine ideals to multifaceted male characters offers essential insights into the redefinition of gender norms post-2018. This analysis is reinforced by Srivastava's (2018) article, "The Queer Aesthetic: Gender, Sexuality, and Bollywood⁶," which examines Bollywood's incorporation of LGBTQ+ themes over time, highlighting the interplay between societal attitudes and narrative strategies.

Madhavi Mehta's *Bollywood and Globalization: Indian Popular Cinema, Nation, and Diaspora* (2002)⁷ broadens the scope of this study by addressing how Indian cinema reflects and influences global and local identities. Her work underscores the role of cultural exchange in shaping inclusive narratives, offering a contextual backdrop for analyzing gender and

queer representation within a globalized framework. Kohli and Sridhar's (2020) study, "Digital Freedom: OTT Platforms and the LGBTQ+ Narrative in Indian Media⁸," further elucidates the role of streaming platforms in enabling the production of progressive and inclusive content, free from the constraints of traditional censorship.

Bhattacharjee's (2019) article, "Gender Portrayals and Subversion in Contemporary Indian Films⁹," focuses on how filmmakers challenge traditional gender norms and stereotypes. This perspective is instrumental in identifying the narrative strategies employed in contemporary cinema to resist cultural conservatism. Niranjana's *Mobilizing India: Women, Music, and Migration Between India and Trinidad* (2006)¹⁰ adds depth to this analysis by examining the intersections of gender, identity, and cultural representation. Her work sheds light on the evolving portrayal of women in Indian cinema, emphasizing their transition from marginalization to agency.

Rao's (2007) article, "The Globalization of Bollywood: An Ethnography of Non-elite Audiences in India¹¹," provides critical insights into the reception of gendered and queer narratives by diverse audiences. His ethnographic approach highlights how cultural and social contexts shape the interpretation of cinematic themes, an aspect that is integral to this study. Finally, Dutta and Roy's (2014) article, "Decolonizing Transgender in India: Some Reflections¹²," critiques the cinematic representation of transgender identities in India. Their analysis informs this research by identifying persistent stereotypes and assessing progress in the wake of Section 377's abolition.

Section 377 of the Indian Penal

Section 377 of the Indian Penal Code 1860¹³ speaks of an unnatural offence which prohibits carnal intercourse against the order of nature. The section was homophobic as it considered consensual sex within the same gender a penal offence. In India, the laws against sexual orientation went through many amendments before complete decriminalization. In the remarkable judgement in 2018 by the bench of five Supreme Court judges headed by CJI Deepak Mishra in *Navtej Singh Johar vs. Union of India* (2018)¹⁴, the bench considered sexual preference as an individual's understanding of personal choice and personal freedom. It upheld articles 14, 15, 19, and 21 of the Indian constitution and decriminalised homosexuality¹⁵. The decision empowered a small section of the Indian population who lived a life of sexual minorities for years. They survived under constant fear of going behind bars for choosing themselves, their preferences, and their individuality. There are still 69 countries across the world where homosexuality is a crime liable to punishment (*Homosexuality: The Countries Where It Is Illegal to Be Gay*, 2023)¹⁶. The abolition of Section 377 allowed emotional freedom to the LGBT members of society.

Apart from forcing certain individuals into sexual minorities, Section 377 is also responsible for restricting cinema's artistic freedom in India. Following the norms of this respective section, the board of film censorship needed to ban movies based on sexual preferences and sensitization. Even the cuts and edits in the shots were introduced in the

certified movies, which have something to say about homosexuality. The directors of the Indian New Wave Cinema Movement made efforts to give an artistic perspective to this taboo but failed¹⁷. Apart from this, each gender suffered a different type of stereotyping from the advent of Indian cinema. From the release very first Indian film *Raja Harishchandra*, stereotyping became a necessary component of Indian cinema. Although these portrayals weren't intentionally done to satisfy some kind of hidden agenda. Rather it came out as a reflection of societal image to satisfy the audience's demand. This is the very reason Parallel Cinema often fails at the box office. Usually, the audience seeks entertainment which was not offered to them by Parallel cinema produced then.

Transitioning from IPC to Bhartiya Nyay Sanhita: A Justification

The abolition of Section 377 of the Indian Penal Code (IPC) in 2018 was a landmark decision in Indian jurisprudence, decriminalizing homosexuality and paving the way for progressive narratives in Indian cinema. However, with the IPC being replaced by the *Bhartiya Nyay Sanhita* (BNS)¹⁸, questions about the continued relevance of studying the cinematic and social impact of Section 377's abolition are both valid and essential. While the BNS does not include a direct equivalent of Section 377, it reflects a broader modernization of Indian legal frameworks, emphasizing individual dignity, anti-discrimination measures, and the protection of marginalized communities.

This study remains pertinent in the present scenario for several reasons. First, the legacy of Section 377 and its historical role in shaping societal attitudes toward LGBTQ+ identities continues to inform contemporary cultural and cinematic narratives. The deeply entrenched biases it perpetuated still influence how gender and sexuality are perceived and represented. Despite the progressive stance of the BNS, many of the cultural and societal questions raised by Section 377 remain unresolved. For instance, the inclusion of LGBTQ+ themes in mainstream cinema still faces resistance, and authentic portrayals are often relegated to niche or digital platforms.

Second, the transition from IPC to BNS does not erase the cultural scars left by Section 377 or its impact on artistic freedom. Indian cinema, as a reflection of societal values, still grapples with the challenge of dismantling stereotypes that were historically reinforced by the restrictive legal and cultural climate. The evolving legal framework provides a context for assessing whether these changes translate into genuine cultural acceptance and representation in mainstream narratives.

Lastly, this study holds its ground by addressing the broader cultural shift facilitated by the decriminalization of homosexuality, while also interrogating the extent to which these legal reforms translate into societal transformation. By drawing on the legacy of Section 377 and contextualizing it within the framework of the BNS, the research underscores the continuity of struggles faced by marginalized communities in achieving representation and equality. It also highlights the pivotal role of cinema as both a mirror and a catalyst of change, especially in addressing lingering societal prejudices. The study remains relevant

and timely, contributing to the ongoing discourse on inclusivity and representation in Indian cinema.

Research Methodology

This study employs qualitative content analysis to evaluate films released before and after the decriminalization of Section 377. The methodology includes:

1. **Selection Criteria:** Films addressing LGBTQ+ themes, gender stereotypes, or significant shifts in representation.
2. **Comparative Analysis:** Examining portrayals of gender and sexuality across eras in Indian cinema.
3. **Contextual Framework:** Considering socio-political and cultural influences on cinematic narratives.
4. **Digital Platforms:** Evaluating the role of OTT (Over-The-Top) platforms in promoting inclusive storytelling.

Research Questions

1. How has the abolition of Section 377 influenced gender and sexuality narratives in Indian cinema?
2. In what ways do digital platforms contribute to reshaping these narratives?
3. How do contemporary films challenge traditional gender stereotypes?

Research Area

The research focuses on Indian cinema, encompassing mainstream, parallel, and digital platforms. It considers films across diverse genres and periods, highlighting shifts in representation before and after Section 377's decriminalization. The study emphasizes the cultural and legal context shaping these narratives.

Content Analysis

The portrayal of the third gender in the films was mostly in negative roles, such as sex workers, human traffickers, beggars on the street, and criminals. Fair representation of the third gender in mainstream cinema is often overlooked. Portrayal of Transgender characters as observed in Indian films released in the past few years characterize more male-to-female transgender characters than female-to-male transgender characters. However, before abolition of the Section 377 barely any film portrayed transgender by choice of Indian cinema. Awful representations of the Transgender community can be found in films such as Sangharsh (1999, directed by Tanuja Chandra) and Murder 2 (2011, directed by Mohit Suri). No objections on certification were raised because the portrayal satisfies the stereotypical image of the Transgender community. A film like Gulabi Ayina (2003, Shridhar Rangayan), which attempted to represent the sexual desires, needs, and emotions of homosexuals and

Trans-women, was banned for vulgarity and obscenity.

A few attempts were made by certain Indian film directors to sensitise society against homophobic nature but they were unsuccessful. They failed to make off with the Film Censorship Board of India. Films based on homosexuality were banned based on vulgarity, obscenity, disrupting socio-cultural etc., and the very obvious reason was prohibition under section 377 of the Indian Penal Code. Films such as *Fire* (1996, directed by Deepa Mehta, starring Shabana Azmi and Nandita Das) which portrays the lives of two housewives who eventually fall in love were internationally acclaimed but failed to get certification in India. *Parched* (2015, directed by Leena Yadav, starring Radhika Apte, Tannishtha Chatterjee, and Suvreen Chawla) suffers protest for explicitly showcasing a woman being bold and choosing her sexual desires. *Bombay* (1996, a short film directed by Riyad Vinci Wadia and Jangu Sethnat with Kaushal Punjabi and Rahul Bose) was banned for being a homosexual film based on gay love. Every bold and just attempt of Indian cinema to portray homosexuality had to suffer the rage of stereotypical society. Therefore, in later events shallow and comic portrayals of gays and lesbians could be seen in movies such as *Partner* (2007). The image of homosexuals was tainted by humour.

Most of the female lead characters in early and medieval cinema were portrayed secondary to the male lead characters. They represent women's weak and delicate personalities, who are always in need of assistance, support, and salvation (Bassi, 2018)¹⁹. There are examples of strong female characters in epic cinema such as *Mother India* (1957, directed by Mehboob Khan and starring Nargis), medieval cinema such as *Fiza* (2000, directed by Khalid Mohamed and starring Karishma Kapoor), and modern cinema such as *Kahani* (2012, directed by Sujoy Josh and starring Vidhya Balan). Still, they are few and do not represent the actual female population. Many films could have worked well on the silver screen even when the female lead role was excluded from the script. This is because female roles have little to do with the storyline of the film. They were added as a kind of complimentary glamour and to give a not-so-compulsory romantic angle, because the actual story is often about the rivalry between the hero and the villain. Examples of films with stereotypical representations of female characters are too numerous to be mentioned. Films like *Lipstick Under My Burkha* (2016, directed by Alankrita Shrivastava) and *Water* (2005, directed by Deepa Mehta) are banned in India. *Water* (2005) was based on the sensitive issue of widow remarriage in the 1990s. Just for being cinematographed in the holy city of Varanasi, it drew criticism for offending the feelings of Hindu radicals. *Lipstick Under My Burkha* (2016) was bold enough to speak of women's sexual desires and craving for intellectual and emotional freedom. The film was banned because it was considered obscene and would likely disturb social morality. It received praise from all across the world for accurately portraying reality and extensively connecting with ordinary women.

The male lead actors were often portrayed as heroes, saviours of lives, emotionally strong, physically built tough, idealistic, etc. Take examples from Indian epic cinema such as *Mughal-e-Azam* (1960, starring Prithviraj Kapoor and directed by K. Asif) to medieval

cinema such as *Himmatwala* (1983, directed by K. Raghavendra Rao with Jitendra in the lead role), *Sholey* (1975, starring Dharmendra and Amitabh Bachchan and directed by Ramesh Sippy), and modern Indian cinema such as *Dabang* (2010, with Abhinay Kashyap and Salman Khan in the lead role), the above-mentioned portrayal founds to be justified. Most Indian films portray male characters as larger than life and far away from reality. The real representation of a common man struggling with day-to-day life is seldom found. If so, it is evident in only a few films like *Madari* (2016, directed by Nishikant Kamat with Irfan Khan in the lead role). Not only female characters were and are stereotyped, but male characters as well.

Even four years after Section 377 was decriminalized, the mainstream box office has yet to take a strong stance on gender and sexual orientation representation. "Over The Top", commonly known as "OTT", gave voice to such representation in India. OTT platforms provide cinema streaming over the internet. Individuals can get access to the content available on the respective platform with a subscription. There are many OTT platforms, among which Netflix, Amazon Prime, Disney+, Hotstar, Zee5, Voot, MXPlayer, etc. are prominent players. The COVID-19 period saw a rise in various OTT services. According to the data in the report prepared by MICA's Centre for Media and Entertainment Studies (CMES), Ahmadabad shows that there were 5677 million digital connections in March 2020 in India compared to 3435 million in March 2019. It also estimated an increase of smartphone users to 925 million by 2023 in India. Following the United States, which watched 8.55 hours of video each week, India ranked second. By 2023, more OTT viewers are anticipated in India than the 350 million users already using it. The projected increase in customers is close to 500 million. The report is evidence of the involvement of OTT in Indian lives. As a result, it has the potential to change Indian society's stereotypical perspective on sensitive issues such as gender representation and sexual orientation²⁰. Over The Top (OTT) platforms were previously uninteresting towards stereotypical social groups as it was just an evolving digital platform. Recently, with the growing popularity of online streaming, respective platforms were asked by the Indian government to impose self-regulatory restrictions to control the spread of obscenity and vulgarity in society. Information Technology (Intermediary Guidelines and Digital Media Ethics Code) Rules 2021 were brought into action²¹. Still, the regulations are not as harsh when compared to Section 377. Films touching on sensitive issues are being produced and streamed over the internet via OTT platforms in the Indian context.

The very first film based on gay love that managed to get certification from the Board of Film Certification was *Aligarh* (2015). The director of the film, Hansal Mehta, was certainly unhappy with the unexpected cuts suggested by the board. Still, the film was a landmark of its kind. It demonstrates that love is a basic human need and it is beyond gender. *Aligarh* was based on an individual's real-life experiences, specifically the disapproval he had to face from his colleagues and society. It was a success in representing the lives of people who were made to live as sexual minorities as a result of Section 377. The Indian cinema in the

new era is offering justifiable portrayals and representations of all kinds. Films directed and produced by Indians representing homosexual love and emotions stream over the internet. OTT gave voice to the suppressed sexual minority of the LGBTQ community. Cinema has enormous power to influence and change viewers' cultural habits and perceptions. As more and more people are becoming sensitive towards this issue, general acceptance is developing in society. People in the LGBTQ community have recently begun to feel empowered and accepted as a result of being represented in films. *Ek Ladki Ko Dekha To Esa Laga* (2019), a film by Shelly Chopra Dhar released on Netflix, is based on the life of a small-town girl struggling with her hemophilic desires in a traditional Indian family. It touched on many aspects of the life of an Indian lesbian. *Shubh Mangal Zyada Savdhan* (2020), directed by Hitesh Kewalya, is a story of two men in love trying to convince their orthodox families to get them married. The humour and the happy ending of them living together forever gave society a positive message. A tragic story of lesbian love was *Geeli Pili* section of *Ajeeb Dastaan* (2021) directed by Neeraj Ghaywan. The movie was released on Netflix in which a lady struggles every day for acceptance by society for who she is, and on the other hand, her lady love gets married to a man and gives birth to a child to satisfy the stereotypical norms. *Badhai Do* (2020) represents how a gay and lesbian couple agrees to live together as a married couple to please their stereotypical families and eventually enjoy their love lives with their partners. These films represented the emotions of homosexuals and the adjustments they made to their feelings just to live a peaceful life with an accepted existence. Acceptance from the family and society is a vital part of any individual's life (Katz-Wise et al., 2016)²². The current cinema is trying to promote acceptance within society.

Even though there was no strict restriction under Section 377 on the representation of transgender in cinema until and unless it was obscene. Still, a fair portrayal of transgender lives is not found in Hindi cinema yet. Possibly, shortly, we will see films fairly representing the transgender community. A Tamil film, *Super Deluxe* (2019), directed by Thiagarajan Kumaraj, touched the life of a transgender person. It showed acceptance for the Third-gender in society and the family. The film covers the issue of biological transgender people. In certain cases, men or women feel a deviation between the soul and the body they have naturally. With the help of the surgery, they get modifications made to their respective bodies to enable them to be transformed into the gender of their choice. Such individuals are known as trans-men and trans-women by choice. A film such as *Chandigarh Kare Ashiqui* (2021) was released on Netflix to raise awareness about this issue. The film was directed by Abhishek Kapoor, who justifiably represented the emotions of trans people by choice and the disdain they face for choosing to be themselves. *Njan Marykutty* (2018), a Malayalam film directed by Ranjit Shankar represents an ambitious Trans-woman by choice. He was born a male but could feel himself a female. Society denied his transformation from a male to a female. Later, she proved her capabilities as a strong and independent woman. She proved the value of her choice to society and her own family.

Films representing strong and independent female characters have been made and

released in good numbers recently as a result of feminist awareness. Issues touching on different aspects of a woman's life are justified with the help of different characters. The former stereotypical narratives of the female characters are undergoing revolutions. To connect with the new age audience with different demands, instances from real lives are being adapted to build realistic characters. *Tribhnga* (2021), directed by Renuka Sharma, represents the lives of three women of the same family, facing different situations. Each character is strong enough to connect with the audience. Whereas *Mimi* (2021) by Laxman Utekar represents the life of a surrogate mother. Her emotional connection with the child, her expectations from the respective parents and society, etc. are beautifully portrayed. On the other hand, films like *Thappad* (2018) by Anubhav Sinha and *Darlings* (2022) by Jasmeet K. Rani spoke out against domestic violence. The films symbolized how women of the twenty-first century will deal when society perpetrates such heinous behaviour against them. Films like *Sherni* (2021) by Amit V. Masurkar represent the capabilities of women in professional lives and in the jobs stereotypically believed to be done by men. *Pagglait* (2021) by Umesh Bist symbolized the aspirations of a widow. A dialogue from the film is enough to explain the message "When a woman starts thinking for herself, the world starts considering her crazy". In her film, *Chapaak* (2020), Meghna Gulzar spoke out against the injustice done to innocent women to satisfy rage. The film's message has the potential to inspire both men and women as it represents a struggle for justice and the spirit to fight for the good.

The portrayal of the male lead character in many films dropped down from the alpha male of the 90's era to a common man. Just like women, men too need non-stereotypical representation. The portrayal of reality helps the moviemaker connect with the target audience. People can relate to the characters better. *Ardh* (2022) by Palash Muchal is a story of a struggling actor in Mumbai who uses every means to earn bread for his family along with following his passion. Both *Madari* (2016) by Nishikant Kamat and *A Serious Man* (2020) by Sudhir Mishra express a father's love for his children. The film shows men can go beyond their limits to make things possible for their families. Shree Narayan Singh's *Toilet Ek Prem Katha* (2017) and R. Balki's *Padman* (2018) both portrayed feminist men. These films portrayed a gender-positive image of men and stood against the stereotypical perception of men as haters of feminism.

Apart from gender representation, a few films raised questions about stereotyping body types. Films such as *Bala* (2019), *Gone Kesh* (2019), *Ujda Chaman* (2019), *Dum Laga Ke Haisha* (2015), etc., represent that every individual is different and every human body is different. We cannot expect a one-size-fits-all for human bodies. Also, love is beyond physical appearance and we, as humans, should accept and love our bodies as they are because that is our ultimate reality. Love is not bound to age stereotypes. This concept is represented in movies like *A Suitable Boy* (2020) by Vikram Seth, *The Lunchbox* (2013), and *Darlings* (2022). In which men and women with huge age gaps fall in love eventually. Online streaming has introduced a revolution in the history of Indian cinema. Notably,

this is the beginning and we have a long journey. Many changes estimated in the past are today's reality, and the changes estimated for the future are believed to be fruitful. Cinema has the potential to influence societal cultural habits. The change in narratives of gender representation in Indian cinema was anticipated after the repeal of Section 377. Such cinema gave voice to a sexual minority that suffered emotional, cultural and moral oppression for years. Our society needs cinema for its betterment. Cinema as an influential medium tends to introduce changes in the socio-cultural behavior of its audiences. Contemporary cinema comes tinted with a social message along with entertainment. Therefore, it can be stated that cinema executes its duties of informing, educating and entertaining as a medium. Also, it opens new vistas of social transformation for promoting tolerance and acceptance among individuals for the betterment of society.

Inference

Historical Stereotypes in Indian Cinema

From its inception, Indian cinema adhered to societal stereotypes. Women were portrayed as submissive and dependent, while men embodied hypermasculinity. LGBTQ+ characters were often ridiculed or relegated to villainous roles. Depicted transgender individuals in negative light, reinforcing societal biases.

Impact of Section 377's Abolition

The 2018 Supreme Court judgment decriminalizing homosexuality was a watershed moment. It inspired filmmakers to address LGBTQ+ themes more openly, albeit cautiously. Films such as *Aligarh* (2015) and *Ek Ladki Ko Dekha To Aisa Laga* (2019) broke barriers by humanizing LGBTQ+ characters and portraying their emotional struggles.

The Role of Digital Platforms

OTT platforms like Netflix and Amazon Prime have emerged as spaces for progressive narratives. New films explore themes of acceptance and societal challenges faced by LGBTQ+ individuals. These platforms, free from traditional censorship constraints, enable authentic storytelling.

Evolving Gender Representations

Recent films challenge patriarchal norms, showcasing strong, independent female characters. They emphasize women's agency and resilience. Similarly, male characters are evolving from hypermasculine ideals to relatable, emotionally complex portrayals.

Inclusivity in Body and Age Representation

Films like *Dum Laga Ke Haisha* (2015) and *The Lunchbox* (2013) challenge stereotypes around body image and age, promoting self-acceptance and inclusivity.

Conclusion

The journey of Indian cinema—from rigid stereotypes to nuanced portrayals—is emblematic of a society striving for inclusivity and diversity. The decriminalization of homosexuality under Section 377 and its ripple effects have catalyzed an introspection within the cinematic world, challenging outdated norms and encouraging authentic storytelling. While the Bhartiya Nyay Sanhita reflects a progressive legal framework, its potential lies in complementing the cultural shifts initiated by the abolition of Section 377. Together, they represent a confluence of legal reform and artistic expression, driving forward the narrative of equality.

Looking ahead, Indian cinema holds immense potential as a medium to educate and inspire. The industry's increasing willingness to portray complex characters and untold stories offers hope for a more inclusive future. By weaving narratives that resonate with diverse experiences, filmmakers can continue to break barriers, normalizing acceptance and fostering empathy among audiences.

However, challenges persist. Mainstream cinema still hesitates to fully embrace LGBTQ+ themes, often relegating them to the peripheries of storytelling. To overcome this, collaboration between independent filmmakers, digital platforms, and advocacy groups is crucial. Providing platforms for underrepresented voices and creating safe spaces for diverse narratives will help shape a cinematic landscape that mirrors the plurality of Indian society.

Moreover, the role of digital platforms cannot be overstated. OTT platforms have emerged as bastions of creative freedom, allowing filmmakers to explore sensitive themes without the constraints of traditional censorship. Encouraging investment in such platforms and supporting grassroots storytelling initiatives can amplify the voices of marginalized communities.

Ultimately, Indian cinema's evolution is a testament to its resilience and capacity for transformation. The abolition of Section 377 marked the beginning of a new chapter, but the story is far from complete. As filmmakers and audiences alike champion the values of equality and representation, the dream of a truly inclusive cinematic landscape becomes ever more attainable. Through its unique blend of entertainment and advocacy, Indian cinema continues to redefine itself as a force for social progress, promising a future where every story finds its rightful place on screen.

Department of Communication and Journalism
Doctor Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (M.P.)

¹*sharmasaloni423@gmail.com*

²*v.mgahv@gmail.com*

References:

1. McQuail, D. (1997). *Audience analysis*. Sage.
2. Do Nascimento, J. (2019). Art, cinema and society: sociological perspectives. *Global Journal of Human Social Science Research* : (C) Sociology & Culture, 19(5), 19-28.
3. Butler, J. (1990). *Gender trouble: Feminism and the subversion of identity*. Routledge
4. Ghosh, A. (2019). *Queer cinema in India: A reader*. Routledge
5. Dasgupta, R., & Gokulsing, K. M. (2013). *Masculinity and its challenges in India: Essays on changing perceptions*. McFarland.
6. Srivastava, S. (2018). The queer aesthetic: Gender, sexuality, and Bollywood. *South Asian Popular Culture*, 16(1), 45-60. <https://doi.org/10.xxxx/xxx>
7. Mehta, M. (2002). *Bollywood and globalization: Indian popular cinema, nation, and diaspora*. Anthem Press.
8. Kohli, V., & Sridhar, V. (2020). Digital freedom: OTT platforms and the LGBTQ+ narrative in Indian media. *Media Watch*, 11(3), 567-580. <https://doi.org/10.xxxx/xxx>
9. Bhattacharjee, M. (2019). Gender portrayals and subversion in contemporary Indian films. *Journal of South Asian Studies*, 42(2), 231-250. <https://doi.org/10.xxxx/xxx>
10. Niranjana, T. (2006). *Mobilizing India: Women, music, and migration between India and Trinidad*. Duke University Press.
11. Rao, S. (2007). The globalization of Bollywood: An ethnography of non-elite audiences in India. *The Communication Review*, 10(1), 57-76. <https://doi.org/10.xxxx/xxx>
12. Dutta, A., & Roy, R. (2014). Decolonizing transgender in India: Some reflections. *Transgender Studies Quarterly*, 1(3), 320-337. <https://doi.org/10.xxxx/xxx>
13. The Indian Penal Code. (2019). Legislative Department. Ministry of Law and Justice. Government of India. <https://ddashboard.legislative.gov.in/actsofparliamentfromtheyear/indian-penal-code>
14. Navtej Singh Johar v/s Union of India (W.P. (CrI.) No. 76 of 2018 D. No. 14961/2016). (2018).
15. Dixit, P. (2020). Navtej Singh Johar v Union of India: Decriminalising India's sodomy law. *The International Journal of Human Rights*, 24(8), 1011-1030. <https://doi.org/10.1080/13642987.2019.1690465>
16. Homosexuality: The countries where it is illegal to be gay. (2023, March 31). [NEWS]. BBC News. <https://www.bbc.com/news/world-43822234>
17. Bhaskar, I. (2013). The Indian new wave. In *Routledge handbook of Indian cinemas* (pp. 19-34). Routledge.
18. Ministry of Home Affairs, Government of India. (2023). *Bhartiya Nyay Sanhita: An Overview*. Retrieved from <https://www.mha.gov.in>
19. Bassi, Dr. V. S. (2018). STEREOTYPING WOMEN IN INDIAN CINEMA. *Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies*, 5(43). <https://doi.org/10.21922/srjis.v5i43.11253>
20. In India, Men Consume The Highest OTT Content In 2020. MICA. (2020). <https://www.thehindubusinessline.com/news/variety/in-india-men-consume-the-highest-ott-content-in-2020-mica-report/article34043007.ece>
21. The government notifies Amendments to the Information Technology (Intermediary Guidelines and Digital Media Ethics Code) Rules 2021 for an Open, Safe & Trusted and Accountable Internet. (2022). Public Information Bureau, Ministry of Electronics & IT, GOI. <https://www.pib.gov.in/PressReleasePage.aspx?PRID=1871840>
22. Katz-Wise, S. L., Rosario, M., & Tsappis, M. (2016). Lesbian, Gay, Bisexual, and Transgender Youth and Family Acceptance. *Pediatric Clinics of North America*, 63(6), 1011-1025. <https://doi.org/10.1016/j.pcl.2016.07.005>
23. Genner, S., & Süß, D. (2017). Socialization as media effect. *The international encyclopaedia of media Effects*, 1, 15.

Globalisation and Changing Family

Haresh Narayan Pandey

Abstract:

Globalisation has been influencing every-walk of life, including economy, culture, marriage, and family, in almost every society across the world. The article examines how the family has been changing in its structure, function power dynamics authority, and social relations under the broad influence globalisation. It focuses on the views of various scholars regarding the changing nature of families in India and abroad. Additionally, it discusses some unique or alternative arrangements such as those practiced on a larger scale in certain societies like Israel.

Keywords: Globalisation, Family, Marriage, Types of Family, Change

Globalisation is primarily understood as a process of economic cooperation and interdependence among nation-states, achieved through trade and business by opening markets, enabling the rapid movement of goods and services, technology, and capital, etc. via multinational corporations (MNCs). The wheels of globalisation are mainly-media and market impacting profoundly the cultural lives of people world wide. Globalisation operates through revolutions in information and communication technology (ICT) facilitating the global circulation of messages and symbols in the shortest possible time. The proliferation and diversification of ICT have expanded the scope of electronic media through use of tools like E-mail, TV, Internet, Fax, etc. enabling the circulation of capital and search of global markets, leading to homogenisation of consumer products and market processes in the realm of commodity, cultural symbols, style, and behavioural patterns (Singh, 2002). The cultural behaviour and life styles of people across the world have also been changing under the influence of modernisation. Both modernisation and globalisation are inter connected to each other in many ways as reflected statements such as- globalisation is late modernity, and the latest form of modernity is also known as globalisation (Doshi, 2012). Giddens identifies four elements of globalisation capitalist economy, nation-states, world military order and division of labour. Globalisation has not only influenced the transition from extended families to nuclear families but also division of labour between men and women it has transformed the process of socialisation, intergeneration social relations, work in public and private spheres, and the roles power and authority of men and women within families. Globalisation also proliferates socio-cultural changes by spreading consumer culture which helps in altering the

division of labour within the families and society (Sklair, 1999). In this article, it is argued that the processes of modernisation and globalisation are interconnected and changes in the family are observed due to their influence.

Family and Marriage

Family, as the cornerstone of any society, is a social unit which consists of both sexes- male and female related to marriage and performing socially distinguished role as making up of a single house-hold. Aileen Ross, who has given importance to the physical, social and psychological elements of family, has categorized four sub-structure of the family. These substructures are ecological substructure, substructure of division of labour, substructure of power and authority, and substructure of sentiments. The ecological substructure of family is spatial arrangement of family members in a geographical area living close to each other. The second division is related to rights and duties of members of the family. Third power and authority is focused on controlling action and behaviour of the members of family. The last is sentiments related to relationship between different sets of members like husband and wife, parents and children, siblings, etc. of the family. All three kinship, family and marriage are related to each other as family comes to the existence after marriage only. On the basis of kinship family is classified into two- conjugal and consanguine categories. In conjugal, the priority of relationship is given to the marital ties and in the consanguine the priority is given to blood ties. The general structure of the family is of two types- joint or extended family and nuclear family. The nuclear family is comprised of a husband, a wife and their immature offspring. The joint family is the extension of nuclear family with addition to the same or other generation person. The joint family is again extension of two kinds- vertical extension- addition of a member of third generation like spouse parents; and horizontal extension- addition of the member of the same generation like the spouse husband's brother. The family on the basis of residence is of three types- patri-local, matri-local and neo-local family. The first patri-local family, when married couples reside after marriage in the husband's parents house especially father's house; the second matri-local, when married couple after marriage reside in the house of wife's parents; and in the neo-local family, when newly married couple reside in a separate new house other than their parents house i.e. separate family than that of father's or mother's side house. In the contemporary global world single person family is also seen, which refers to household of one person known as one person family or single person household. It is occurring due to divorce, widowhood, personal choice, or also by getting separated from family members.

Marriage provides a stable relationship between a male and a female who are socially permitted to have children and becoming parents. To have children means the right to have socially permitted sexual relationship through regular and normal cohabitation in the same house. Harry M. Johnson has quoted Murdock's work of Social Structure, in which he has mentioned that there are many societies which permit extra marital sexual relationship such as relationship with brother's wife, with his sister's husband, with his mother's brother wife, etc. He says that marriage is a kind of exchange relationship practiced in European and

American societies which means that unmarried men in the family seek the life partner from other family and renounce the girls from their own families. And other family also does the same practice. It is also viewed as a kind of marital exchange (Johnson, 2011). The traditional peasant society is characterized by joint or extended family, which is patrilocal and patriarchal in nature where women have subordinate position in comparison to men. Family in such society has been the unit of all economic, cultural, religious and political activities. As the industrial revolution and industrialization has proceeded the change in type of family from extended to nuclear has also get accelerated and became the predominant structure of modern-global society. In the peasant society the knowledge system was existed in the form of folklore, mythologies, riddles and folk songs, etc through the medium of oral tradition. In fact, in every society normal adult individual belongs to different nuclear families. The family in which one is born and reared is called the family of orientation. And the other family to which he establishes the relations through marriage is called family of procreation.

Several scholars have emphasised on different objectives of marriage and family-economic cooperation, producing offspring, rearing and caring of children, socio-cultural continuity, etc. But in contrast to these objectives of marriage and family, the basic foundation of Hindu marriage and family is religion. It is believed that marriage provides sacred bondage of seven life (from birth- death and rebirth) for both men and women in Hindu society. Religion is believed to be controlling agency of all, social, mental and intellectual activities. Religious expert in sanatan / Hindu claims that religion and its practice is essential for good health, happiness, peace and long life. They also said that god has divided himself into two male and female from his right and left side of his body respectively. Hindu marriages is considered to be a dharmik samskara not a contract unlike other marriage. There are minimum three things- yagnya/ havan, panigrahan, and saptapadi, which are essential to the completion of Hindu marriage. In a Hindu marriage religious duty acquires utmost importance at first place, not sexual satisfaction. Monogamy is considered as an ideal marriage in Hindu society and polygamy is allowed in special and certain circumstances only. In Hindu marriage yagnya is performed before fire god with veda mantras chanted by pandit/ purohita as brahman. In Panigrahan, father of the bride donates his daughter to the bride groom under the influence of ved-mantras, consider to be sacred, chanted by pandit/ purohit. In saptapadi, both-groom and bride take seven rounds of fire in yagnya kund, and during this process a brahman chants the ved-mantras confirming the marriage between two. Here, fire god is considered to be a witness of the marriage. These above mentioned three steps of marriage make marriage socially valid and even also valid in the eyes of god and forming a family. Marriage is a religious samskara which is regarded as sixteen samskar of Hindu life. In Hindu society and life, these samskars are spreaded from conception to death (garbhadhan to mrityu). Both male and female enters into grihastha ashram through marriage samskara. Marriage is a sacred bond between male and female, which is unbreakable and decided by almighty god not by man. In Hindu society, marriage is considered to be a sacred and divine bond for minimum seven life (from birth- death and rebirth). In fact, it is not only marriage but the whole life of Hindu is full of dharmic samskara and giving it

a religious value and face. Family and marriage is basic to perform religious duties.

A man is born with minimum three debts/rin in Hindu society. These are rishi rin, dev rin, and pitri rin (Mukarjee, 1996, pp. 25-26). It is very important to note that one should not understand rin as debt but it denotes the duties of human beings related to whole universe. A man could only be debtd-free (rin mukt) when he performs his duties rightly. Rishi rin is proscribed duties towards our rishi-maharshis, which is nothing but acquiring knowledge through studies of Hindu ancient religious texts- ved, shastra, purans, etc and making them popularised amongst people. Dev rin (debt of god) means duties towards god, is indication of human duties towards almighty god because whatever thing human possess in his life is because of the blessing of god. So, it is the duty of human being to offer something to god in the form of yagnya. Pitri rin is the debt of human toward his family ancestor (pitri). A man could only be free from pitri rin by marrying and producing son, who will carry out the lineage of family. The duty of the son in family is to perform shraddha, tarpan and pind dan to his parents and other family ancestors at the time of pitri paksha especially after their death. It is time of fifteen days devoted to ancestors for doing pind dan in every year in Hindu family. In fact, marriage, family, and progeny (putra prapti, or getting son in life) is very essential for a person to be free from dev rin and rishi rin. In Hindu society, a man cannot perform yagnya without wife and also cannot produce a son without marriage. So, in Hindu tradition marriage and family are essential to perform all his duties prescribed in sanatan- Hindu texts.

Hindu shastra has suggested to marry a daughter in a family of higher kul/varn. When a boy of higher kul/varn marries to a girl who is at equal to his varn or lower than his varn then this marriage is called hypergamy (anulom vivah). And when a boy of lower varn marries to a daughter of higher varn then this marriage is called hypogamy (pratilom vivah). Manu has prescribed eight kinds of marriage (vivah) for Hindu society. These are brahma vivah, daiv vivah, arsh vivah, prajapatya vivah, aasur vivah, gandharva vivah, rakshas vivah, and paichash vivah. In brahma vivah the parents of girl child choses a bridegroom for their daughter. Father donates his daughter to bridegroom as bride. Father of a girls donates his daughter as bride to a knowledgeable pandit or purohit who can perform yagnya effectively is called daiv vivah, It was more in practice in the ancient period as people were doing more yagnya in that period. In Hindu society rishis are considered to be very wise and knowledgeable persons. And usually parents liked to marry their daughter to these rishis so that they could produce knowledgeable child, who can be beneficial for both family and society. In arsh vivah parents give their daughter to only those rishis who wanted to marry and rishi in return used to give a cow or an ox or a pair of ox to the parents of bride so that the parents are assured that rishis liked to marry. In prajapatya vivah parents provide blessing to both bridegroom and bride to fulfil the duties of grihastha (life and family of a married couple) so that both will be happy and prosperous in life. A husband or bridegroom gives bride-price, to the father or guardian of bride, which is used to be fixed earlier, is called aasur vivah. The bride-price usually depends on the quality and status of

family of bride. And without bride-price *aasur vivah* never happened. *Gandharva vivah* is a kind of love marriage happens between two- a male and a female. In this marriage boy and girl decides their own to marry not dependent on their parents or guardians. When a boy marries a girl with fighting, quarrelling, cheating or deception, is called a *rakshas vivah*. This marriage used to happen at a time when war occurred more and was more important and considered a matter of pride to get women after winning the war. In *paichash vivah*, a man makes a close relationship with a girl when she is asleeped or in a drunked state, or insane or in some other way without her consent. And when a boy marries to a girl in such state and after some time usually society accepts and approves such marriage (Mukarjee, 1996, pp. 162-172).

All members in family/joint family enjoys certain positions and responsibilities contributing to its economic stability and continuity. In any adverse condition, all members stand and fight it out together its adverse conditions. The stability and continuity in joint family has been easily drawn through traditional norms, customs, values, behaviour, etc. The social welfare of everyone in joint family is based on the feeling of sacrifice and services offered by head of the family. He does this sacrifice and services towards the members of the family not only on the basis of his rights but on the basis of his love and duties towards all members of the family. In lieu of the that, every member of the family offers love, respect, position, authority and acceptance towards him. The head of the family always think and does the welfare of all on priority basis. A person learns both collectivity and individuality in joint family and also learns to ensure nice balance between the two in the family. Joint family provides support and security to his members whenever they face adverse conditions like economic insecurity, unemployment, helplessness, loneliness etc. Looking after such unconditional support and help, many call joint family as insurance company in modern-global sense. By offering love and support to all the members in joint family such as children, old age people, widows, blind, deaf and orphans, it creates an example of being called an ideal family. Children in joint family learn to develop good qualities of life like love, co-operation, duties and services, honesty, empathy, gratitude, etc. which help them in developing a good personality for life. The older members of the family are important in two ways. Firstly, their long-lived and rich experience of life help other members in joint family to sustain and progress in adverse conditions of life such as misery, poverty, death and accident of bread winner, etc. Secondly, the old and traditional cultural values, norms and customs are orally transmitted to younger generations which help in maintaining continuity with the ancestors in the family (Mukarjee, 1996, pp. 143-144). Kapadia claims that Hindu sentiments in India is still in the favour of joint family but our legislation is such that it intends to destroy the joint family system, is mainly considered to be non-Hindu. It ignores Hindu family history and sentiments. He has asserted that joint family and its basis is not weak even today in India and it will not be weak in future also. But with the rise of modern global age, people in India are becoming nuclear not because of the intentions of breaking down joint family but because of daily disturbances, quarrelling and unrest in joint family (Kapadia, 1955, p. 129). In the contemporary time importance of family in the eyes of people is getting down more and more in western land, which is not

correct, because they think that they can get all required things from the market. And probably, the growth of individuality and individual's centric desire has been the basis for eradication of family in western society.

Family: Changing Nature and Aspect

The change of family is also noticed in the change of socialization process, peer group relationship, emotional bondage, personality of collective and individuality, creativeness, occupation, and sense of dependence and independence of children. The children in nuclear family are becoming more individualistic, creative, independent, innovative and adoptive in their personality orientation. The change in the family type is occurring, but the joint family, not nuclear family has been considered as an ideal type of family in Indian society. Yogendra Singh has quoted important studies regarding changes occurring in the family of various scholars like K M Kapadia, I P Desai, and M S Gore exhibiting changes coming to the structure and relationship of its members in the family. I P Desai has conducted a study of Mahuva town in Gujarat where he found that 61% of the family is nuclear and 39% of the family is joint in nature. The jointness of the family he has defined on the basis of residence, property and mutual obligation of the kin. The joint family structure found in Hindus, Jains and Muslims and the jointness is found in all families working in agriculture and also in other occupations. Even long stay in urban center does not always dissolve jointness. Desai has given four kinds of family- 1- husband and wife only; 1-a- Uni member family; 2- husband, wife, married son with children and other unmarried children; 2- a- all members of 2nd group in addition to other relatives not adding to generation depth; 3- three generation group of lineal descendants; 4- four or more generation group of lineal descendants. K M Kapadia on the basis of his study of family, conducted in the Navasari town from Gujarat supported I P Desai conclusion that the sentiment of jointness was stronger and popular in the town than in the village. Even the size of the joint family was larger in the town than in the village. M. S Gore has conducted a study among Agarwals in Delhi and concluded that three fourth members of the family preferred to stay in joint family and more than half of the people believed that brothers should stay together after death of the parents. Though the joint family pattern is found continued in Indians with several regional differences (Singh, 1971).

It is difficult to imagine human society without family. Family is a universal social institution found everywhere with certain variations. The women liberation movement conducted in the various parts of the world by several feminist condemn family as an institution which has strong impact on the foundation of the family. Several studies of Black family and Kibbutz have been conducted by various scholars aiming to explain the idea against the family as a universal social organization. Murdock in his study- Social Structure, has examined family as a universal institution by taking a sample of 250 families and concluded that family is universal and some or other form of family is found everywhere. He says that family includes adult of both sexes- male and female having approval for sexual relationship, characterised by common residence, economic cooperation and reproduction.

In the family minimum two individuals live together and produce offspring, work together and pool resources. The two adults conduct sexual relationship according to the norms of their society and such norms also vary from society to society. For example in Banaro of New Guinea a husband does not make sexual relationship with his wife until she has got a child by a friend of his father. The child is recognized member of his family which means the social relationship gets primacy over the biological relationship. He has noticed in his study that nuclear family as a social grouping is present in every society.

The universal family consists of two adults- male and female but the families of Island of West Indies such as Guyana, parts of Central America, do not include male adult in the family. Here, the family unit often consists of a female i.e. woman and her dependent children of own or adopted with the addition of her mother. This type of female headed family is known as matriarchal or matrifocal family. The matrifocal family is very common in the Black Community of the New World. The Black Community family in the West Africa is matrifocal and practicing polygyny. The polygyny gives independent economic status to the female or wife in the family because a husband plays a marginal role in the family. In the polygyny condition in family, generally one husband keeps two or more wives working in the plantation economy mainly due to slavery and poverty condition. In such family, members are usually sold and children are kept with mother. The father authority is eroded and mother and children make basic social unit of the family. The White has the right to keep sexual relation with all female slaves. The poor economic condition of the Black males in such matrifocal families is pathetic and they probably cannot afford to play the role of father or breadwinner, and they leave family and wife which result in formation of the matrifocal family. Thus matrifocal family has become the part of subculture of poor in Africa as it has become the expected and accepted alternative to the nuclear family. But it is not a culture of the family usually nuclear family is the culture of almost all race, caste, and community in the world, at present. The matrifocal family is the product of divorce or separation and producing maladjusted children, juvenile delinquent, school dropout, etc. and not performing proper function of the family. In such family female maintain casual sexual relationship with many males who can give her financial support. Such female in the family also retains relationship with her relatives who give her emotional and economic support (Haralambos, 2013).

The other example of denying universal nuclear family practice is practice of Kibbutz, as an alternative or a special provision to the family in Israel. A substantial number of population of Israel live in Kibbutz settlement. In Kibbutz settlement capital and property are collectively owned by its members. The Kibbutz family is based on the ideological and economic factors, the economic basis of the Kibbutz includes agriculture and light nature of industry. The ideology of Kibbutz emphasizes on sexual equality rejecting parental role of a mother i.e. over protective Jewish mother 'Jewish Mamme'. In fact, marriage is monogamous i.e. one male and one female adult gets marry and make family and married couple share a single bed room cum living room. The children in Israel are not raised in the family but

by the children care taker or educator and children live in the communal dormitories. These children do not spend their day and night with their parents or mother -father but spend time in the dormitories, they eat, sleep, and spend their all time there only. They visit their mother and father every day for one- two hours as fun time not for socialization and child training. In the Kibbutz children are nurtured as children of the Kibbutz. This collective method of child rearing save them from over protective parenting and also representing the rejection of the family. Food is cooked in communal kitchen and children eat in the communal dining. Married couple work for Kibbutz as a whole not for family. Both parents and their children receive goods and services from Kibbutz. The economic cooperation exists for community of the Kibbutz and not for the family. Adults refer all the children of the Kibbutz as their children. The grown children in Kibbutz practice exogamy marriage ie they marry outside of the same Kibbutz. The children of the same Kibbutz are referred as brother and sister and having powerful emotional ties. And probably because of this many call Kibbutz as a large extended family also.

It is also important to note the other views of the family, as quoted in Haralambos book, like functional and dysfunctional (Vogel and Bell), pessimistic view (E Leach), and death of the family (Cooper and Laing). Vogel and Bell conducted their study of emotionally disturbed child in the family of America. They asked that family is functional 'for whom' and 'for what?'. They said that the unresolved tension and hostility of parents are reflected on the children in the family. They used children as their emotional scapegoat by releasing their tension on them, as a result children become emotionally disturbed and they are unable to adjust their life in school, neighbourhood, and peer group. Here, what is dysfunctional for child may be seen functional for parents. In such modern family parents and children are in loneliness state where parents fight and children rebel. Leach in his study titled- A Runaway World, has conducted in the small scale pre-industrial societies where families form the wider kinship unit. But in modern society family is isolated from kin, community and looks inward upon itself. In the past, individuals whole life get practical, moral and psychological support from the family which is found largely absent today in modern-global family. Cooper and Laing in their study-The Death of the Family, said that family is a stultifying institution which denies giving freedom and space to the individuals for developing their personality and individuality. They claim that children must kept free from demand of the family which usually engulf and imprison them. Family develops ideological conditioning device of the children by family socialization, role training, etc. in a narrow sense which restricts free development of the self. In this way, it is claimed that family is exploitative in nature and produces exploitative society.

Conclusion:

It can be said that family is getting changed very fast in all aspects in the global era and creating various problems but still considered as backbone of society, as claimed by various sociologists such as Comte. He claims that family as a basic unit of society (Aron, 1968). Similarly, Cooley also views about importance of family, as primary group (Adam

and Sydnie, 2001), helps in making its members to learn the brotherhood, selfless-ness, altruism, collectivity and commonality, cooperation, constructive emotional and harmonious life, essential for existence of humanity and society across the world.

*Department of Sociological Studies
School of Social Sciences and Policy
Central University of South Bihar, Gaya, Bihar
haresh@cub.ac.in*

References

1. Haralambos, M. and Heald, R. (2013). *Sociology: Themes and Perspectives*. New Delhi: Oxford University Press.
2. Singh, Y. (1971). *Modernisation of Indian Tradition*. New Delhi: Rawat Publications.
3. Singh, Y. (2002). *Cultural Change in India: Identity and Globalisation*. New Delhi: Rawat Publications.
4. Ahuja, R. (2011). *Society in India: Concept, Theories and Recent Trends*. New Delhi: Rawat Publications.
5. Ahuja, R. (2020). *Indian Social System*. New Delhi: Rawat Publications.
6. Kapadia, K. M. (1955). *Marriage and Family in India*. Bombay: Oxford University Press.
7. Johnson, H. M. (2011). *Sociology: A Systemic Introduction*. New Delhi: Routledge.
8. Sklair, L. (1991). *Sociology of Global System*. New York: Harvest/Wharthead.
9. Adam, B. N. and Sydnie, R. A. (2001). *Sociological Theory*. New Delhi: Vistar Publications.
10. Aron, R. (1968). *Main Currents in Sociological Thought*. Vol.1. New York: Garden City.
11. Mukarjee R. N. (1996). *Bhartiya Samajik Sansthaan*. Delhi: Vivek Prakashan.
12. Doshi, S. L. (2012). *Modernity, Postmodernity and Neo-Sociological Theory*. New Delhi: Rawat Publications.
13. Kapadia, K. M. (1955). *Marriage and family in India*. Bombay: Oxford University Press.

Anthropometric Assessment of Nutritional Status of Birhor School Going Children and Adolescent of Korba District Chhattisgarh, India

Dhansay¹, Sarvendra Yadav², A. N. Sharma³

Abstract:

In India, Particularly Vulnerable Tribal Groups (PVTGs) are more disadvantaged than other tribal communities. Their population showed a 32% decline in Madhya Pradesh and Chhattisgarh collectively between 2001 and 2011. Undernutrition is one of the major causes of comorbidity and mortality in developing countries. Thus, a cross-sectional study was conducted to assess the nutritional status of Birhor school-going children and adolescents in the Korba district, Chhattisgarh. The study population was collected through a door-to-door visit of all available households. The study comprises a total of 273 individuals who were anthropometrically measured using standard methods. The BMI-for-age cut-off of Cole et al. (2007) was used to evaluate the nutritional status of the selected population. Overall, 59% (60% male and 57.7% female) of the studied population were found to be undernourished. Among school-going children, 66.3% of males and 65.6 % of females were found to be thin. Whereas, the prevalence of thinness among adolescent males and females was 51.6% and 50%, respectively. Age-specific prevalence of thinness was found to be highest among 6-year-old males (86.7%) and 10-year-old females (90.9%). Finally, the study concluded that the nutritional status of the studied Birhor school-going children and adolescents is very poor. The growth pattern of the studied population is lagging behind national and international standards. Therefore, multidimensional approaches are required to understand the causes of high undernutrition in such a marginalized community.

Keywords: Undernutrition, Thinness, Birhor, Marginalized, Particularly Vulnerable Tribal Groups, School going children, Adolescent etc.

I. Introduction

India became the most populous country with a population of 142.86 crore by mid-2023, surpassing China by 29 lakhs (State of world population report: UNFPA, 2023). According to this report 25% and 18% of India's population is in the age group of 0-14 years and 10-19 years respectively. The problem of under nutrition among children and adolescent in developing country like India is still alarming. During adolescence, growth spurt is seen in almost all body system and organ except head and brain (Tanner, 1962). Thus, adolescence shows biological changes, development and maturation in body through which a child

become an adult (Khan & Ahmed, 2005). Hence, health status of any community can be easily predicted through assessment of nutritional status of children and adolescent, who will be the future mother/father and strength for national economic development (Bhargava, 1999; Venkaiah et al., 2002).

According to census 2011, scheduled tribe constitute 8.6% of total Indian population. Most of them are vulnerable and backward but the Particularly Vulnerable Tribal Groups (PVTG's) are more disadvantaged in socio-economic, educational, nutritional, and health dimensions. Total population of these community members are recorded as 27, 68,322 individuals in census (2001). Their population shown 32% decline in Madhya Pradesh and Chhattisgarh collectively between 2001 and 2011 (Lakshman, 2023). The PVTG's are characterized by stagnant or declining population, economic backwardness, low literacy and pre-agricultural level of technology. The community members face severe food insecurity and vicious circle of poverty. Insufficient availability of proper food cause under nutrition further leads to many health-related problems, finally increases risk of mortality. Under nutrition leads to poor physical and intellectual or cognitive development (Lusky et al., 1996), mensuration irregularities (Scrimshaw & SanGiovanni, 1997) during childhood and adolescent stage, further lessen their growth and delayed maturation, and ultimately reduces work capacity in adulthood (Das et al., 2016).

Various developmental program has been implemented in last two-three decade (Griffiths & Bentley, 2001; Dewangan et al., 2010) like Integrated Child Development Scheme, Scheme for Adolescent Girls, Janani Suraksha Yojana, etc. Then, National Food Security Act (2013) was enacted to ensure food security at least 75% of rural population at minimum cost. But rather than improving, the result of those program and policy is not as much impressive. Still, member of PVTG's is facing problem of under nutrition. However, multiple factors are associated with under nutrition. Improper access to health care facility, poor educational status, unsafe drinking water and poor sanitation (Siddiq & Bhargava, 1998) early marriage (Agarwal et al., 1974) and mother health status, food insecurity and physical health or morbidity profile (Das et al., 2016), food habits, poverty (Singh, 2020) are some factors responsible for high prevalence of under nutrition among tribal communities.

In tribal communities, small chunk of family income is contributed by children and adolescent which is not counted as work anymore (Goyle, 2009). Children and adolescent share work like fire wood collection, kitchen work, collection of minor and non-timber forest product i.e., *Mahuaa flower*, *Chhar*, *tendu* (fruit & leaf) etc., pastoralism of pets and work in agricultural field of family. Due to social responsibility in very early ages, children and adolescent dropped their schooling in mid of the year and focuses on generation of family income. That is why the health and nutritional status of children and adolescent group do not receive much attention (Maiti et al., 2011) within marginalized community. Adolescence is last corrective phase of malnutrition. Undernourished adolescent continues the vicious circle of malnutrition to next generation through unsafe pregnancies and birth of low-birth-weight babies (Pandey, 2019). So, the monitoring of physical growth pattern through

anthropometric measurement like height and weight will ensure optimum development of children. Comparing individual height and weight with standard reference could be a good indicator of their nutrition status also (Tripathi & Chakravarty, 2013).

Due to diverse population size, socio-economic inequalities, illiteracy, improper health and nutritional accessibility (Sharma & Mondal, 2014), the nutritional studies have played a significant role identification of group at more risk within community. Many researches have been done among children and adolescent which concluded that high prevalence of thinness is major nutritional problem among them (Sharma & Mondal, 2014). Thus, the study aims to assess the nutritional status of Birhor school going children and adolescent of Korba district, Chhattisgarh, India.

II. Research Method

• Study Area and Population

A cross-sectional community-based study was conducted among Birhors School going children and adolescent of Korba district, Chhattisgarh. Birhor tribe is one among the particularly Vulnerable Tribal Group (PVTG) of Chhattisgarh. Within state Birhors are distributed in the interior forest and hilly region of Bilaspur, Jashpur, Korba, and Raigarh district. Korba district was chosen due to maximum sharing of studied population (Rajyapal Prativedan, 2018). The population is living in four blocks namely Korba, Kartala, Pali and Podi Uproda within Korba district. Birhor tribe is semi nomadic type of community, who are known for their occupation activities of rope and bamboo basket making, collection and vending of non-timber forest product. However, occupational multiety can be easily observed now. But still they are restricted to their natural ecosystem for their livelihood. Educational status is very poor among Birhors.

• Sampling Method

The study was conducted in 28 Birhors tandas (a place where study population were living), in which there were no study population found in two tanda. The study population was collected through door to door visit of all the available households. All available individuals in the age group of 6-18 years were considered as study population. In this study total 273 individuals were anthropometrically measured who were available at home during data collection and found physically and mentally normal.

• Data Collection

Anthropometric variable was collected through standard method. Weight was taken to nearest 0.1 kg with individual dressed in light cloths and barefoot with the of Omron digital weighing machine. Height was measured to the 0.1 cm using Martin Anthropometer Rod. During measurement equipment was checked constantly for its accuracy. The Anthropometric variable was measured by trained scholar of Anthropology. The age of studied population was confirmed from school mark sheet, birth certificate, AADHAR card, and/or from vaccination card. Due permission was taken from village authority before entering to the

Birhors tanda. The verbal consent was also taken from family head or care taker of minors before commencing anthropometric measurement.

• Analysis of Data

The collected information was first entered in the MS-Excel spreadsheet then transformed into Statistical Packages for Social Science (SPSS, v.25) to perform further statistical analysis. Body Mass Index was calculated as weight (in kg) divided by height (in meter square). Then, nutritional status was examined by using age and sex specific BMI-for-age cut-off of Cole et al. (2007). Student t-test and chi-square test was performed to see the sexual difference in anthropometric variable (height, weight and BMI) and nutritional status (thinness). Further, the mean height, weight and BMI of studied population was compared with national (IAP, 2015) and international (WHO, 2007; NCHS) standard reference.

III. Result

Table 1: Anthropometric Characteristics of Studied Population (M±SD)

Age (Y)	Sex (N)	Height (cm)	t (Sig)	Weight (kg)	t (Sig)	BMI (kg/m ²)	t (Sig)
6	M (15)	113.06±5.27	0.49	16.67±1.54	0.50	13.04±0.86	0.33
	F (8)	111.81±6.02	(0.62)	16.13±2.75	(0.62)	12.84±1.49	(0.74)
7	M (14)	119.00±6.25	-0.24	19.77±2.56	0.66	13.93±1.09	1.34
	F (12)	119.54±5.14	(0.81)	19.13±2.35	(0.51)	13.36±1.06	(0.19)
8	M (13)	123.03±5.56	0.15	21.63±2.16	0.61	14.27±0.73	1.15
	F (9)	122.61±6.73	(0.87)	20.96±2.75	(0.55)	13.89±0.78	(0.26)
9	M (12)	127.58±4.03	0.06	22.76±2.36	-0.41	13.98±1.28	-0.62
	F (8)	127.37±4.43	(0.95)	23.45±2.25	(0.68)	14.33±1.15	(0.53)
10	M (20)	130.72±5.53	1.50	24.30±3.73	1.91	14.13±0.56	1.30
	F (11)	126.90±4.58	(0.14)	22.22±2.27	(0.06)	13.77±0.80	(0.21)
11	M (12)	134.70±4.51	-1.14	26.56±1.45	-1.32	14.67±1.10	-0.61
	F (13)	137.50±4.44	(0.26)	28.49±2.82	(0.19)	15.00±1.60	(0.54)
Pooled (6-11)	M (86)	124.69±6.67	-0.28	21.93±4.03	-0.24	13.98±1.03	0.29
	F (61)	125.16±6.16	(0.77)	22.13±5.13	(0.80)	13.92±1.35	(0.77)
12	M (11)	139.63±5.15	-1.64	29.27±3.80	-1.51	14.94±0.75	-0.81
	F (8)	145.37±5.75	(0.12)	32.72±5.56	(0.15)	15.36±1.28	(0.43)
13	M (12)	145.70±5.88	-0.96	33.91±5.85	-1.84	15.84±1.38	-1.73
	F (7)	148.71±2.59	(0.34)	38.00±3.76	(0.08)	17.18±1.74	(0.11)
14	M (7)	155.07±5.89	1.54	39.00±4.55	0.26	16.01±1.79	-1.37
	F (16)	149.03±4.58	(0.16)	38.10±4.86	(0.80)	17.12±1.75	(0.19)
15	M (9)	151.55±5.10	-1.01	39.13±6.63	2.15	16.92±1.21	-2.57
	F (7)	155.14±4.80	(0.33)	45.17±4.57	(0.05)*	18.75±1.53	(0.02)*

16	M (10)	162.37±3.65	2.90	47.53±3.94	2.36	18.04±1.61	-0.76
	F (6)	152.33±4.97	(0.02)*	43.03±3.51	(0.03)	18.56±1.08	(0.46)
17	M (5)	155.70±3.28	0.30	44.02±3.63	0.32	17.92±1.83	0.05
	F (9)	153.72±4.57	(0.77)	42.35±5.66	(0.75)	18.87±1.58	(0.95)
18	M (10)	157.30±5.26	1.35	46.45±3.89	1.05	18.77±1.28	0.22
	F (9)	154.38±4.07	(0.19)	44.37±4.56	(0.30)	18.61±1.69	(0.82)
Pooled (12-18)	M (64)	151.70±8.66	0.45	39.28±6.72	-0.68	16.82±1.88	-2.18
	F (62)	150.99±6.37	(0.65)	40.20±6.05	(0.49)	17.55±1.85	(0.03)*
* Significant ($p \leq 0.05$)							

The anthropometric characteristics of studied population is shown in the above table (1). Age combined mean ($\pm$ SD) height, weight and BMI of school going (6-11 years) male children was 124.69 $\pm$ 6.67 (cm), 21.93 $\pm$ 4.03 (kg), and 13.98 $\pm$ 1.03 (kg/m²). Among female school going children the mean ($\pm$ SD) height, weight and BMI was 125.16 $\pm$ 6.16 (cm), 22.13 $\pm$ 5.13 (kg), and 13.92 $\pm$ 1.35 (kg/m²). Similarly, age combined average height, weight and BMI among male adolescent (12-18 years) children was 151.70 $\pm$ 8.66 (cm), 39.28 $\pm$ 6.72 (kg), and 16.82 $\pm$ 1.88 (kg/m²). In comparison, mean ($\pm$ SD) height, weight and BMI of female adolescent children was 150.99 $\pm$ 6.37 (cm), 40.20 $\pm$ 6.05 (kg) and 17.55 $\pm$ 1.85 (kg/m²).

Age combined analysis further showed that height and weight was found greater among female than male but, the difference was insignificant in the age group of 6-11 years. While, in the age group of 12-18 years, weight and BMI was found higher among female than male but significant difference was observed only for BMI ($t = -2.18$; $p \leq 0.05$). Age specifically no sexual difference was observed for height, weight, and BMI among school going children. Similarly, among adolescent group significant sexual difference for height ($t = 2.90$; $p \leq 0.05$) was observed in the age 16 year. While for weight ($t = 2.15$; $p \leq 0.05$) and BMI ($t = -2.57$; $p \leq 0.05$) the significant sexual difference was in the age 15 year.

Table 2: Thinness based Nutritional Status of Studied Population [N (%)]

Age (Y)	Sex (N)	Thinness				
		Normal	Mild	Moderate	Severe	Total Thinness
6	M (15)	2 (13.3)	5 (33.3)	4 (26.7)	4 (26.7)	13 (86.7)
	F (8)	2 (25)	2 (25)	1 (12.5)	3 (37.5)	6 (75)
7	M (14)	7 (50)	6 (42.9)	-	1 (7.1)	7 (50)
	F (12)	4 (33.3)	4 (33.3)	3 (25.1)	1 (8.3)	8 (66.6)
8	M (13)	9 (69.2)	3 (23.1)	1 (7.7)	-	4 (30.8)
	F (9)	5 (55.6)	3 (33.3)	1 (11.1)	-	4 (44.4)
9	M (12)	4 (33.3)	5 (41.7)	1 (8.3)	2 (16.7)	8 (66.7)
	F (8)	4 (50)	3 (37.5)	-	1 (12.5)	4 (50)

10	M (20)	4 (20)	14 (70)	2 (10)	-	16 (80)
	F (11)	1 (9.1)	7 (63.6)	2 (18.2)	1 (9.1)	10 (90.9)
11	M (12)	3 (25)	7 (58.3)	2 (16.7)	-	9 (75)
	F (13)	5 (38.5)	5 (38.5)	2 (15.4)	1 (7.6)	8 (61.5)
Pooled (6-11)	M (86)	29 (33.7)	40 (46.5)	10 (11.6)	7 (8.2)	57 (66.3)
	F (61)	21 (34.4)	24 (39.3)	9 (14.8)	7 (11.5)	40 (65.6)
Pearson Chi-Square (χ^2)		1.11 (0.77)				
12	M (11)	3 (27.3)	6 (54.5)	2 (18.2)	-	8 (72.7)
	F (8)	3 (37.5)	3 (37.5)	2 (25)	-	5 (62.5)
13	M (12)	5 (41.7)	4 (33.3)	2 (16.7)	1 (8.3)	7 (58.3)
	F (7)	4 (57.1)	2 (28.6)	1 (14.3)	-	3 (42.9)
14	M (7)	2 (28.6)	3 (42.8)	-	2 (28.6)	5 (71.4)
	F (16)	7 (43.8)	7 (43.8)	2 (12.4)	-	9 (56.2)
15	M (9)	5 (55.6)	1 (11.1)	3 (33.3)	-	4 (44.4)
	F (7)	5 (71.4)	2 (28.6)	-	-	2 (28.6)
16	M (10)	8 (80)	1 (10)	-	1 (10)	2 (20)
	F (6)	3 (50)	3 (50)	-	-	3 (50)
17	M (5)	2 (40)	2 (40)	-	1 (20)	3 (60)
	F (9)	3 (33.3)	3 (33.3)	3 (33.3)	-	6 (66.6)
18	M (10)	6 (60)	3 (30)	1 (10)	-	4 (40)
	F (9)	6 (66.7)	1 (11.1)	1 (11.1)	1 (11.1)	3 (33.3)
Pooled (12-18)	M (64)	31 (48.4)	20 (31.3)	8 (12.5)	5 (7.8)	33 (51.6)
	F (62)	31 (50)	21 (33.9)	9 (14.5)	1 (1.6)	31 (50)
Fisher's Exact Test		2.58 (0.48)				

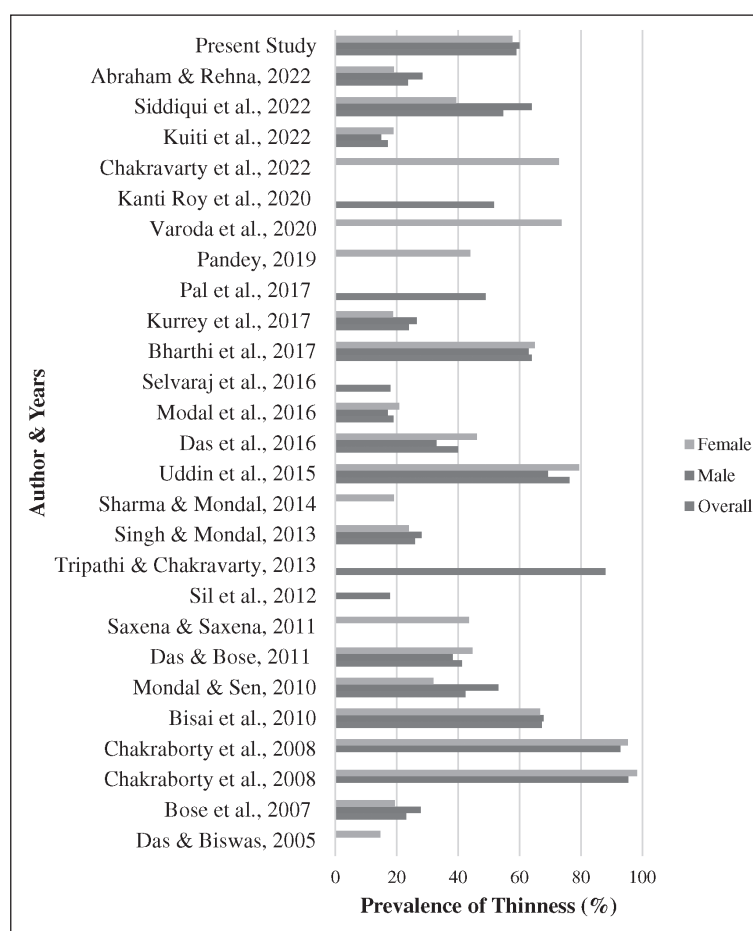
Thinness (BMI-for-age) based nutritional status is tabulated in the above table (2). Age combined analysis showed that total 66.3% male and 65.6 % female school going children was found thin. The prevalence of mild, moderate and severe thinness was observed as among male (46.5%, 11.6%, and 8.2%) and female (39.3%, 14.8% and 11.5%) respectively in the age group of 6-11 years. Similarly, 51.6% male and 50% female adolescents were found thin. In the age group of 12-18 years, the prevalence of thinness among male and female was as follows mild (31.3% vs 33.9%), moderate (12.5% vs 14.5%) and severe (7.8% vs 1.6%) respectively. There was no significant sexual difference exist in the prevalence of thinness among both school going children ($\chi^2 = 1.11$, $p \geq 0.05$) and adolescent ($\chi^2 = 2.58$, $p \geq 0.05$). Age specific interpretation showed that the overall prevalence of thinness was highest among 6-year-old male (86.7%) and 10-year-old female (90.9%) population.

IV. Discussion

In this study it was found that age and sex combined total 59% of studied population were found undernourished. Out of total 38.5% were mild thin, 13.2% were moderate

thin and 7.3% were found severe thin. Sex specifically more male (60%) population were suffering from thinness than female (57.7%); however, the difference was insignificant ($\chi^2 = 0.85$; $p = 0.83$). The prevalence of mild, moderate and severe thinness among male was 40%, 12 % and 8 % respectively. While, it was 36.6%, 14.6% and 6.5% respectively among female population. The prevalence of thinness was reported significantly ($\chi^2 = 8.06$; $p = 0.04$) higher among of school going children (50%) than adolescent (38%).

Figure 1: Comparing finding of present [thinness (%)] study with some other state and national studies

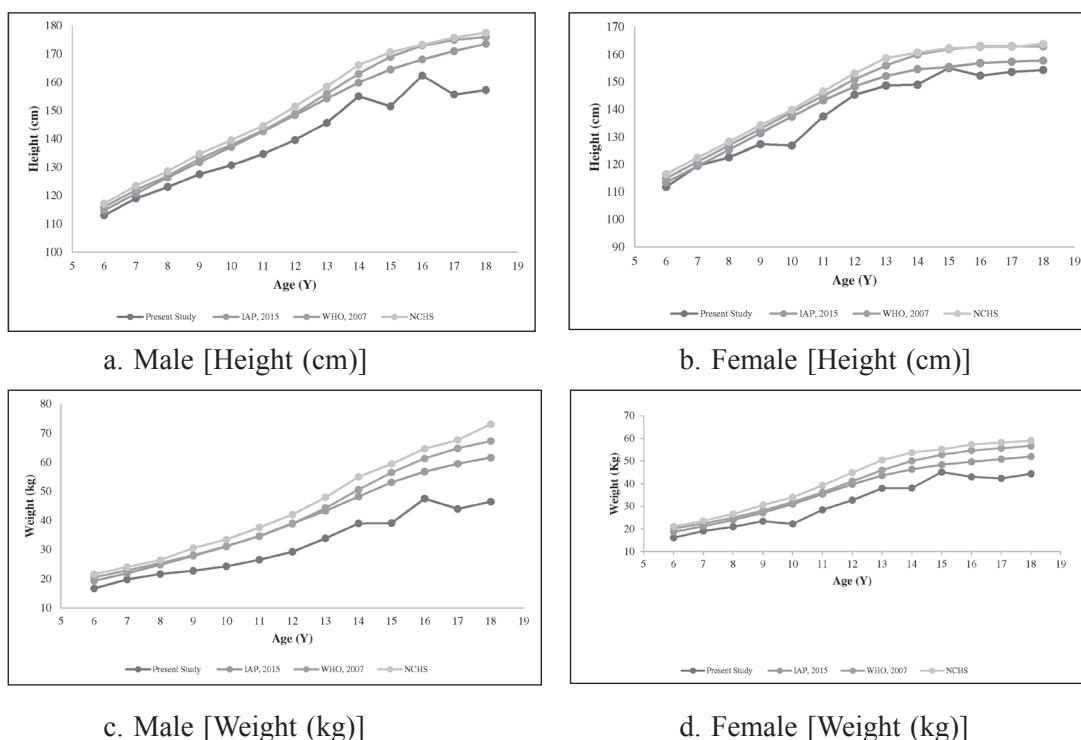


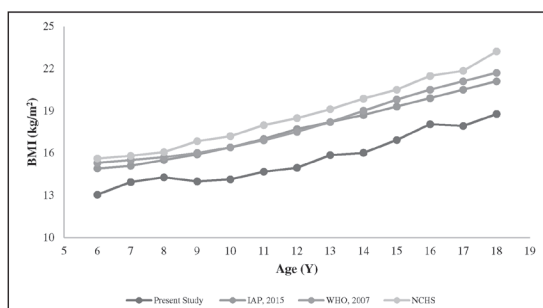
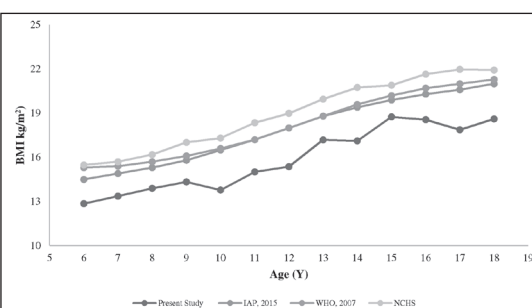
The figure (1) portrayed the findings of present study in comparison with some other studies conducted among children and adolescent. Among those included studies, only one study was conducted among male, few studies (nearly 6) were conducted only among female; while the other studies reported the prevalence of thinness in total and sex specifically also. Overall (age and sex combined) prevalence of thinness (59%) among studied population was found less the figure reported by Bharthi et al., 2017 (63.96%); Bisai et al., 2010 (67.2%); Uddin et al., 2015 (76.2%); Tripathi & Chakravarty, 2013 (88%) among Kolam,

Kora-Mudi, rural school going children and adolescent of Adilabad, Telangana; Medinipur, West Bengal; Unokoti, Tripura and Varanasi, Uttar Pradesh respectively. The findings of Kuiti et al., 2022 (17.05%); Selvaraj et al., 2016 (18%); Modal et al., 2016 (18.95%); Bose et al., 2007 (23.1%); Abraham & Rehna, 2022 (23.7%); Kurrey et al., 2017 (24%); Singh & Mondal, 2013 (25.99%); Das et al., 2016 (40%); Das & Bose, 2011 (41.3%); Mondal & Sen, 2010 (42.4%); Pal et al., 2017 (49%); Kanti Roy et al., 2020 (51.6%); and Siddiqui et al., 2022 (54.72%) were found less than the present study.

Sex specifically the prevalence of thinness among male Birhor (60%) was found lower than the Bharthi et al., 2017 (63%); Siddiqui et al., 2022 (64%); Bisai et al., 2010 (67.8%); Uddin et al., 2015 (69.3%); Chakraborty et al., 2008 (92.86%); and Chakraborty et al., 2008 (95.35%). Similarly, the prevalence of thinness among female (57.7%) population was again underlie than the finding of Bharthi et al., 2017 (64.9%) and Bisai et al., 2010 (66.7%). Chakravarty et al., 2022 (72.8%); Varoda et al., 2020 (73.7%); Uddin et al., 2015 (79.4%); Chakraborty et al., 2008 (95.24%); and Chakraborty et al., 2008 (98.28%) also established higher prevalence of thinness in their studies conducted among Baiga adolescent girls of Chhattisgarh, Rural adolescent girls of Tripura, and santal children of Jharkhand and West Bengal respectively. It is apparent from the figure (1) that the prevalence of thinness in maximum studies was lower than present finding, exhibiting that nutritional status of studied Birhor school going children and adolescent was very poor.

Figure 2: Comparison of mean height, weight, and BMI of studied population with standard reference



e. male [BMI (kg/m²)]f. Female [BMI (kg/m²)]

The above figures (2) showed the comparison of mean height, weight and BMI of studied population with standard reference (IAP, 2015; WHO, 2007 and NCHS). The mean height of male and female both were found lower than the national and international reference (as shown in figure a and b). The difference between mean height of male with standard reference was less in early ages (at the age of 6 year) but simultaneously the differences increase later as the age increases. The mean height of male was continuously increases up to age of 14 years. After which down and up pattern was observed. In comparison to male, the difference was not as much distinct among female. The difference was highest in the age of 10 year. It was observed that the height of female was continuously increases. The down fall was noticed only at the age 10 and 16 year.

The comparison of mean weight of study population with standard reference is shown in the figure c and d. The trend line among male was more or less similar to their height. The height was fell down in the age of 17 years. Among female the weight was fell down in the age of 10 and 16-17 years. But in the age of 13-14 year the weight showed steady growth.

Similar to height and weight, the mean BMI of study population is shown in the figure e and f. The difference between mean BMI of male and female and standard was little great. Among male the BMI was steady increases. But it was fell down at the age of 9 and 17 year. In comparison to male, the sudden fall in mean BMI was observed in the age of 10 and 17 year.

V. Conclusion

The study concluded that the nutritional status of studied Birhor school going children and adolescent is unsatisfactory. Almost sixty percent of studied population were found low BMI. Sex specifically, the prevalence of thinness was found higher among male than female counterpart. Age group specifically, greater proportion of school going children were found undernourished than adolescent. It is apparent from comparison of mean height, weight, and BMI with standard reference that growth pattern of studied population is lagging behind the national and international standard. Involvement children and adolescent in minor household work, low income generating occupation activity of parent, poor housing pattern near or

within forest packets and poor sanitation practices, food insecurity, wandering behavior, poor education and lack of nutritional knowledge etc. are probable factors behind poor nutritional status of studied population. Hence, it is very clear that they need immediate and special attention from both state and central government through policy and program to combat the high prevalence of under nutrition. Which poses serious burden and pulling their community to under development.

Acknowledgment

The authors show their gratitude to all the participants and their family, village and district authority and all others who were voluntarily and involuntarily participated in the study to help me out in data collection. We wish to thank Department of Anthropology for their instrumental support. We also want to thank Indian Council of Social Science Research (ICSSR), Ministry of Education, New Delhi for financial support in the form of full-term doctoral fellowship.

¹Department of Anthropology

Dr. Harisingh Gour University, Sagar
dhansayt@gmail.com

²Department of Anthropology

H. N. Bahuguna Garhwal University, Srinagar Garhwal
sarvendra2u@gmail.com (Corresponding Author)

³Department of Anthropology

Dr. Harisingh Gour University, Sagar
profansharma@gmail.com

References:

1. Abraham, R. J., & Rehna, T. (2022). Prevalence of Stunting and Thinness among School Going Early and Midadolescents of Idukki District in Rural Kerala: A Cross-sectional Study. *Journal of Clinical and Diagnostic Research*, 16(3), SC 11-15. <https://doi.org/10.7860/jcdr/2022/55079.16117>
2. Agarwal, K. N., Tripathi, A. M., Sen, S., & Katiyar, G. P. (1974). Physical growth at adolescence. *Indian Pediatrics*, 12(2), 93–97.
3. Bhargava, A. (1999). Modeling the effects of nutritional and socioeconomic factors on the growth and morbidity of Kenyan school children. *American Journal of Human Biology: The Official Journal of the Human Biology Council*, 11(3), 317–326. [https://doi.org/10.1002/\(sici\)1520-6300\(1999\)11:3<317::aid-ajhb4>3.3.co;2-j](https://doi.org/10.1002/(sici)1520-6300(1999)11:3<317::aid-ajhb4>3.3.co;2-j)
4. Bharthi, K., Ghritlahre, M., Das, S., & Bose, K. (2017). Nutritional status among children and adolescents aged 6 – 18 years of Kolam tribe of Andhra Pradesh, India. *Anthropological Review*, 80(2), 153–163. <https://doi.org/10.1515/anre-2017-0010>
5. Bisai, S., Ghosh, T., De, G. K., & Bose, K. (2010). Very High Prevalence of Thinness among Kora-Mudi Tribal Children of Paschim Medinipur District of West Bengal , India. *EJBS*, 3(1), 43–49.
6. Bose, K., Bisai, S., & Mukherjee, S. (2007). Anthropometric characteristics and nutritional status of rural school children. *Internet Journal of Biological Anthropology*, 2(1). <https://doi.org/10.5580/857>

7. Chakraborty, U., Chowdhury, S. D., Dutta, G., & Ghosh, T. (2008). A Comparative Study of Physical Growth and Nutritional Status in Santal Children of Ghatsila and Bolpur. *In Health and Nutritional Problems of Indigenous Populations* (Issue 2, pp. 79–86).
8. Chakravarty, M., Venugopal, R., Chakraborty, A., Mehta, S. K., & Varoda, A. (2022). A Study of Nutritional Status and Prevalence of Anaemia among the Adolescent girls and Women of Reproductive age of Baigatribe accessing Antenatal Clinic in Public Health Sector in Chhattisgarh, India. *Research Journal of Pharmacy and Technology*, 15(2), 598–604. <https://doi.org/10.52711/0974-360X.2022.00098>
9. Cole, T. J., Flegal, K. M., Nicholls, D., & Jackson, A. A. (2007). Body mass index cut offs to define thinness in children and adolescents: international survey. *BMJ (Clinical Research Ed.)*, 335(7612), 194. <https://doi.org/10.1136/bmj.39238.399444.55>
10. Das, D. K., & Biswas, R. (2005). Nutritional status of adolescent girls in a rural area of North 24 Parganas district, West Bengal. *Indian Journal of Public Health*, 49(1), 18–21.
11. Das, S., Bharathi, K., & Singh, H. S. (2016). Nutritional and Socio-Demographic Profile among Gond Tribe of Binouri Village, Bilaspur Chhattisgarh, (India). *In Indian Journal of research in Anthropology* 2(2).
12. Das, S., & Bose, K. (2011). Prevalence of thinness using new international cut-off points among Santal tribal children and adolescents of Purulia District , West Bengal , India. *Sri Lanka Journal of Child Health*, 40(3), 105–110.
13. Dewangan, H., Chakrabarty, S., & Mitra, M. (2010). A Cross Sectional Study of Physical Growth among the Abujhmara Children (6 - 18 years) living in Ashram School of Chhattisgarh, India. *The Asian Man*, 4(2), 41–47.
14. Goyle, A. (2009). Nutritional status of girls studying in a government school in Jaipur city as determined by anthropometry”. *Anthropologist*, 11(3), 225–227.
15. Griffiths, P. L., & Bentley, M. B. (2001). The nutrition transition is underway in India. *J Nutr*, 131(10).
16. Kanti Roy, P., Mandal, G. C., & Bose, K. (2020). Socio-economic and demographic influences on body mass index and thinness among rural tribal adolescent boys of kharagpur, west Bengal, India. *Haya The Saudi Journal of Life Sciences*, 5(9), 170–175. <https://doi.org/10.36348/sjls.2020.v05i09.004>
17. Khan, M. R., & Ahmed, F. (2005). Physical status, nutrient intake dietary pattern of adolescent female factory workers in urban Bangladesh. *Asia Pac J Clin Nutr*, 14(1).
18. Kuiti, B. K., Acharya, S., Satapathy, K. C., Barik, D. K., & Patra, P. K. (2022). Assessment of Nutritional Status Among Children and Adolescents of Juang Tribe in Keonjhar District of Odisha, India. *Oriental Anthropologist*, 22(2), 336–347. <https://doi.org/10.1177/0972558X221122945>
19. Kurrey, V. K., Lokesh, S., Rakesh, N., & Sharja, P. (2017). Study of health status and morbidity pattern in 5-18 years Birhor children: A primitive tribe of Chhattisgarh. *Indian Journal of Child Health*, 4(2), 180–183. <https://doi.org/10.32677/IJCH.2017.v04.i02.016>
20. Lakshman, A. (2023, December 7). No drop in Particularly Vulnerable Tribal Groups population, Centre tells Rajya Sabha. *The Hindu*. <https://www.thehindu.com/news/national/no-drop-in-pvtg-populations-centre-tells-rs-census-data-shows-significant-decline-in-at-least-nine-statesuts/article67611387.ece>
21. Lusky, A., Barell, V., Lubin, F., Kaplan, G., Layani, V., Shohat, Z., Lev, B., & Wiener, M. (1996). Relationship between morbidity and extreme values of body mass index in adolescents. *International Journal of Epidemiology*, 25(4), 829–834. <https://doi.org/10.1093/ije/25.4.829>
22. Maiti, S., De, D., Chatterjee, K., Jana, K., Ghosh, D., & Paul, S. (2011). Prevalence of stunting and thinness among early adolescent school girls of paschim medinipur district, west bengal. *International Journal of Biological & Medical Research*, 2(3), 781–783. http://www.biomedscidirect.com/236/prevalence_of_stunting_and_thinness_among_early_adolescent_school_girls_of_paschim_medinipur_district_west_bengal/articlescategories
23. Modal, N., Ronchehn, R., & Bharali, N. (2016). Prevalence of Thinness, Overweight and Obesity among Karbi Tribal Children aged 5-12 years of Karbi Anglong, Assam Northeast India. *In Human Growth and Nutrition: A Biocultural Synthesis* (pp. 99–120).
24. Mondal, N., & Sen, J. (2010). Prevalence of stunting and thinness among rural adolescents of Darjeeling district, West Bengal, India. *Italian Journal of Public Health*, 7(1), 54–61.

25. Pal, A., Pari, A. K., Sinha, A., & Dhara, P. C. (2017). Prevalence of undernutrition and associated factors: A cross-sectional study among rural adolescents in West Bengal, India. *International Journal of Pediatrics and Adolescent Medicine*, 4(1), 9–18. <https://doi.org/10.1016/j.ijpam.2016.08.009>
26. Pandey, A. (2019). Nutritional Status of Rural Adolescent School Girls in District Raigarh, Chhattisgarh. *International Journal of Recent Scientific Research*, 10(02), 30931–30934. <https://doi.org/10.24327/IJRSR>
27. Rajyapal Prativedan. (2018-19). “Chhattisgarh ke Anusuchit shhetron ke Prashashan par.” Chhattisgarh Shasan, Aadim Jati tatha Anusuchit Jati Vikash Vibhag. Atal Nagar, Jila Raipur, Chhattisgarh. Retrived from <<http://tribal.cg.gov.in/governor-reports>
28. Saxena, Y., & Saxena, V. (2012). Nutritional Status in Rural Adolescent Girls Residing at Hills of Garhwal in India (2009). *Journal of Medical Update*, 6(2), 3–8.
29. Scrimshaw, N. S., & SanGiovanni, J. P. (1997). Synergism of nutrition, infection, and immunity: an overview. *The American Journal of Clinical Nutrition*, 66(2), 464S–477S. <https://doi.org/10.1093/ajcn/66.2.464s>
30. Selvaraj, V., Sangareddi, S., Velmurugan, L., Muniyappan, U., & Anitha, F. S. (2016). Nutritional status of adolescent school children in a semi-urban area based on anthropometry. *International Journal of Contemporary Pediatrics*, 3(2), 468–472. <https://doi.org/10.18203/2349-3291.ijcp20161028>
31. Sharma, J., & Mondal, N. (2014). Prevalence of double nutrition burden among adolescent girls of Assam, Northeast India. *Journal of Nepal Paediatric Society*, 34(2), 132–137. <https://doi.org/10.3126/jnps.v34i2.10447>
32. Siddiq, O., & Bhargava, A. (1998). Health and nu- trition in emerging Asia. *Asian Dev Rev*, 10(1), 31–71.
33. Siddiqui, A., Priyanka, Kashyap, K., & Das, S. (2022). Anthropometric assessment of nutritional status among underprivileged children aged 6-12 years in Umariya Dadar and Rigwar Village, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh. *Antrocom Online Journal of Anthropology*, 18(2b), 539–544.
34. Sil, S. K., Saha, S., Roy, S., & Sarkar, S. R. (2012). Nutritional Status of Urban Tripuri Tribal Boys of Agartala, Tripura. *Anthropologist*, 14(2), 167–169.
35. Singh, A. (2020). Childhood Malnutrition in India. In *Perspective of Recent Advances in Acute Diarrhea*. IntechOpen
36. Singh, J., & Mondal, N. (2013). Assessment of nutritional status: A case of tribal children in Assam, Northeast India. *Journal of Nepal Paediatric Society*, 33(1), 1–7. <https://doi.org/10.3126/jnps.v33i1.7404>
37. State of world population report: UNFPA. (2023). Drishti IAS. Retrieved January 31, 2024, from <https://www.drishtias.com/daily-updates/daily-news-analysis/state-of-world-population-report-unfpa>
38. Tanner, J. M. (1962). Growth at adolescence: with a general consideration of the effects of hereditary and environmental factors upon growth and maturation from birth to maturity. Blackwell Scientific Publications.
39. Tripathi, S., & Chakravarty, A. (2013). Assessment of height, weight and BMI of school going children in Varanasi. *Asian Journal of Home Science*, 8(2), 496–498. <http://www.researchjournal.co.in/online/AJHS.html>
40. Uddin, M. J., Nag, S. K., & Sil, S. K. (2015). Anthropometric assessment of nutritional status of adolescents in Rural School of Unokoti District of Tripura, North-East India. *Anthropologist*, 19(1), 277–284. <https://doi.org/10.1080/09720073.2015.11891661>
41. Varoda, A., Venugopal, R., & Chakravarty, M. (2020). Growth and Nutritional Status of the Baiga Adolescent Girls-A Primitive Tribe of Chhattisgarh, India. *Indian Journal of Physical Anthropology and Human Genetics*, 39(2), 109–117.
42. Venkaiah, K., Damayanti, K., Nayak, M. U., & Vijayaraghavan, K. (2002). Diet and nutritional status of rural adolescents in India. *European Journal of Clinical Nutrition*, 56(11), 1119–1125. <https://doi.org/10.1038/sj.ejcn.1601457>

Critical Reflection on Electronic Evidence in the Bhartiya Sakshya Adhiniyam 2023

Vivek Dubey

Abstract:

In today's fast digitalising world, virtually every everyday activity takes place online, including shopping, entertainment, education, healthcare, and public and interpersonal interactions. For this very reason, the evidence presented in almost every case that comes before the court these days is primarily composed of fragments of digital evidence. The digital age has brought about a significant transformation in the legal process, bringing about a fundamental shift in the way evidence is presented and evaluated in the courtroom. As science and technology continue to evolve, it has presented courts and solicitors with new challenges when it comes to establishing the truth in cases involving the application of cutting-edge technological methods.

In regards to electronic evidence, India has demonstrated dynamism in addressing the issues posed by information technology advancements. Electronic records are now admissible as evidence in a court of law thanks to the Information Technology Act of 2000, which amended the Indian Evidence Act of 1872 (the "Evidence Act"). However, as technology has advanced, the existing legislation has not kept up with the demands on the admissibility of electronic evidence in India. Subsequent to a sequence of legal proceedings, the Supreme Court of India has adopted a differing stance regarding the protocols that oversee the admissibility of electronic evidence in India. The Indian Evidence Act of 1872 was totally replaced on July 1, 2024, by the Bhartiya Sakshya Adhiniyam, 2023, which was passed in order to address these issues.

This paper aims to critically analyse the salient features of the Bhartiya Sakshya Adhiniyam, 2023 and highlights the position of law in England with regard to electronic evidence and suggest changes in the existing provisions in light of recent judgments.

Keywords: Digital Evidence, Legal, Supreme Court, Bhartiya Sakshya Adhiniyam

Introduction

The Indian Evidence Act of 1872 is a crucial piece of legislation that governs the admissibility of evidence in Indian courts. It was enacted during British rule in India and has since then remained a cornerstone of the Indian legal system. The Act applies to all judicial proceedings in Indian courts, both civil and criminal. The Act was passed to guarantee a free

and fair trial, to bar wrongful evidence, and to ease out the process of the justice-delivering system by the court. Overall, the Indian Evidence Act plays a vital role in ensuring fair and transparent judicial proceedings by providing a framework for the admission and evaluation of evidence in Indian courts (Sarathi, 2006).

The Bhartiya Sakshya Adhiniyam, 2023 (BSA 2023), in India's legislative landscape, is of recent origin. It was introduced in Lok Sabha on the 11th of August, 2023. It modifies and aims to repeal the Indian Evidence Act of 1872. One of the primary purposes of the Act is to provide rules for the admissibility of evidence in legal proceedings (R.S. Rep. No. 248). The Adhiniyam retains several parts of the Act. However, it eliminates specific colonial allusions from the Act, broadens the scope of electronic records that can be accepted as evidence, and eliminates clauses pertaining to telegraphic messages. However, considering the increasing importance of electronic evidence in legal proceedings globally, including India, it's plausible that such a Adhiniyam could be proposed or introduced to address the admissibility and handling of electronic evidence in the Indian legal system. Electronic evidence typically refers to any information stored or transmitted electronically that is relevant to a legal proceeding. This can include emails, text messages, social media posts, digital images, videos, computer files, and other forms of digital data (Joshi, 2016).

In judicial jurisdictions, the admissibility and treatment of electronic evidence are governed by existing laws, rules of evidence, and judicial precedents. However, as technology evolves rapidly, there is often a need for specific legislation or amendments to existing laws to address the unique challenges and complexities associated with electronic evidence. Furthermore, the introduction of this Adhiniyam has ignited conversations and deliberations, which will be discussed in this article.

Procedure for admissibility of Electronic Evidence

Section 65A and Section 65B of the Indian Evidence Act 1872 are crucial provisions that specifically deal with the admissibility of electronic evidence (Indian Evidence Act, 1872). These sections were introduced through an amendment to the Indian Evidence Act in 2000 to address the challenges and complexities associated with electronic records. Here is a breakdown of these provisions:

Section 65A (Indian Evidence Act, 1872): "Special provisions as to evidence relating to electronic record."

"This section states that any information contained in an electronic record which is printed on a paper, stored, recorded or copied in optical or magnetic media produced by a computer shall be deemed to be a document." It establishes that electronic records may be admitted as evidence in any proceedings without further proof of the original, as long as the conditions laid down in Section 65B are met. Essentially, Section 65A recognizes electronic records as a form of documentary evidence and lays the groundwork for their admissibility.

Section 65B (Indian Evidence Act, 1872): "Admissibility of electronic records."

This section outlines the conditions that must be satisfied for the admissibility of electronic records as evidence in court proceedings. The conditions are as follows:

- I. The electronic record must be produced by the computer during the period over which the computer was used regularly to store or process information.
- II. The information contained in the electronic record must be accurately reproduced.
- III. The computer from which the record is produced must be shown to have been in a working condition at the relevant time.
- IV. The method of production of the electronic record must be proven by a person who is responsible for the operation of the computer or by a person who is in-charge of the management of the relevant activities.

It specifies that electronic records can be admitted as evidence only if accompanied by a certificate identifying the electronic record containing the statement and certifying that it was produced by the computer during the relevant period. Section 65B sets stringent requirements for the admissibility of electronic evidence to ensure its authenticity, accuracy, and reliability.

These provisions were introduced to adapt the Indian Evidence Act to the digital age and provide a framework for the admissibility of electronic evidence in legal proceedings. Compliance with the conditions laid down in Section 65B is essential for electronic records to be admissible in court, and failure to meet these requirements can result in the exclusion of such evidence.

Indian Judiciary and Electronic evidence

The journey of Indian Judiciary on admissibility of electronic evidence under Indian Evidence Act 1872 over 20 years making certification requirement under Section 65B of the Act from non-mandatory to mandatory in case of secondary electronic evidence had yet been settled with the passing of BSA 2023. Here are some notable judgments of Indian Judiciary in this regard which include the following landmark:

State (NCT of Delhi) v. Navjot Sandhu: This case, commonly known as the "Parliament Attack Case," involved the admissibility of electronic evidence, particularly intercepted phone conversations. The Supreme Court held that intercepted telephonic conversations, if properly authenticated and satisfying the requirements of Section 65B of the Indian Evidence Act, are admissible as evidence (NCT of Delhi v. Navjot Sandhu, 2005).

Anvar P.V. v. P.K. Basheer & Others: In this case, the Supreme Court laid down guidelines for the admissibility of electronic evidence under Section 65B of the Indian Evidence Act. The court emphasized the importance of compliance with Section 65B, including the requirement of a certificate accompanying electronic evidence (Anvar P.V. v. P.K. Basheer & Ors, 2014).

Tom Thomas v. State of Kerala: In this case, the Kerala High Court held that emails

and electronic documents can be admitted as secondary evidence under Section 65B of the Indian Evidence Act if the requirements of the provision are satisfied (Tom Thomas v. State of Kerala, 2022).

Shafhi Mohammad v. State of Himachal Pradesh: The Supreme Court in this case clarified that the certificate required under Section 65B(4) of the Indian Evidence Act must be issued by a person occupying a responsible official position in relation to the operation of the relevant device or the management of the relevant activities (Shafhi Mohammad v. State of Himachal Pradesh, 2018).

“New techniques and devices are the order of the day. Though such devices are susceptible to tempering, no exhaustive rule could be laid down by which the admission of such evidence may be judged. Standard of proof of its authenticity and accuracy has to be more stringent than other documentary evidence (Tukaram S. Dighole v. Manikrao Shivaji Kokate, 2010) (Tomaso Bruno v. State of U.P., 2015) (R. v. Robson, 1972).”

State (NCT of Delhi) v. Mohd. Afzal & Others: This case, also related to the Parliament Attack Case, dealt with the admissibility of electronic evidence in the form of computer printouts. The Supreme Court emphasized the importance of adherence to the procedural requirements for the admissibility of electronic evidence (State (NCT of Delhi) v. Mohd. Afzal & Others, 2003).

Arjun Pandit Rao Khotkar v. Kailash Kushanrao Gorantyal and Others

The Anvar P.V. case and the Shafhi Mohammad case were upheld by the Supreme Court in this case, and it was decided that the aforementioned certificate must be used in any case when the primary (original) electronic record is unable to be provided in court. Regarding the certificate requirements, it has been determined that the oath taken by the individual using and managing the device is void.

These cases highlight the evolving jurisprudence surrounding the admissibility of electronic evidence in Indian courts and provide guidance on the interpretation and application of relevant provisions of the Indian Evidence Act. It is important to note that each case may have its specific facts and circumstances affecting the court's decision on the admissibility of electronic evidence. (Arjun Pandit Rao Khotkar v. Kailash Kushanrao Gorantyal and Others (2020) 75cc I).

The Navjot Sandhu ruling marked the beginning of the process of interpreting S.65B of electronic evidence. The Supreme Court held in this case that the provisions pertaining to documentary evidence, specifically S. 59 to S. 65, can also be used to prove electronic evidence. When the initial evidence is difficult to move, as is the situation with large data servers and computers, S.65[d] makes the secondary evidence admissible.

Although S.65B is now a tool, the Supreme Court effectively stated that this does not preclude the use of other provisions, which are intended for documentary evidence. The mandate of S.65B was essentially voided by this ruling, as everyone began to adhere to

the system intended for documentary proof. After dominating the field for more than 10 years, Anvar PV issued a second ruling in 2015, completely overturning Navjot Sandhu and drawing attention to section 65B's non-obstante clause. The Supreme Court stated that S.65B's opening words, "notwithstanding anything contained in this act," by themselves entirely disregarded the applicability of any other sections, including those that dealt with the documentary evidence. The ratio had to adhere to the strictures of section 65B. As a result, section 65B observation became required (Anvar P.V. v. P.K. Basheer & Ors, 2014).

The pendulum once more shifted in 2018 when Shafhi Mohammad's ruling reduced the Anvar PV ratio by ruling that compliance with 65B cannot be enforced where electronic evidence originates from someone other than the computer/system's owner/operator. All the difficulties were resolved, nevertheless, when the Supreme Court ruled in Arjun Panditrao, upholding the court's decision in Anvar PV and criticising its dilution in Shafhi Mohammad (Shafhi Mohammad v. State of Himachal Pradesh, 2018).

Furthermore, in the landmark Supreme Court case Anvar P.V. v. P.K. Basheer, the admissibility of electronic evidence was called into question. It was decided in this instance that the Section 65B certificate requirement before the court is not always required and may be waived when it is in the best interests of justice. Later, in the historic Arjun Panditrao v. Kailash Kushanrao case before the Indian Supreme Court, this was rejected. It was decided in this instance that, in accordance with Section 65A's requirements, electronic recordings could only be admitted with a written and signed certificate; oral testimony could not be used to support the certificate. Consequently, it was contended and decided that VCDs could not be entered as evidence in the absence of such a signed certificate. The Indian Supreme Court holds that, regardless of the non-obstante clause, it is a necessary necessity to ensure justice and to remember that special law supersedes ordinary law.

Historical Premises of the Bhartiya Sakshya Adhiniyam, 2023

The Indian Evidence Act, 1872 (the "Evidence Act" IEA, 1872) was to be repealed and replaced by the Bharatiya Sakshya Adhiniyam, 2023, which was introduced in the Lok Sabha on August 11, 2023. On December 12, 2023, the Adhiniyam was withdrawn, and the Bharatiya Sakshya (Second) Adhiniyam, also known as the "Adhiniyam/Evidence," was introduced in its place with the same objectives. The Rajya Sabha approved the Adhiniyam on December 21, 2023, after it was approved by the Lok Sabha on December 20, 2023. On December 25, 2023, it was approved by the President. It will be referred to as the "Bharatiya Sakshya Adhiniyam, 2023" after announcement. (Shroff, 2024).

The Adhiniyam aims to offer general guidelines and standards for evidence in a fair trial. Additionally, it contains a number of provisions that look forward, like extending the definition of primary evidence to include electronic and digital records, defining evidence more broadly to include electronic and digital records, allowing electronic or digital records to be admitted into evidence, removing privileged communications between the President of India and then-Ministers from court proceedings, and providing certificates for the handling

of electronic and digital evidence, among other things. Compared to the 167 sections in the IEA, 1872, the Adhiniyam now has 170 clauses (Sarthi, 2006). The Adhiniyam aims to make electronic or digital records admissible as evidence in court. This will help to give electronic evidence the same legal status as evidence like paper documents.

Key changes proposed in the BSA 2023:

Documentary evidence: Under the IEA, a document includes writing, maps, and caricature. The BSA adds that electronic records will also be considered as documents. Documentary evidence includes primary and secondary evidence. Primary evidence includes the original document and its parts, such as electronic records and video recordings. Secondary evidence contains documents and oral accounts that can prove the contents of the original. The BSA retains this classification.

The definition of 'documents' has been expanded to include electronic or digital records on emails, server logs, documents on computers, laptop or smartphone, messages, websites, locational evidence and voice mail messages stored on digital devices. The definition of 'evidence' has been expanded to include any information given electronically which will enable the appearance of witnesses, accused, experts and victims through electronic means.

Oral evidence: Under the IEA, oral evidence includes statements made before Courts by witnesses in relation to a fact under inquiry. The BSA allows oral evidence to be given electronically. This would permit witnesses, accused persons, and victims to testify through electronic means. Section 22A of the Evidence Act dealing with oral evidence as to contents of electronic records has now been excluded from the Adhiniyam.

Primary Evidence: The definition of primary evidence has been expanded to include electronic or digital record which is created or stored, electronic or digital record produced from proper custody, video recording simultaneously stored in electronic form and transmitted or broadcast to another; and electronic or digital record stored in multiple storage spaces in a computer resource.

Secondary Evidence: The scope of secondary evidence has been expanded to include copies made from original by mechanical processes, copies made from or compared with the original, counterparts of documents as against the parties who did not execute them and oral accounts of the contents of a document given by some person who has himself seen it. It will also include oral admission when genuineness of the document itself is in question. Further, secondary evidence may be given when the existence, condition or content of the original is admitted in writing (NLSIU, 2023).

Admissibility of Electronic or Digital Record: A new section has been added to provide for admissibility of electronic or digital record.

Electronic Records- Provisions relating to Certificate

A certificate has been added in the schedule to authenticate and verify the contents of electronic records with riders that the conditions that computer must be regularly in use

for regular activities by person having lawful control over it, data was regularly fed in it, computer was working properly, etc. A proposal has been made to recognise matching of Hash# value of original record as proof of evidence to ensure the integrity of specific file and not the entire storage medium.

Section 2(1)(e) reads as under: "evidence" means and includes:

(i) statements or any information given electronically which the Court permits or requires to be made before it by witnesses in relation to matters of act under inquiry and such statements or information are

called oral evidence;

(ii) documents including electronic or digital records produced for the inspection of the Court and such documents are called documentary evidence.

Section 57 reads as under: Primary evidence means the document itself produced for the inspection of the Court. Four more Explanations have been added to the definition of "primary evidence" in Section 57, which corresponds to Section 62 as it now exists in the Act. When it comes to electronic records, the explanations make it clear what constitutes "primary evidence" (The BSA Act, 2023).

Explanation 1- Where a document is executed in several parts, each part is primary evidence of the document.

Explanation 2 - Where a document is executed in counterpart, each counterpart being executed by one or some of the parties only, each counterpart is primary evidence as against the parties executing it.

Explanation 3 - Where a number of documents are all made by one uniform process, as in the case of printing, lithography or photography, each is primary evidence of the contents of the rest; but, where they are all copies of a common original, they are not primary evidence of the contents of the original.

Explanation 4.—Where an electronic or digital record is created or stored, and such storage occurs simultaneously or sequentially in multiple files, each such file is primary evidence.

Explanation 5.—Where an electronic or digital record is produced from proper custody, such electronic and digital record is primary evidence unless it is disputed.

Explanation 6.—Where a video recording is simultaneously stored in electronic form and transmitted or broadcast or transferred to another, each of the stored recordings is primary evidence.

Explanation 7.—Where an electronic or digital record is stored in multiple storage spaces in a computer resource, each such automated storage, including temporary files, is primary evidence.

Explanation 5 to this section provides for treating electronic and digital records produced from proper custody, as primary evidence. It was submitted before the Committee that the

Adhiniyam has no mention about ensuring the maintenance of a proper chain of custody of digital and electronic records acquired during investigations. The provision of maintaining proper chain of custody has already been incorporated within the ambit of criminal laws in developed countries such as United States of America (USA) and United Kingdom (UK). It was suggested to the Committee that such provision may be included in the Adhiniyam in view of the susceptibility of electronic and digital records to tampering during the handling of evidence.

Section 61: “Nothing in this Adhiniyam shall apply to deny the admissibility of an electronic or digital record in the evidence on the ground that it is an electronic or digital record and such record shall, subject to section 63, have the same legal effect, validity and enforceability as other document.”

Section 62: “The contents of electronic records may be proved in accordance with the provisions of section 63.”

Section 62 - Special provisions as to evidence relating to electronic record

It reads as:

The contents of electronic records may be proved in accordance with the provisions of Section 59.

The Committee was informed that Section 62 of the Adhiniyam corresponds to Section 65A of the Indian Evidence Act, 1872. Section 59 mentioned under this section deals with proof of documents by primary evidence which is not applicable under this provision. On comparing Section 62 of the Adhiniyam to Section 65A of the IEA, it can be inferred that Section 65B so mentioned in the text of Section 65A of the Act, which deals admissibility of electronic records and it co-relates with Section 63 instead of section 59 of the new Adhiniyam (BSA Act, 2023).

As per it, the manner of proving electronic evidence is mentioned in Section 65B and Section 65B discusses the admissibility of electronic records. In other words, how an electronic record can be made admissible before the court of law is mentioned in Section 65B. It mentions certain requirements which must be fulfilled and then only electronic evidence can be made admissible.

Section 63: *(1) Notwithstanding anything contained in this Adhiniyam, any information contained in an electronic record which is printed on paper, stored, recorded or copied in optical or magnetic media or semiconductor memory which is produced by a computer or any communication device or otherwise stored, recorded or copied in any electronic form (hereinafter referred to as the computer output) shall be deemed to be also a document, if the conditions mentioned in this section are satisfied in relation to the information and computer in question and shall be admissible in any proceedings, without further proof or production of the original, as evidence or any contents of the original or of any fact stated therein of which direct evidence would be admissible.*

(2) *The conditions referred to in sub-section (1) in respect of a computer output shall be the following, namely:—*

(a) *the computer output containing the information was produced by the computer or communication device during the period over which the computer or communication device was used regularly to create, store or process information for the purposes of any activity regularly carried on over that period by the person having lawful control over the use of the computer or communication device;*

(b) *during the said period, information of the kind contained in the electronic record or of the kind from which the information so contained is derived was regularly fed into the computer or communication device in the ordinary course of the said activities;*

(c) *throughout the material part of the said period, the computer or communication device was operating properly or, if not, then in respect of any period in which it was not operating properly or was out of operation during that part of the period, was not such as to affect the electronic record or the accuracy of its contents; and*

(d) *the information contained in the electronic record reproduces or is derived from such information fed into the computer or communication device in the ordinary course of the said activities.*

(3) *Where over any period, the function of creating, storing or processing information for the purposes of any activity regularly carried on over that period as mentioned in clause (a) of sub-section (2) was regularly performed by means of one or more computers or communication device, whether—*

(a) *in standalone mode; or*

(b) *on a computer system; or*

(c) *on a computer network; or*

(d) *on a computer resource enabling information creation or providing information processing and storage; or*

(e) *through an intermediary,*

all the computers or communication devices used for that purpose during that period shall be treated for the purposes of this section as constituting a single computer or communication device; and references in this section to a computer or communication device shall be construed accordingly.

(4) *In any proceeding where it is desired to give a statement in evidence by virtue of this section, a certificate doing any of the following things shall be submitted along with the electronic record at each instance where it is being submitted for admission, namely:—*

(a) *identifying the electronic record containing the statement and describing the manner in which it was produced;*

(b) giving such particulars of any device involved in the production of that electronic record as may be appropriate for the purpose of showing that the electronic record was produced by a computer or a communication device referred to in clauses (a) to (e) of sub-section (3);

(c) dealing with any of the matters to which the conditions mentioned in sub-section (2) relate, and purporting to be signed by a person in charge of the computer or communication device or the management of the relevant activities (whichever is appropriate) and an expert shall be evidence of any matter stated in the certificate; and for the purposes of this sub-section it shall be sufficient for a matter to be stated to the best of the knowledge and belief of the person stating it in the certificate specified in the Schedule.

(5) For the purposes of this section,—

(a) information shall be taken to be supplied to a computer or communication device if it is supplied thereto in any appropriate form and whether it is so supplied directly or (with or without human intervention) by means of any appropriate equipment;

(b) a computer output shall be taken to have been produced by a computer or communication device whether it was produced by it directly or (with or without human intervention) by means of any appropriate equipment or by other electronic means as referred to in clauses (a) to (e) of sub-section (3).

It is Section 63 (Admissibility of electronic records) of the Bhartiya Sakshya Adhiniyam which replaces Section 65B (Admissibility of electronic records) of the Indian Evidence Act 1872 and not Section 59 (Proof of documents by primary evidence.) Mentioning Section 59 in Section 62 appears to be a discrepancy because now the definition of document as per Section of the Bhartiya Sakshya Adhiniyam 2023 includes “electronic and digital records.” Hence, they can be admitted as primary evidence under Section 59. But Section 62 of the Bhartiya Sakshya Adhiniyam 2023 is a special provision for the succeeding Section 63, which talks about the manner which is to be followed (“may be proved in accordance with”) for proving electronic evidence. It is Section 63 of the Bhartiya Sakshya Adhiniyam 2023 which has provisions discussing in detail the manner for proving electronic evidence and not Section 59.

If Section 62 is to be considered correct, then there is no point of having Section 63 because if all electronic records may be proved in accordance with the provisions of Section 59, then what is the purpose of having Section 63 altogether? Hence, this seems to be a discrepancy which may be rectified by replacing Section 59 with Section 63 in Section 62 of the Bhartiya Sakshya Adhiniyam 2023.

Admissibility of electronic or digital records as evidence: Documentary evidence includes information in electronic records that have been printed or stored in optical or magnetic media produced by a computer. Such information may have been stored or processed by a combination of computers or different computers. The BSA provides that electronic or digital records will have the same legal effect as paper records. It expands electronic records to include information stored in semiconductor memory or any communication devices

(smartphones, laptops). This will also include records on emails, server logs, smartphones, locational evidence and voice mails.

Secondary evidence: The BSA expands secondary evidence to include: (i) oral and written admissions, and (ii) the testimony of a person who has examined the document and is skilled in the examination of documents. Under the Act, secondary evidence may be required under various conditions, such as when the original is in the possession of the person against whom the document is sought to be proved or has been destroyed. The BSA adds that secondary evidence may be required if the genuineness of the document itself is in question.

Digital signatures: Section 45 of the Evidence Act has been modified, and the new provision specifies that the opinion of examiner of electronic evidence as per Section 79A of the IT Act shall be a relevant fact for information stored digitally. Further, provisions related to opinions concerning handwriting and digital signature previously contained under Sections 47 and 47A of the Evidence Act have been clubbed under a single section without alteration to wording. Consequentially, it may be now open for courts to consider the opinion of persons acquainted with someone's handwriting as well as their digital signature.

Key Issues and Analysis of Electronic evidence under the BSA

Documentary evidence is categorised as primary or secondary evidence under the IEA. The original document is referred to as primary evidence, whilst documents that support the original's contents are considered subsidiary evidence. In certain situations, such as when the original has been destroyed or is in the possession of the individual against whom the document needs to be proven, secondary evidence may be needed. Caricatures, writing, and maps are all included in documents. The BSA keeps these clauses and expands the definition of documents to include electronic records.

The IEA outlines the process for admitting electronic documents as secondary evidence and permits their admission. The BSA clarifies that, unless there is a dispute, electronic records obtained from proper custody will be regarded as primary evidence. Each file containing electronic records will be regarded as primary evidence if they are kept in numerous files. Additionally, it broadens the definition of electronic records to encompass data kept on cellphones or in semiconductor memory, such as voicemails, emails, and location data. There are two problems with admitting electronic documents as primary evidence.

First, tampering with digital records: The Supreme Court acknowledged in 2014 that electronic documents are vulnerable to manipulation and tampering (*Anvar P.V. v. P.K. Basheer & Ors*, 2014). The Standing Committee on Home Affairs (2023) noted the significance of protecting the authenticity and integrity of electronic and digital records as they are prone to tampering. The BSA provides for the admissibility of electronic records and gives the Court discretion to consult an Examiner of Electronic Evidence to form an opinion on such evidence. However, no safeguards are provided to ensure that electronic records are not tampered with during the search and seizure or investigation process. Without adequate safeguards, the trial based solely on the evidence of electronic records could result in a travesty of justice (*R.S. Rep.*

No. 248). It suggested requiring that all digital and electronic records gathered as proof during an inquiry be processed and managed securely using the appropriate chain of custody.

In 2021, the Karnataka High Court introduced guidelines for minimum safeguards during the search and seizure of electronic records (*Mr. Virendra Khanna v. State of Karnataka*, 2021). These include: (i) ensuring that a qualified forensic examiner accompanies the search team, (ii) prohibiting the Investigating Officer from using the seized electronic device during search and seizure of electronic records, and (iii) seizing any electronic storage device (such as pen drives or hard drives) and packing them in a Faraday bag.

The objective of the Draft Directive Proposal for a Mutual Admissibility of Evidence and Electronic Evidence in Criminal Proceedings within the European Union is to create consistent minimum requirements for the utilisation of electronic evidence. Important guidelines include: (i) requiring electronic evidence to be used only in cases where there is sufficient proof that it has not been falsified or manipulated; (ii) making sure that evidence is adequately protected against manipulation from the point of production to the chain of custody; and (iii) requiring IT experts to be involved at the accused's request. In the US, the record's proponent is required to present ample proof of its validity (*The Federal Rule of Evidence*, 1975). Documents produced by electronic processes or systems, as well as data extracted from them, require certification from a recognised person.

Second, it might not always be clear if electronic recordings are admissible. Electronic records are included in the definition of documents by the BSA section 2(i) (e). It keeps the IEA's requirement that all papers be admitted as primary evidence unless they meet the criteria for secondary evidence (original has to be shown against the person it is meant to prove, or has been destroyed). It does, however, still include the need that all electronic records be authenticated by a certificate in order for them to be accepted as legal papers. The effects of this supersede those of other provisions. These modifications might create uncertainty about whether electronic records are admissible.

The Standing Committee on Home Affairs (2023) observed that the BSA specifies that electronic records must be proven by primary evidence, while also retaining the section on the admissibility of electronic records by certificate authentication. It recommended proving electronic records in accordance with the section on the admissibility of electronic records by a certificate.

Issues with electronic evidence Under the BSA

The current legal system was ill-prepared for the rapid advances in technology and the constantly changing landscape of electronic evidence. The necessity for new legislation to handle electronic evidence on par with some other nations is repeatedly highlighted by numerous High Courts and even the Supreme Court. The Madras High Court has emphasised the necessity for new legislation in a ruling, citing the Yuvraj P. Navrankar book on electronic evidence (Navrankar, 2022).

Section 65B has taken on a new form as Section 63. It is a precise duplicate of S.65B.

As a result, the non obstante phrase even prominently appears in the first line of section 63. "Notwithstanding anything contained in this act..." is how it opens. Consequently, all previous sections, including sections 61 and 62, are superseded by this non-obstante provision. Thus, it would seem that this means that while handling electronic records, one needs to use only section 63. As a result, Section 61's attempt to equate the electronic evidence with the documentary evidence is no longer valid.

Additionally, because of the non-obstante clause, the Supreme Court may once more construe this section to mean that it supersedes all other provisions, as it did in the Arjun Panditrao ruling.

The confrontation between the two sections would actually be far more brutal and intense this time. Section 65B's non-obstante clause had nothing to oppose it in the previous statute. But in its current form, section 61's equally powerful opening lines—"Nothing in this Adhiniyam shall apply to deny the admissibility of an electronic record on the ground that it is an electronic record and such record shall have the same legal effects, validity, and enforceability as paper records"—provide a worthy opponent to the non-obstante clause. The word 'nothing' has the ability to annul the effect of non obstante clause appearing in section 63 and vice versa.

It is futile to ask which of the titans—notwithstanding or nothing—will win in their titanic battle. Section 65A of the prior Act provided guidance by unambiguously paving the way for the presentation of electronic evidence in compliance with section 65B. According to section 65B, the contents of an electronic record may be proven. A thin distinction between the regimes of documentary and electronic evidence was made in this section.

Section 61, on the other hand, is exactly the opposite; rather than drawing the boundary, it imports the sections pertaining to documentary evidence into the electronic evidence regime, confusing the two jurisprudences. By itself, Section 61 has the ability to resolve the issues. Section 63 on its own may have addressed the problems. But the greatest fight ever will result from both holding the pitch. Section 61 vs. 63 will continue to dominate courtrooms in the future, but with considerably more mayhem and uncertainty. The worst part is that uncertainty will return as a result of this.

Conclusion and Suggestions

In the digital age, where information flows freely across borders and technology evolves at a rapid pace, the need for robust legal frameworks to govern electronic evidence is paramount. Recognizing this necessity, the Bhartiya Sakshya Adhiniyam 2023 aims to provide a comprehensive framework for the admission and authentication of electronic evidence in legal proceedings. Overall, the Adhiniyam is progressive. The changes made in providing admissibility of electronic evidence aim to better fairness and equity. But in the light of a recent ruling, the Madras High Court (Imranullah, 2023) cited the Yuvraj P.

Navrankar book on electronic evidence and emphasised the need for new legislation has not been fulfilled with regard to electronic evidence under the BSA.

Further Section 63 of the BSA which is replica of Section 65 B of the Indian Evidence Act makes the colonial legacy of the legislation carry over to present time.

The Bhartiya Sakshya Adhiniyam addresses electronic evidence, among other things, in sections 61, 62, and 63. Section 61, which surprisingly holds electronic evidence on par with documentary evidence and states that "Nothing in this act can be used to deny the admissibility of electronic record, and the electronic record shall have the same legal effect, validity, and enforceability as paper record," remarkably restores Navjot Sandhu's position. Take note of how this section comes first, with the term "Nothing." Section 62 provides additional support for this stance by stating that electronic records can be proven in compliance with section 59's guidelines (the section pertaining to documentary proof).

Here we have a serious issue and the start of a puzzle. The position is outlined in Section 63 and is consistent with Arjun Panditrao. [which is completely at odds with the one established by the Navjot Sandhu and restored in Section 61].

Firstly, A separate chapter for electronic evidence should be inserted under the BSA though the same was quite necessary considering the magnitude and the growing importance of the electronic evidence. Numerous High Courts have often emphasized—as has the Supreme Court—the necessity for new legislation to handle electronic evidence on par with certain other nations. For example Countries like Canada (Uniform Electronic Evidence Act, 1998) and South Africa (South Africa Electronic Communication and Transactions Act, 2002) have enacted separate laws for electronic evidence.

Secondly, the BSA at present only renumbered few provisions of electronic evidence instead of creating a whole chapter in the legislation.

Thirdly, Legislators must not forget that the laws can be good or bad, but they must be certain. Confrontation of section 61 and 63 on admissibility of electronic evidence can be resolved by negating section 63 as non-obstante clause (This section is still based on UK Civil Evidence Act 1968 which has become obsolete in UK with the passing of Civil Evidence Act 1995) and affirming section 61 to equate documentary evidence with electronic evidence while excluding the certification requirement as an outdated method of authentication like UK under the civil evidence Act 1995.

Fourthly, Electronic evidence is not only a principal category in itself but deserved independent treatment under the law of evidence. An electronic record does not stand in parallel with an ordinary document. Because of this distinction between a paper document and an electronic document, mere introduction of the concept of the electronic record was not sufficient. The tools and measures to verify their authenticity, source, time of its origin or creation or its discovery in course of trial, manner of its impeachment ought to have been simultaneously introduced in procedural statutes like CPC 1908 and the Bhartiya Nagrik Suraksha Sanhita 2023.

Lastly, the Bhartiya Sakshya Adhiniyam, 2023 could potentially address various aspects related to electronic evidence, such as:

Admissibility: Clarifying the conditions under which electronic evidence is admissible in court proceedings, including authentication requirements and standards for reliability.

Collection and Preservation: Establishing procedures for the collection, preservation, and handling of electronic evidence to ensure its integrity and authenticity.

Chain of Custody: Defining requirements for maintaining a chain of custody for electronic evidence to demonstrate its integrity and prevent tampering or alteration.

Privacy and Data Protection: Addressing concerns related to privacy and data protection when dealing with electronic evidence, including safeguards for sensitive personal information.

Expert Testimony: Providing guidelines for the qualification and testimony of experts who analyze and interpret electronic evidence in court.

Cross-border Issues: Addressing jurisdictional and legal challenges associated with electronic evidence that may be stored or transmitted across national borders.

Court Procedures and Technology: Updating court procedures and infrastructure to accommodate the presentation and examination of electronic evidence effectively.

It's essential to note that any Adhiniyam or legislation concerning electronic evidence would need to be carefully crafted to balance the need for efficient and fair administration of justice with the protection of individual rights and privacy. Additionally, it would need to consider international best practices and standards in this rapidly evolving field.

School of Law

Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (Madhya Pradesh)
vivekdub@gmail.com

References:

1. *Anvar P.V. v. P.K. Basheer & Ors.* (2014) 10 SCC 473.
2. *Arjun Pandit Rao Khotkar v. Kailash Kushanrao Gorantyal and others*, (2020) 7 SCC 1.
3. Available at: <https://prsindia.org/billtrack/prs-products/prs-legislative-brief-1702469422#:~:text=In%20the%20European%20Union%2C%20the,the%20use%20of%20electronic%20evidence> (Accessed: 01 March 2024).
4. Civil Appeal No. 4226 of 2012, *Anvar P.V. v. P.K. Basheer*, Supreme Court, September 18, 2014.
5. Civil Appeal No. 4226 of 2012, *Anvar P.V. v. P.K. Basheer*, Supreme Court, September 18, 2014.
6. Clause 57 of the Bharatiya Sakshya Bill 2023.
7. Clause 62 of the Bharatiya Sakshya Bill 2023.
8. ELI Proposal for a Directive of the European Parliament and the Council on Mutual Admissibility of Evidence and Electronic Evidence in Criminal Proceedings, The European Law Institute.

9. Faraday bags block the transmission of electromagnetic signals, which can disrupt or destroy data stored in the device.
<https://www.thehindu.com/news/national/tamil-nadu/madras-high-court-impresses-upon-need-for-a-new-legislation-on-presentation-of-electronic-evidence-in-criminal-cases/article66927223.ece>
10. Navrankar, Y.P. (2022) *Electronic Evidence in the Courtroom: A Lawyer's Manual* Vol 1. 1st edn. New Delhi: Lexis Nexis.
11. Nayan Joshi, *Electronic Evidence* (Kamal Publishers, New Delhi 2016).
12. *NCT of Delhi v. Navjot Sandhu* (2005) 11 SCC 600.
13. Parliament of India Rajya Sabha. Available at: https://sansad.in/getFile/rsnew/Committee_site/Committee_File/ReportFile/15/188/248_2023_11_16.pdf?source=rajyasabha (Accessed: 01 Feb. 2024).
14. Parliament of India Rajya Sabha. Available at: https://sansad.in/getFile/rsnew/Committee_site/Committee_File/ReportFile/15/188/248_2023_11_16.pdf?source=rajyasabha (Accessed: 01 Feb. 2024).
15. Rule 901-902, *The Federal Rule of Evidence*, The United States of America.
16. Section 65A and 65B of the Indian Evidence Act, 1872, form a complete code governing the admissibility of electronic evidence under the Indian Legal System.
 Section 65A of the Indian Evidence Act, 1872.
 Section 65B of the Indian Evidence Act, 1872.
Shafhi Mohammad v. State of Himachal Pradesh (2018) 5 SCC 311.
Shafhi Mohammad v. State of Himachal Pradesh (2018) 5 SCC 311.
 Shroff, C. et al. (2024) *The Bharatiya Sakshya Bill, 2023: An overview of the changes to Indian Evidence Act, 1872* (3/3), Lexology. <https://www.lexology.com/library/detail.aspx?g=8ca4eb70-8e3f-4da8-a3a9-61b28e6e2aaa>
17. *State (NCT of Delhi) v. Mohd. Afzal & Others* (2003) 71 DRJ 178 (DB): 2003 SCC OnLine Del 935.
18. *The Bharatiya Sakshya Bill, 2023* (2024) PRS Legislative Research. Available at: <https://prsindia.org/billtrack/the-bharatiya-sakshya-bill-2023> (Accessed: 24 Feb. 2024).
19. *Tom Thomas v. State of Kerala* WP (C) No. 16324 of 2022.
20. *Tukaram S. Dighole v. Manikrao Shivaji Kokate* (2010) 4 SCC 329; *Tomaso Bruno v. State of U.P.* (2015) 7 SCC 178; *R. v. Robson*, (1972) 2 All ER 699.
21. Vepa P. Sarthi, *Law of Evidence* (Eastern Book Co. 6th ed., 2006).
22. Writ Petition No. 11759 of 2020, *Mr. Virendra Khanna v. State of Karnataka*, Karnataka High Court, March 12, 2021.

Motherhood and Resistance in Amrita Pritam's *Pinjar*

Mitali Mishra¹, Surbhi Saraswat², Krishna Menon³

Abstract:

This article analyses Amrita Pritam's novel *Pinjar* through the framework of motherhood studies. It places the story in the historical context of the Partition and Recovery Operation and focuses on how women are constructed as subjects by competing discourses of family, community, and state. The distinction between mothering as an experience and motherhood as a patriarchal institution is used to see whether empowered mothering is at all possible. It looks at two aspects of the protagonist Pooro's mothering. In her mothering of Javed, the essay locates maternal ambivalence and analyses the politics of this ambivalence. Through the act of adopting the mad woman's son, Pooro's experiences reflect and evoke the debates that surrounded the citizenship and belonging of children born to 'recovered' women.

Keywords Partition, Recovery Operation, Agency, Maternal Ambivalence, Empowered Mothering.

Introduction

This article analyses Amrita Pritam's novel *Pinjar* from the discursive lens of motherhood studies, a term used by Andrea O'Reilly in 2006 to demarcate a separate discipline of study. Motherhood studies build on Adrienne Rich's seminal work *Of Woman Born: Motherhood as Experience and Institution*, in which she distinguishes between motherhood as an institution and mothering as a practice. Her distinction highlights the difference between the socially constructed ideal of motherhood and the lived experience of mothering. It highlights how the institution of motherhood is produced through many intersecting economic, social, religious, and cultural forces.

Amrita Pritam's acclaimed novel *Pinjar* was written in Punjabi in 1950 and translated as *The Skelton* into English by Khushwant Singh. The novel revolves around Pooro, a fifteen-year-old Hindu girl in Chatto, Punjab in British India. Due to a rivalry between "Shaikhs and Sahukars" in the previous generation, she is abducted by a Muslim man Rashida and forcibly married to him (Pritam, 1987, p.17). A few years later, India is partitioned into two countries and Pooro finds herself living in Pakistan as Hamida. She settles into life in Sakkar village as a wife and mother. Later, she sees, smells and hears the bloodshed and violence accompanied by rape, humiliation and abduction of women that characterised India's Partition in 1947.

She gets to know that Lajo, her ex-fiancé Ram Chand's sister and now her brother's wife, has been abducted and sets out to rescue her and send her back to India.

Amrita Pritam is counted in the pantheon of India's top acclaimed, prolific writers and is much-awarded¹. This essay focuses on two different aspects of mothering that Pooro's character embodies and analyses the significance of those aspects. Pooro has a biological son Javed, and she adopts an unnamed boy. We suggest that both these modes of mothering are a powerful part of Pooro's trajectory and serve an important function in linking Pooro's story with the larger discourse of India's partition. In her mothering of Javed, the essay locates maternal ambivalence and analyses the politics of this ambivalence. Through the act of adopting the mad woman's son, whom the village Hindus take back and then leave at her doorstep half dead, Pooro's experiences reflect and evoke the debates that surrounded the citizenship and belonging of children born to women forced into marriages or raped and abducted during Partition. The next section analyses the text closely to see the significance of the twin aspects of Pooro's mothering.

Maternal Ambivalence

The novel starts at the point where Pooro is pregnant with her first child. She is shelling peas and is revulsed by a slug she finds in one of the pods. As her body physically recoils at the touch and sight of the slug, she compares her body to a "pea-pod inside which she carried a slimy white caterpillar." (Pritam, 1987, p.1) She wanted to "take the worm out of her womb and fling it away! Pick it out with nails as if it were a thorn! Pluck it off as it were a maggot or a leech...!" (p.1). The visceral hatred of a mother for her unborn child is communicated through this imagery. Later the third-person narratorial voice tells the reader that when Pooro/Hamida is feeding the child at her breast- "Hamida felt as if the boy was drawing the milk from her veins and was sucking it out with force, just as his father had used force to take her. All said and done, he was his father's son, this father's flesh and blood and shaped like him. He had been planted inside her by force, nourished inside her womb, against her will- and was now sucking the milk from her breasts, whether she liked it or not." (p.35). Her hatred for her son is expressed in no uncertain terms. She associates her newborn with the father and indeed with all men. "This boy...this boy's father...all mankind...all men...men who gnaw a woman's body like a dog gnawing a bone and like a dog consuming it" (p.35). She directly attacks men who perpetrate violence on women and in her anguish implicates her husband and son in that category.

But soon other emotions surge in Hamida for her son. On the fourth day, when Hamida breastfeeds her son, "A strange strong emotion welled up in Hamida's bosom." She wants to hold her child close and cry to her heart's content. "The boy was a toy made of her own blood, a statue carved out of her own flesh" (p.34). She does not care if she never sees the face of her parents who disowned her or the face of her brothers or sisters if she can continue to gaze at her son. "Out of this conflict of hate and love, love and hate, were born Hamida's son and Hamida's love for her husband, Rashida" (p.35). This ambivalence towards her son Javed seen in the text is a classic case of the same maternal ambivalence that

Adrienne Rich describes regarding her children in *Of Woman Born* (1976). Rich wrote the following lines on bringing up her children, providing a powerful insight into the systemic concerns of the time. She wrote- "My children cause me the most exquisite suffering of which I have any experience. It is the suffering of ambivalence: the murderous alternation between bitter resentment and raw-edged nerves, and blissful gratification and tenderness. Sometimes I seem to myself, in my feelings toward these tiny guiltless beings, a monster of selfishness and intolerance... I love them. But it's in the enormity and inevitability of this love that the sufferings lie" (Rich, 1976, p.1).

Maternal ambivalence has been addressed by psychologists in great depth. Sigmund Freud's (1971) psychoanalytic theory suggests that ambivalence is a natural part of human relationships, especially in the parent-child dynamic. Freud posited that ambivalence arises from the inherent conflict between the child's need for care and the mother's need for self-preservation. Donald Winnicott (2016) introduced the concept of the "good enough mother," who provides sufficient care without being perfect. He suggested that maternal ambivalence is part of being a good enough mother, as it reflects a realistic engagement with the child's needs and the mother's limitations. Melanie Klein (1997) argued that infants experience ambivalence towards their primary caregiver (usually the mother) due to the simultaneous need for and frustration with the caregiver. This early ambivalence is a fundamental aspect of psychological development, influencing later relationships. Sara Ruddick in *Maternal Thinking: Toward a Politics of Peace* (1989) views maternal ambivalence as a conflict between the demands of nurturing and the desire for autonomy. Ruddick emphasizes that this ambivalence is shaped by societal expectations and the mother's ongoing negotiation of her identity. Roszika Parker's theory, detailed in *Torn in Two: The Experience of Maternal Ambivalence* (2005), integrates psychoanalytic and feminist perspectives. She argues that maternal ambivalence is a natural and inevitable part of mothering due to the inherent conflicts in the mother-child relationship. Parker highlights the role of social and cultural factors in exacerbating or mitigating these feelings.

Writing specifically about children born in war or conflict in *Born of War: Protecting Children of Sexual Violence Survivors in Conflict Zones*, Charli Carpenter addresses maternal ambivalence as the simultaneous coexistence of positive and negative feelings that mothers have towards their children born of sexual violence. This ambivalence is deeply rooted in the traumatic circumstances of conception and the sociocultural stigmatization that follows. "The psychological scars left by sexual violence profoundly affect maternal feelings, creating a painful dichotomy where the child is both a victim and a reminder of the trauma" (Carpenter, 2010, p.12). In 1968 in Pritam's interview with *Mahfil*, the interviewer noted that the novel *Pinjar* begins with an allusion to the unborn child as a scar. The brevity of Pritam's response is noteworthy- "Yes, the child born from the man who's abducted her" (Coppola, 1968, p.14). Her acceptance of maternal hatred and ambivalence is remarkable. She finds no reason to make excuses for the hatred of the mother toward the unborn child beyond the circumstances of its conception.

In her book *Motherhood and Choice* (2017), Amrita Nandy uses the term mater-normativity

to connote a “body of norms that assume, expect and oblige females to be mothers” (p.60). Mater-normativity reinforces the idea that females are ‘naturally’ maternal, and thereby motherhood should be their main pursuit. Using Foucault’s ideas, she suggests that women are produced as subjects within the discourse of motherhood and thus accept it as the norm. Conforming to the ideal of motherhood as natural allows them to fit into existing social structures. In *Gender in the Mirror* (2002), Diana Tietjens Meyers uses the term “matrigyno-idolatry” to refer to pronatalist imagery which depletes the agency of women (p.53). Meyers argues that women lose their agency and autonomy by producing their sense of self within these controlling discourses and images transmitted through myth, stories, and metaphors. She claims they produce their understanding of the self within this larger controlling discourse, thus impairing their autonomy.

In the novel, Amrita Pritam seems to be allowing her protagonist a space out of such controlling discourse. In the context of a young mother in Bengaluru accused of allegedly killing her four-year-old son, a recent newspaper article on maternal filicide stated that “it is easy to monsterise and pathologise mothers who kill their children, as this helps retain the impossible but shared ideals of the maternal role in society” (Johri and Menon, 2024). Pooro is nowhere vilified for the hatred she feels for the unborn child. Even after her son is born Pooro continues to be physically repelled by him. “She felt her son’s soft face nuzzling into her bare arm. A cold, clammy feeling ran through her body- as if a slimy slug was clambering over her. She clenched her teeth; she wanted to shake the slug off her arm, flick it away from her side, draw it out as one draws out a thorn by taking its head between one’s nails, pluck it out of her flesh like a tick or a leech and cast it away...” (Pritam, 1987, p.34). The narratorial voice does not rebuke Pooro for her reaction as a mother. Instead, her hatred for the child is treated with understanding. The tone is extraordinarily unsentimental and provokes a re-reading of the section to confirm that Pooro is talking about her pregnancy and her newborn child. The text deviates from a sentimental depiction of traditional mothers and concentrates instead on the circumstances that create unwilling mothers.

Traditionally mothering is shown as natural, instinctive, and unquestionable, floating free of discursive structures entirely. When mothering is not seen as an ideological construct, it cannot be analysed or critiqued as a patriarchal product and women continue to define themselves as mothers within the institution of motherhood as defined by patriarchy. In Althusser’s terms, women are ‘interpellated’ as subjects but may not understand the practices that define their subjecthood. Althusser says ideology has a material existence because “an ideology always exists in an apparatus, and its practice, or practices” (p.112). We become subjects by being “inserted into practices” (Althusser, 2001, p.114).

By shifting the focus in the novel to a mother who wants to ‘fling’ her child away like a ‘leech’, whose skin seems to crawl with revulsion at the touch of her newborn- the glorified institution of motherhood is instantly and dramatically ruptured by Pooro. These ruptures allow the reader to see the discursive strategies that produce the institution of motherhood and question patriarchal practices. In doing so, the reader fulfils Sara Ruddick’s framing

of ambivalence as a potential source of strength, insight and political activism. Ruddick suggests that ambivalence, which all mothers experience, allows them to navigate moral and ethical dilemmas with sensitivity and nuance. Rather than seeing ambivalence as a barrier to action, she sees it as a crucial element in making informed and compassionate decisions. This allows women to be agents of transformative politics.

Adoptive Mothering

In *Pinjar*, Amrita Pritam has consciously created two forms of parenting for Pooro. She lacks agency in the birth of her son Javed but is an active parent when it comes to embracing and adopting a madwoman's child. Madness here is symptomatic of the frenzied violence that was unleashed by Partition. Nonica Datta (2008) rightly argues that "A communally divided society marginalizes the non-sectarian identity as 'mad, alarming and a source of terror'" (p.18).

The 'mad' woman appears in Sakkar without a family or a supportive religious community. In her mad laughter and naked abandonment, she poses a threat to decorum and morality but is essentially non-threatening. She lives physically and symbolically outside the mainstream of Sakkar society. Soon she begins to show signs of pregnancy. The village women express revulsion towards whoever had impregnated the mad woman. Hamida uses the image of the skeleton to talk about herself, Taro, Kammo and the mad woman. She thinks the mad woman is "a living skeleton... a lunatic skeleton...a skeleton picked to its bones by kites and vultures" (p.53). The women seem hollowed out by patriarchy in different ways. One morning, Hamida stumbles upon the dead body of the mad woman who has died in childbirth. But her child survived. Hamida and her husband take the child home. The women of Sakkar bless her for having done this wonderful deed.

Hamida wonders about how the mad woman experienced her pregnancy and childbirth. She empathizes with the mad woman's agony and isolation. When she dozes off, Hamida's identification with the madwoman is completed in her dream. She dreams that Rashida has abducted her and locked her in the gardener's hut- events that were part of her real past. She further dreams that he then throws her out, and she becomes insane, runs around the village, is pregnant and gives birth to her real-life son Javed under a tree. Hamida wakes up with a start to the cries of her new son. This dream is a turning point in Hamida's feelings for her husband. She feels gratitude that he had not abandoned her. "She was safely installed in his house. He was a kind husband. He had given her the handsome, curly-headed Javed. And now her family had increased. God had himself sent her another son. Hamida got up, kissed her new son on the forehead" (p.57).

The kiss on the forehead is not just acceptance of the new son. It is also reconciling herself to her fate with Rashida and Javed. It is a realisation that she has been spared while many women have met a much worse fate. In the novel, when she is unwilling to reconcile herself to life with Rashida after her abduction, she speaks unequivocally about her desire to end her pregnancy. But now she is grateful for her family which includes Rashida and Javed. This

shows Pritam's nuanced understanding of a woman's complex and multiple positionalities—an aspect that the makers of the Recovery Act could not envision. Women were denied the choice to stay on with their new husbands or families or even children when they were 'recovered'. Menon and Bhasin comment poignantly: "For those who were recovered against their wishes—and there were many - the choice was not only painful but bitter. Abducted as Hindus, converted and married as Muslims, recovered as Hindus but required to relinquish their children because they were born of Muslim fathers, and disowned as 'impure' and ineligible for membership within their erstwhile family and community, their identities were in a continual state of construction and reconstruction" (Menon and Bhasin, 1998, p.98).

In the text, Pooro is allowed to retain her identity as Hamida and stays with her husband and the child she has adopted. Significantly, it is not just her biological child for whom she stays back. The child she is clasping in the last scene is perhaps her adopted son as Javed may be too old to be in a lap (p.57). This is important because unlike being a mother to Javed, this mothering was a choice Pooro made. Pooro adopts the child and nurses it back twice from the brink of death. She forges her connection with this child whose religion cannot be determined but whose existence causes communal tensions. Crucially, Pritam does not name this second child, as a name would pin down this child's religious identity. This fictional strategy alludes to the historical problem of the children who were born to Hindu and Muslim women during the Partition riots. Just as the village panchayat determined that a Hindu child could not be raised by a Muslim couple and dragged the child away without considering the child's wellbeing, the Indian parliament too debated tirelessly about the religion and citizenship of children born to recovered abducted women. They could not design a pragmatic strategy to restore these mothers and children to their homes. While Pooro does not have to be separated a second time from her children, many women who were forcibly recovered were not given the freedom to exercise a choice.

Several intense discussions in the Constituent Assembly were centred around the motherhood of recovered women and where their children should be accommodated. Both Kamalaben Patel and Anis Kidwai in their memoirs record the difficulty of dragging women away from their children when they were forcibly recovered^{2,3}. While Rameshwari Nehru argued for mothers not to be separated from their children, Mridula Sarabhai insisted on recovery at all costs (Menon and Bhasin, 1998, p.101). In a newspaper article, Sarabhai wrote that a "recovered abducted woman is not in a normal state of mind. In treating such cases the usual code of human rights cannot be applied nor can time factor be considered. The wish of the women concerned should not be given undue weight. Their statements are almost false, or at least valueless" (Sarabhai, 1948). People in parliamentary debates also argued from both sides (Menon and Bhasin, 1998, p.104-107). Gopalaswami Ayyangar and Durgabhai insisted that women were not able to exercise choice as they were traumatised and that their expressed wishes could not be taken at face value while recovering them. Purnima Banerji and Mahavir Tyagi spoke against forced recoveries. Thakur Das Bhargava, and Brajeshwar Prasad debated on who the natural guardian of the child was, and the legitimacy of children

born to parents of different religions and who now had different nationalities. (Menon and Bhasin, 1993, WS 10).

In *Pinjar*, the discussions of the Hindu elders who take away Pooro's adopted son echo many of these discussions. While no community laid claim to the madwoman when she was alive, the child becomes a battleground where the Hindus want to assert their rights. It is claimed that the madwoman was Hindu with an Om tattoo on her left arm (p.58). The Hindu panchayat decides that it was a "shame", "perfidy" "an issue of faith" to allow the Muslims "to convert a Hindu boy into a Muslim" (p.59). The "atmosphere was charged with hate, as thick as the smoke of a coal-fire" (p.61). Anxiety about circumcising a Hindu boy, anxiety about his caste (since the father is unknown it is decided that the water-carrier's wife will be paid to look after the boy till he is old enough to sweep the temple floor), shaming the Hindus as too docile ("But when it comes to being robbed of your sons, your mouths are covered with mildew"), making it a matter of Hindu pride ("We cannot tolerate the taking away of a Hindu child", "This is however a matter of religion and one should not stand in its way", and "We will purify him and re-convert him to Hinduism") are some of the responses that echo the anxieties that were expressed in the parliamentary debates on the recovered women and their children. These debates revolved around the legitimacy and citizenship of children born of what Ritu Menon and Kamla Bhasin term as "wrong" unions. They throw up issues of natural guardianship of the child, the claim of the mother on the child, the legitimacy of children as determined by a cut-off date- (March 1, 1947, as per the Inter Dominion Treaty), the role of the father who perpetrated violence, abortions, fear of children brought up as a religious 'Other' in the case of interfaith children, and families' acceptance of such children (Menon and Bhasin, 1998, p.110). The problem of the rights of children with parents of different faiths at a time when religion had become the only marker for citizenship for the recovered women bear scrutiny even today.

Despite the impassioned interest in retrieving the Hindu child, neither the water carrier woman nor the larger community could look after the child. The Hindu women discuss his plight at being wrenched away from his mother. The women's reaction as a community highlights their gendered difference from men. The women see the welfare of the child and its need for a mother, while the men see the child's religion as paramount. When he is wrenched away from Hamida's bosom, his health drastically deteriorates. Hamida had been breastfeeding the foundling. "She had nurtured the tiny bundle of skin and bone with her own breasts for six months, till he too had started to look as fat and chubby as her own Javed" (p.61). The novel emphasises Hamida's agency in the matter of breastfeeding. She swallows white cumin seeds to make her milk flow again for the new baby as she had recently weaned Javed. (p.57). Arguing in favour of adoptive motherhood, Park (2006) asserts: "All forms of parenthood include bodily experience" (p.206). Margaret Homans writes that it's vital to recognise physical contact between an adoptive mother and the child. "As the mothers of infants, toddlers, or teens, we too are familiar with the tears, screams, laughter, and smiles that 'enter one's bones'" (Homans, 2002, p.266). Pooro's experience reiterates what Sarah

LaChance Adams (2020) notes about maternal commitment being voluntary and conscious rather than inevitable or dictated by nature (p.727).

But when the child is returned to Pooro, he is in a coma and looks like a “yellow, waxen doll wrapped in white linen” (p.69). He is described as having one foot in the grave, but a week after being with Hamida he is “gurgling and playing merrily” (p.70). The novel imaginatively offers Hamida a second chance at mothering and saving the life of the child. This was unavailable to many women. By showing the plight of the family that loses the child briefly and of the child itself, Pritam draws attention to the many thousands of women and children who remain lost. Neither India nor Pakistan wanted to acknowledge the children socially or legally as they were embodied reminders of the rape and consequent loss of community ‘honour’. “The extent of each state's anxiety regarding the recovery of women and concomitant renunciation of their children was limited to concern over the legitimacy of citizenship of a child born of violence, and the intrinsic link of the identity of those children to the nation's notions of purity and honour” (Bina D’Costa, 2015, p. 276).

Maitrayee Chaudhari (1999) argues that “one of the most vexing issues of modern India has been fought over the rights of community identity versus rights of women and rights of the state” (p.118). Pooro adopts a foundling with no established religion or community. The narrator emphasises that unlike her pregnancy this time Pooro chooses to be a mother to this son; she eats cumin seeds to produce milk (as she had only recently weaned Javed) and nurtures the baby to good health. This episode marks a turning phase, and she finally accepts Rashida, Javed, the new baby, and herself as a family unit. In doing so she deliberately creates a counter-narrative to the state’s denial of recovered mothers’ rights and agency and its insistence on privileging religious identity over all others. Sara Ruddick in *Maternal Thinking* speaks about the empowering potential of non-oppressive mothering. Pooro’s adoption of the foundling transforms her journey and imaginatively suggests alternative possibilities for recovered mothers. When Amrita Nandy writes that motherhood must be taken off its haloed pedestal and kitchen counter and brought into the picket line of public debates, it must be emptied of its biological determinism, compulsions, and patriarchal essentialisms and filled with realism, rights and justice instead, one cannot but think that the novel powerfully does this.

We argue that rather than responding to a universal model of motherhood, and Pooro’s deviation from it, Pritam focuses on the communal, national, filial and gendered intersectionality of Pooro’s mothering. One of the aims of motherhood studies is to subvert patriarchal constructions of the binary of good/ bad mothering. The *Pinjar* does not judge Pooro as a good /bad mother. Instead, the text shifts the focus from a psychological evaluation of the mother to the social structures that produce such ambivalence.

Conclusion

Sara Ruddick’s (1989) term ‘maternal practice’ and Andrea O’Reilly’s (2021) term ‘matricentric feminism’ focus on the practice of mothering rather than seeing it as a biological

or even social imperative. O'Reilly uses the term matricentric feminism as opposed to maternalism. She claims that matricentric feminism “understands motherhood to be socially and historically constructed, and positions mothering more as a practice than an identity” (2021, p.43). It also challenges the assumption that maternity is natural to women (i.e., all women naturally know how to mother) and that the work of mothering is driven by instinct rather than intelligence and developed by habit rather than skill.

Andrea O'Reilly lists ten dictates of normative motherhood: “essentialization, privatization, individualization, naturalization, normalization, idealization, biologicalization, expertization, intensification, and depoliticalization” (2021, p.10). Essentialisation privileges maternity as the basis of female identity, privatisation confines the mother within the private home, individualisation holds only the mother responsible for the work of mothering, naturalisation considers that all women instinctively know how to be mothers, normalisation recognises nuclear family to be the sole mode of maternal practice, idealisation sets unattainable standards for women, expertization and intensification of motherhood push mothers to become all-consuming experts, biologicalization positions only biological birth mothers as real mothers, emphasising blood ties, and depoliticalization sees child rearing as a private and non-political activity with no larger political or social import.

Thus we argued that Pooro in the *Pinjar* practices a mode of empowered mothering that challenges many aspects of normative motherhood listed above. Rather than responding in any way to a universal model of motherhood, and Pooro's deviation from it, Pritam focuses on the communal, national, filial, and gendered intersectionality of Pooro's mothering. It is also proposed that the maternal ambivalence witnessed in Hamida when she is pregnant and the experience of adoptive mothering with her second son constitute empowered mothering that has a broader political significance. One of the governing principles of matricentric feminism is that it “commits to social change and social justice and regards mothering as a socially engaged enterprise and a site of power, wherein mothers can and do create social change through child-rearing and activism...” (O Reilly, 2021, p.46). Within the Motherhood Studies, there is a growing emphasis on recognising and acknowledging the ‘maternal ambivalence’ not only to resist the dominant motherhood ideology but also to bring to light the structural inequalities and concerns that often cause such intense ambivalence. Andrea O'Reilly argues, “Social, structural, and cultural conditions of mothering [...] affect experiences of maternal ambivalence and need to be considered along with the traditional psychological view of maternal ambivalence” (2010, p.52). The *Pinjar* is presented here as a matricentric feminist text. Pooro's experience of ambivalence and adoptive mothering offers a site for a critique of the patriarchal construction of women's identity and agency at the time of partition.

²ssaraswat@amity.edu

³Gender Studies, Ambedkar University, Delhi
krishnamenon@aud.ac.in

References:

1. "Amrita Pritam (1919–2005)." *Indian Literature*, vol. 63, no. 6 (314), 2019, p. 179. *JSTOR*, <https://www.jstor.org/stable/27276742>. Accessed 11 June 2024.
2. Kidwai, Anis 2011. *In Freedom's Shade*. Penguin Books India
3. Patel, Kamlaben 2006. *Torn From the Roots*. Women Unlimited

Works Cited

1. Adams, S. L., Cassidy, T., & Hogan, S. (Eds.). (2020). *The maternal tug: Ambivalence, identity, and agency*. Demeter Press.
2. Althusser, L. (2001). *Lenin and philosophy and other essays* (B. Brewster, Trans.). Monthly Review Press.
3. Butalia, U. (1998). *The other side of silence*. Penguin Books India.
4. Carpenter, R. C. (2010). *Forgetting children born of war: Setting the human rights agenda in Bosnia and beyond*. Columbia University Press.
5. Chaudhuri, M. (1999). Gender in the making of the Indian nation-state. *Sociological Bulletin*, 48(1/2), 113–133. Retrieved from <http://www.jstor.org/stable/23619932>
6. Coppola, C., & Pritam, A. (1968). Amrita Pritam. *Mahfil*, 5(3), 5–26. Retrieved from <http://www.jstor.org/stable/40874236> on 15 June 2024.
7. D'Costa, B., et al. (2015). *Children and global conflict*. Cambridge University Press.
8. Datta, N. (2008). Transcending religious identities: Amrita Pritam and Partition. In A. Gera & N. Bhati (Eds.), *Partitioned lives: Narratives of home, displacement, and resettlement* (pp. 1-25). Pearson.
9. Freud, S. (1971). The standard edition of the complete psychological works of Sigmund Freud (Vol. 18). Hogarth Press.
10. Homans, M. (2002). Adoption and essentialism. *Tulsa Studies in Women's Literature*, 21(2), 257–274.
11. Johri, R., & Menon, K. (2024, January 31). Mothers who love, mothers who kill. *The Indian Express*. Retrieved from <http://indianexpress.com/article/opinion/columns/mothers-who-love-mothers-who-kill-9134129>
12. Klein, M. (1997). *Envy and gratitude*. Random House.
13. LaChance, S. A. (2010). Maternal thinking. In A. O'Reilly (Ed.), *The encyclopedia of motherhood* (pp. 726-727). Sage Press.
14. Menon, R., & Bhasin, K. (1998). *Borders and boundaries*. Rutgers University Press.
15. Menon, R., & Bhasin, K. (1993). Recovery, rupture, resistance: Indian state and abduction of women during Partition. *Economic and Political Weekly*, 28(17), WS2–WS11. Retrieved from <http://www.jstor.org/stable/4399640>
16. Meyers, D. T. (2002). *Gender in the mirror*. Oxford University Press.
17. Nandy, A. (2017). *Motherhood and choice: Uncommon mothers, childfree women*. Zubaan.
18. O'Reilly, A. (2010). *Encyclopedia of motherhood*. Sage.
19. O'Reilly, A. (2021). *Matricentric feminism: Theory, activism, practice* (2nd ed.). Demeter Press.
20. O'Reilly, A. (2020). Maternal theory: Patriarchal motherhood and empowered mothering. In L. O'Brien Hallstein, A. O'Reilly, & M. Vandenbeld Giles (Eds.), *Routledge companion to motherhood* (pp. 17-35). Routledge.
21. Park, S. M. (2006). Adoptive maternal bodies: A queer paradigm for rethinking motherhood. *Hypatia*, 22 (1), 201–226.
22. Parker, R. (2005). Torn in two: *The experience of maternal ambivalence*. Virago Press.
23. Pritam, A. (1987). *The skeleton and that man* (K. Singh, Trans.). Sterling.
24. Rich, A. (1976). Of woman born: Motherhood as experience and institution. Norton.
25. Ruddick, S. (1989). *Maternal thinking: Towards a politics of peace*. The Women's Press.
26. Sarabhai, M. (1948, July 27). The recovery of abducted women. *Hindustan Times*.
27. Winnicott, D. W. (2016, October). Hate in the countertransference. In D. W. Winnicott, *The collected works of D. W. Winnicott* (pp. 59-68). doi:10.1093/med:psych/9780190271350

Politeness Strategies in Khortha: A Linguistic Study

Akash Kumar¹, Bablu Ray²

Abstract:

The present paper attempts to analyze and demonstrate the politeness strategies as used in the structure of Khortha, a less resourced language of Jharkhand. Khortha is an Indo-Aryan language spoken mainly in 16 districts of Jharkhand. As per the data of the 2011 Census, Khortha has 8.04 million native speakers but these are decreasing gradually. According to Prasad and Shastri (1958), Khortha is a variety of Magahi, whereas Das (2013) views it to be as a variety of Angika. Khortha is a verb-final language and it has grammatical structure of SOV. Politeness means being nice to others. Lacoff (1975) states that Politeness is a form of behavior developed in societies to reduce friction in personal interaction. In comparison, Leech (1983) defines Politeness as the behaviors aimed at establishing and maintaining comity, which refers to the capacity of participants for social and communicative interaction in a setting of essentially harmonious circumstances. The aim of the present paper is to investigate the politeness strategies as employed by the speakers of the Khortha language. Further, it also aims to analyze and discuss how the speakers of Khortha carry their social and cultural norms in the form of politeness into the structure of the language. For conducting the research, both primary as well as secondary data have been used. The data was collected from Hazaribagh district of Jharkhand, India through giving questionnaires to 30-35 native speakers of the language that ranged between the age group of 20-25 years. The research findings help us understand the politeness strategies as employed in Khortha language which help us analyze the social structure along with the cultural components of the society where Khortha language is being spoken. The research work aims to contribute something meaningful to the area of linguistic research on lesser-known languages.

Keywords: Politeness, Politeness markers, Khortha language, Indo-Aryan language, Lesser-known language.

1. Introduction

Language functions as an instrument for communication, a means of meaning transfer, and is also regarded as a cultural phenomenon. Communication is of two types: verbal and nonverbal. Verbal communication helps us to form interpersonal relationships in addition to information exchange. As human is a social animal and due to living in a society, they always exchange ideas with each other. Language is the best and easiest medium of human thought exchange. While speaking, the speaker has many options, including how polite they will be

(Coulmas 2005). Gratitude and politeness are two concepts that people frequently use. The linguistic choices in conversation are frequently influenced by the addressee's age, status, position, relationship, social constraints, and gender when they converse with one another. The research paper explores and investigates the politeness strategies as employed by the speakers of the Khortha language. Basically, Khortha belongs to the Indo-Aryan language family. Various scholars have given different viewpoint regarding the status and origin of the language. In the opinion of Prasad and Shastri (1958), Khortha is one of the varieties of Magahi whereas in the opinion of Das (2013), it is a variety of Angika mainly spoken in the region of western Jharkhand and Bihar. Khortha language is spoken mainly in 16 districts of North Chotanagpur, Palamu and Santhal Parganas. Khortha language is a vital means of communication between the people living in these areas. The geographical boundary of this language is $23\frac{1}{2}^{\circ}58'10''$ to $25^{\circ}19'15''$ north latitude and $83^{\circ}20'50''$ to $88^{\circ}4'40''$ east longitude. As per the data of the 2011 Census, Khortha has 8.04 million native speakers, which is consistently decreasing day by day due to various socio-economic and prestige-related issues. Hindi is spoken as the primary language in Jharkhand and due to its wide impact, Khortha is used as the second language in the region and the younger generation prefers to speak and communicate in Hindi rather than in Khortha or other languages. It is miserable that older members of society do not feel at ease speaking their own native tongue. In fact, Khortha speakers use it only in informal situations or in family interactions and they are also less concerned about using it in the society. These factors severely affect the status of the dormant/non-standard languages and continuously push them towards endangerment which eventually leads to the extinction of the language.

Leech (1983) defines Politeness as the behaviors aimed at establishing and maintaining comity, which refers to the capacity of participants for social and communicative interaction in a setting of essentially harmonious circumstances. The main goal of politeness is establishing and maintaining a setting where individuals can present a positive perception of themselves and their surrounding community (Brown and Levinson, 1987). In interpersonal communication, speakers of a language use varieties of polite expressions which are dependent upon several factors such as gender, age, status, relationship, and social constraints that ultimately affect the speaker's language choice. For example, a person typically occupies either a higher or lower position in the society. In fact no one in the society has the same social status. There are many other variables that influence the position in the society. If a person speaking to someone in a higher position, the person who is in the lower position typically uses the politeness in the language. His or her tone is always polite. In this backdrop, this paper, tries to analyze and discuss the polite forms of the Khortha language and how Khortha speakers use politeness in their social and cultural domains. The research paper looks at some of the syntactic strategies that are employed in the politeness phenomena in Khortha language. The syntactic strategies through which politeness phenomenon have been looked into Khortha language include honorific, particles, request and causative.

The topic of politeness has been an exciting area of research in linguistics. The scholars who have prominently researched the topic of politeness include Singh, S. Kumar. et al. (2014) on “Politeness in Language of Bihar: A Case Study of Bhojpuri, Magahi and Maithili”; Sahoo, K. (2013) on “Politeness Strategies in Odia”; Choudhury, D. & Barua, S. (2021) on “Politeness and Collective Identity: A Case Study of Two Endangered Language of Arunachal Pradesh”; Simatupang, M. & Naibaho, L. (2020) on “Language Politeness”; Locher, M. (2013) on “Politeness”; Bashir, R. (2022) on “Effect of Age on Politeness and Faithfulness of Identity-A Pakistani Punjabi Community Analysis”; Kumar, R. (2011) on “A Politeness Recognition Tool for Hindi”; Pan, Y. & Kadar, D. (2011) on “Historical Vs. Contemporary Chinese Linguistic Politeness”; Kasper, G. (1990) on “Linguistic Politeness: Current Research Issues”; Brown, P. & Levinson, S. (1987) on “Politeness: Some Universals in Language Usage”; Subbarao, K. V. (2012) on “South Asian Languages: A Syntactic Typology”; and Leech, G. (1983) on “Principles of Pragmatics”.

Though some scholars have attempted to conduct research on the Khortha language yet the literature lacks the significant number on the language. Some of the preliminary works that have been attempted include the research works of Priya & Singh (2018) on the topic “Khortha or Khotta: An Endangered Language of India and the Urgency to Retain its Pure Variety”. The research work of Aman et al. (2020) deals with the phonological aspects of Khortha language and the work of Kumari (2021) deals with ergativity and agreement in Khortha. Recent attempt have been made by Ray & Kumar (2022) on identifying and analyzing person agreement in Khortha. However, the review of the research work on the language exhibits that no attempt has been made in analyzing politeness strategies or markers. Thus, this study attempts to investigate politeness markers in Khortha language. The aim of analyzing politeness in the language is to look into the use of the language in the social domains. In fact, the research work aims to contribute something meaningful to the area of linguistic research on lesser-known languages.

2. Data and Methodology

For this current research, descriptive method has been used, which includes questionnaire, telephonic recording, observation, analysis and evaluation. The data collected in Hindi then have been phonetically transcribed. As the primary focus of the paper is grounded in investigating the politeness strategies in Khortha language, both the primary and secondary data sources have been used for the current research work. The primary data sources include the native speakers of the Khortha language of Hazaribagh district of Jharkhand and the secondary sources of data include online magazines, competitive books and some of the research papers related to Khortha language. The sample size consists of 25 people aged between 25 to 35 years. Finally, data collected have been linguistically analyzed to understand the pattern of politeness strategies in Khortha language.

3. Data Analysis: Politeness Strategies in Khortha

This section deals with analyzing various politeness strategies that are observable in Khortha language. The politeness strategies that have been analyzed and discussed below include Honorificity, Pronominals, Particles, Request and Causative.

3.1 Honorificity

In social interaction, honorific plays a crucial role that influences speech to varying degrees. The speech pattern's ethnographic context analysis reveals variations in the Khortha honorific and speech level systems. The varying degree of honor solely depends on participants in the conversation, in terms of their age, status, and rank in the society. In fact, politeness can be easily observed in the use of pronominal in languages. Various languages have different types of pronominal in use that show the social relationships between the communicators. The use of different types of pronominal for showing politeness in Khortha has been discussed below:

3.1.1 Pronominal

Subbarao et al. (1991) state that pronominals convey various degrees of politeness by showing the hearer the appropriate difference following the difference in status between the speaker and the hearer. Let's consider some examples from the Khortha language to see how varying degree of politeness is observable at the level of pronominal:

Examples:

- | | | | |
|----|--|------------------------------|--|
| 1) | <i>tohẽ</i>
you
2. SG.HON
"You (honorific) will go home." | <i>gʰər</i>
home
LOC | <i>dʒibʰe/dʒəibʰe</i>
go-FUT
V-FUT |
| 2) | <i>toŋ</i>
you
2.SG.Non-HON
"You (non-honorific) will go home." | <i>gʰər</i>
home
LOC | <i>dʒibẽ/dʒəibẽ</i>
go-FUT
V-FUT |
| 3) | <i>tora:</i>
you
2.SG-ACC
"What happened to you?" | <i>ka</i>
what
WH-WORD | <i>holo</i>
happen-PST
V-PST |
| 4) | <i>tohra:</i>
you
2.SG.HON-ACC
"What happened to you?" | <i>ka</i>
what
WH-WORD | <i>holəij</i>
happen-PST
V-PST |

The examples mentioned above (1 and 2) are of future tense. In examples (1 and 2), we can see that the subject which is in the second person singular pronoun, i.e., '*tohẽ*' and '*toŋ*' agrees with the verb '*dʒibʰe/dʒəibʰe*' and '*dʒibẽ/dʒəibẽ*' respectively. There are different pronominal that are used for the second person in Khortha. The pronominal- */tohẽ/* is a type

of pronominal that is used for the people belonging to the higher socioeconomic status in the society. In fact, this is used for paying respect to the person under social obligations, whereas the pronominal-/*ton/* is a pronominal that is used for people of the same or lower socio-economic status and it is used in informal or in casual situations. Further, if we observe the examples (1 and 2) phonologically, we find that for /*tohẽ*/ which agrees with the verb '*dʒib^he/dʒaib^he*,' the segment /*b^h/*, which is aspirated. In contrast, the subject /*ton/*, which agrees with the verb '*dʒibẽ/dʒaibẽ*,' the segment /*b/* is unaspirated and nasalized. Similarly, examples (3 and 4) are of the past tense and the subject in the second person singular pronoun '*tora:*' and '*tohra:*' agrees with the verb '*holo*' and '*holaj*,' respectively. The pronominal - '*tora:*' is usually used for the people of the same age group or of the lower socio-economic status and it is informal, whereas the pronominal- '*tohra:*' is used for the people of the higher socio-economic status. It is used for paying respect under social obligations. Thus, in Khortha too, different types of pronominal are used for the persons of the belonging to the different strata of the society.

Besides, pronominal, the other factor that shows politeness in the language is the use of particles. The next section deals with it.

3.2 Particles

A particle refers to the word which has a grammatical function and which does not fit into the main parts of the speech (i.e., noun, verb and adverb etc.). Let us consider some examples of particles that are used to show honorificity in Khortha language:

Examples:

- | | | | | | |
|----|------------------------|--------------|-------------------------|--------------|------------|
| 5) | <i>ba:ʊ</i> | <i>dʒi</i> | <i>a:</i> | <i>rəhəl</i> | <i>he</i> |
| | father | particle | come | prog | be |
| | 3.SGM-NOM | PARTICLE | V | PROG | PRS |
| | "Father is coming." | | | | |
| 6) | <i>ge</i> | <i>beti:</i> | <i>a:</i> | <i>dʒo</i> | |
| | particle | daughter | come | go | |
| | PARTICLE | 3.SG. F | V | V-PRS | |
| | "Daughter, come" | | | | |
| 7) | <i>adʒi:</i> | <i>kəhã:</i> | <i>dʒa:</i> | <i>rəhəl</i> | <i>hi:</i> |
| | particle | where | go | prog | be |
| | PARTICLE | WH-WORD | V | PROG | PRS |
| | "Where are you going?" | | | | |
| 8) | <i>re</i> | <i>son</i> | <i>b^ha:j</i> | | |
| | particle | listen | brother | | |
| | PARTICLE | V | N | | |
| | "Listen, brother." | | | | |

The examples mentioned above (5-7) are of present tense. It can be observed from the above-mentioned examples how various types of particles in Khortha stand for various levels

of honour. These particles are: ‘*dzi*’, ‘*ge*’, ‘*re*’ and ‘*adzi*’. It is to be noted that the speakers of Khortha use the particle-‘*ge*’ for feminine gender only, as in example (6). The rest other particles such as ‘*dzi*’, ‘*re*’ and ‘*adzi*’ are used for masculine gender, as in examples (5, 7 and 8). After comparing the above examples (5, 7 and 8), it can be understood that Khortha speakers use ‘*adzi*’ for persons of lower or the same socio-economic status, whereas particle- ‘*dzi*’ is used for the persons of higher socio-economic status and ‘*re*’ particle is used for the persons of the same status such as a friend and cousin etc. The next type of strategy that is involved to reflect politeness is the use of the various types of sentences that show requests.

3.3 Request

Requests can be interpreted in various ways. If the speaker does not clarify that the utterance is a request, it might be understood differently. The several ways to respond to requests, can lead to a better communication between the communicators. The hearer's response may occasionally fall short of what the speaker wanted to communicate. Misunderstanding is more likely to happen when communicators belong to different cultural backgrounds. Some of the examples of sentences that form requests in Khortha are discussed below:

Examples:

- | | | | |
|-----|---------------------------------|-----------------|------------------|
| 9) | <i>təni:</i> | <i>tʃələmi:</i> | <i>ra:tʃi:</i> |
| | particle | go | Ranchi |
| | PARTICLE | V-FUT | LOC |
| | “Will you please go to Ranchi?” | | |
| 10) | <i>dʒəri:</i> | <i>pəniʃa:</i> | <i>pi:ləimi:</i> |
| | particle | water | give |
| | PARTICLE | N | V |
| | “Please give me some water.” | | |

In both of the examples (9 and 10) mentioned above, requests have been made by using the words like - ‘*təni:*’ and ‘*dʒəri:*’. Thus, it is suggestive that politeness is marked in the language by using the words which stand for making requests and showing honour. Besides words used for making requests, causatives are also used sometimes for showing up politeness in the language.

3.4 Causative

Subbarao et al. (1991) state that the use of causatives construction helps to minimize the risk of the hearer facing a loss of showing that he understands that it is not his/her job and that he does not intend to coerce him/her into doing something below his/her dignity. The use of politeness in Khortha language is also exhibited through causatives constructions. Some of the examples of the same are discussed below:

Examples:

- 11) *pənija:* *piləmi:*
water drink
N V
“Give some water.”
- 12) *pənija:* *pilə-wa:* *demhi:*
water drink give
OBJ V-CAU V
“Please make me drink water.”
- 13) *i:* *kəma:* *kər* *demhi*
this work do give
PRN N V V
“Do this work.”
- 14) *ukəra:* *se* *i:* *kəma:* *kər-a:* *demhi*
him from this work do-CAU give
PRN DATIVE det N CAU V
“Please make this work done by him.”

In the above examples, the suffixes “-wa:” and “-a:” are causatives which are used to make causative sentences in Khortha. The non-causative verb becomes the causative verb when these suffixes are attached to the end of the words. As compared to example (11), the example (12) appears to be more polite as it has the causative verb within it. Thus, sentences can be made more polite by employing causative construction in the language.

4. Findings & Discussions

Politeness strategies in Khortha language are exhibited through the use of various syntactic categories such as pronominal, particles, requests, and causatives. The important observations that have been made with regard to politeness in Khortha have been summarized below:

- (i) The four different address terms are used in Khortha for the second person pronoun. They include /tohē/ and /tohra:/ for showing honorificity whereas /toɲ/ and /tora:/ for showing non-honorificity in the language. These pronominal are used differently with the people belonging to the different strata of the society.
- (ii) In Khortha, four different particles have been observed as politeness markers which include /dʒi/, /ge/, /re/ and /adʒi/. Among these, only particle /ge/ is used as non-honorific marker for referring to females whereas the others are used as honorific markers and for referring to the male.
- (iii) There are other words, too, that are in use in Khortha as politeness markers and these include the words like /təni:/ and /dʒəri:/ which are generally used while make requests to the people.

(iv) In addition to these, causatives are also used to make sentences polite. Suffixes like ‘-wa:’ and ‘-a:’ are used to make the verbs causatives in Khortha and causative sentences happen to be mostly used to show politeness in the language.

5. Conclusion

It is concluded from the analysis that politeness in Khortha like other languages are expressed though using various syntactic strategies, such as pronominal, particles, requests, and causatives. In society, politeness and honorifics have greater role to play and these impact our communication too. The use of politeness and honorific markers in Khortha indeed exhibit the fact that the language is bound with the social norms and each member of the society has to follow the norms in language use. The use of the politeness is necessary while communicating with the people belonging to the upper class of the society. Thus, the findings of the current research work exhibit politeness strategies in Khortha language and these also bring forth the fact that politeness markers are used in the language as it is intertwined with the social rubrics of the society.

Department of Linguistics

Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (M.P.)

¹akashkumarhz15@gmail.com

²babluray@gmail.com

References:

1. Aman, Atul, et al. (2020a). “A Preliminary Account on the Khortha Speech Prosody”. *PalArch's Journal of Archaeology of Egypt/ Egyptology*, 17 (6), 6440-6458.
2. Aman, Atul, et al. (2020b). “Consonants in Khortha”. In Tariq Khan (ed.) *Alternative Horizons in Linguistics: A Festschrift in Honour of Prof. Panchanan Mohanty*, Germany: Lincom Europa. Pp. 336-352.
3. Bashir, R. (2022). *Effects of Age on Politeness and Faithfulness of Identity - A Pakistani Punjabi Community Analysis*. Webology (ISSN: 1735-188X).
4. Brown, P. and S. Levinson. (1987). *Politeness: Some Universals in Language Usage*. Cambridge: Cambridge University Press.
5. Choudhury, D. & Barua, S. (2021). “Politeness and Collective Identity: A Case Study of Two Endangered Languages of Arunachal Pradesh”. *International Linguistics Research*, 4, 43-60.
6. Coulmas, F. (2005). *Sociolinguistics: The Study of Speaker's Choices*. Cambridge: Cambridge University Press.
7. Das, P. K. (2018). “Ergativity and Agreement in Kinnauri”. *Interdisciplinary Journal of Linguistics*, 11, 36-53.
8. Fraser, B. and Nolen, W. (1981). “The Association of Deference with Linguistic Form”. *International Journal of the Sociology of Language*, 27, 93-109.
9. Holmes, J. (1995). *Women, Men and Politeness*. London: Longman.
10. Kasper, G. (1990). “Linguistic Politeness: Current Research Issues”. *University of Hawai'i Working Papers in ESL*, 9, 1-33.
11. Kumari, A. (2021). “Folklore and Language: Ergativity and Agreement of Khortha Language in Jharkhand”. *International Journal of Humanities, Engineering, Science and Management*, 2, 35-44.
12. Lacoff, R. (1975). *Language and Woman's Place*. New York: Harper and Row.

12. Leech, G. (1983). *Principles of Pragmatics*. London: Longman
13. Locher, M. (2013). "Politeness". In Carol A. Chapelle (ed.) *The Encyclopedia of Applied Linguistics*. Malden: Wiley-Blackwell. Pp. 4457-4463.
14. Pan, Y. & Kadar, D. (2011). "Historical vs. Contemporary Chinese Linguistic Politeness". *Journal of Pragmatic*, 43, 1525-1539.
15. Prasad, B. N., and S. Shastri (1958). *Linguistic Survey of the Sadar Subdivision of Manbhum and Dalbhum (Singhbhum)*. Patna: Bihar Rastrabhasha Parishad,
16. Priya, Swati, and Rajni Singh (2018). "Khortha, a Dying Language and Urgency to Retain its Pure Variety". *Rupkatha Journal on Interdisciplinary Studies in Humanities*, 10 (2), 171-186.
17. Ray, B. & Kumar, A. (2022). "Person Agreement in Khortha: A Language of Jharkhand". *Interdisciplinary Journal of Linguistics*, 15, 85-98.
18. Sahoo, K. (2013). "Politeness Strategies in Odia". *Acta Linguistica Asiatica*, 3(1), 29-45.
19. Simatupang, M. & Naibaho, L. (2020). "Language Politeness". *Advances in Social Science, Education and Humanities Research*, 560, 166-171.
20. Singh, S. & Kumar, R. et al. (2014). "Politeness in Language of Bihar: A Case Study of Bhojpuri, Magahi and Maithili". *International Journal of Linguistics and Communication*, 2, 97-117.
21. Subbarao, K. V. (2012). *South Asian Languages: A Syntactic Typology*. Cambridge: Cambridge University Press.

Shakti and the Sacred Feminine: Tracing the Cult of the Mother Goddess in Early India

Vibha Rathod

Abstract:

The genesis of Shakti, or divine feminine energy, represents one of the most enduring and profound aspects of Indian spiritual and religious traditions. Despite extensive scholarly research, the origins of the Shakti cult remain shrouded in mystery, with debates spanning archaeology, philosophy, history, and theology. The worship of Shakti, the Mother Goddess, holds a significant position in Indian civilization, tracing its roots to fertility rites practiced across ancient agricultural societies. This paper explores the development of the Shakti cult, focusing on its manifestation in the form of Mother Goddess figurines, rituals, and symbolism. Key questions address how these early depictions evolved into the complex pantheon of goddesses in the Vedic and post-Vedic eras and after that. Archaeological findings, such as the terracotta seals from Harappa and Mohenjo-Daro, reveal the goddess's close association with fertility, vegetation, and the cycle of life and death. Moreover, the study delves into the philosophical underpinnings of Shaktism, which positions the feminine principle as the source of creation, sustenance, and dissolution in the universe. The research aims to offer a comprehensive understanding of Shakti's profound roots and her continued relevance in contemporary religious practices.

Keywords: Shaktism, Mother goddess, Indian culture, Matriarchy, Prehistoric societies, Manifestation.

1. INTRODUCTION : THE DIVINE FEMININE AND INDIAN SPIRITUAL TRADITIONS

The worship of the divine feminine, particularly through the veneration of Shakti, has been a cornerstone of Indian spiritual traditions since ancient times. Shakti, representing the cosmic energy that powers creation, sustenance, and destruction, embodies the feminine force at the heart of existence. Despite its significance, the origins and evolution of the Shakti cult have long intrigued scholars from various disciplines. While numerous theories have been proposed, a comprehensive explanation for the genesis of this all-encompassing female principle remains elusive. Nevertheless, the undeniable presence of Shakti in India's religious and cultural landscape underscores her profound influence on spiritual practices and social structures throughout history.

The cult of Shakti is believed to have originated from early fertility rites that were prevalent across ancient civilizations, especially in agricultural communities. These societies, often

matriarchal, revered the Mother Goddess as the source of life and fertility, closely linking her with nature's regenerative powers. The Shakti cult's roots can be traced to the Indus Valley Civilization, where archaeological findings, such as terracotta figurines and seals, depict the Mother Goddess in various forms associated with vegetation, fertility, and protection. The well-known Harappan seal showing a nude female figure with a plant issuing from her womb is a striking representation of the goddess's role in nurturing life, paralleling later Hindu concepts of Shakti as the life-giver. As Indian civilization progressed, the Mother Goddess evolved into a more complex and multi-faceted figure, integrating with the broader pantheon of Hindu deities. These figures not only played roles as protectors, nurturers, and destroyers of evil but also symbolized cosmic principles that guided human existence.

1.1 Genesis of Shakti: Its Profound roots

The origins of the Shakti cult in India have long been shrouded in mystery, prompting extensive exploration and theorization by scholars from various disciplines. It is an indisputable fact that the veneration of Shakti, the feminine divine energy, has held a significant and enduring place within Indian civilization throughout its ancient history. The roots of the Mother Goddess cult are undeniably intertwined with fertility rites that were prevalent in the earliest stages of civilization across the globe. Shaktism, firmly established as a potent religious sect, undoubtedly originated directly from the early worship of the mother goddess. This worship held a prominent place in the religious practices of agricultural communities, whose social structure was based upon the principles of mother-right. (Maine, 1833).

1.2 Depictions of the Mother Goddess in the Indus Valley Civilization

According to prof. H.D. Sankalia since the so called Mother goddess figurines of baked clay are found only in Sind and Baluchistan and even there they are found in large numbers at Mohanjo-Daro and Harappa, these regions were the centres of the Mother-goddess (Sankalia, 1962)

The terracotta seal, unearthed at Harappa, shows a nude female figure upside-down with legs wide apart, and 'with a plant issuing from her womb and her arms are shown like Proto-Shiva depiction on the Mohenjo-Daro seal. Marshall rightly compared this striking representation of the goddess, with a plant issuing from the womb, with the device on an early Gupta terracotta sealing showing a goddess with her legs in much the same position, but with a lotus emerging from her neck instead of from her womb. The idea of vegetation emerging from some part of the body of the goddess reminds us of the Devi- mähātmya concept of the Shākambhari aspect, in which she is said to have nourished her drought-afflicted people with vegetation produced from her body.

*Yato'hamakhilam lokam ātmadehasamudbhavaiḥ, Bhariṣyāmi surāḥ śākairāvṛiṣṭeḥ
prāṇadhārakaiḥ, Śākambhariti vikhyātim tadā yāsyāmyaham bhuvi*

यतोऽहमखिलं लोकम् आत्मदेहसमुद्भवैः । भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्राणधारकैः ।
शाकंभरिति विख्यातिम् तदा यास्याम्यहम् भुवि ।।

The association of vegetation with the Goddess is further proved by another seal, where a horned female figure stands between the two branches of a tree with her hair falling down in coils. A devotee is kneeling beside the tree, and a goat (perhaps) is standing by the side or behind the devotee. Below them seven figures, human figures, holding something in hand and wearing one-horned dresses can be noticed. Both the hands of these figurines appear to be falling downwards, with some action at the end near the waist and tail, like here formed in a coil at the end. It falls in a straight line at 30-degree angle.

1.3 The Worship of the Divine Feminine in Early India

If we examine the societal structure of early matriarchal societies in India and their reverence for the Mother Goddess, we will find that how agricultural rituals, focused on fertility and protection, were centered around Shakti. There is a similarity of head dress between the kneeling figure and the goddess. Mackey thinks that both may be goddesses and the seven figures may also be deities of lesser rank (Here we may find a suggestion for the later development of the Sapta Matrika conception). It appears that the goddess with two horned headdress is definitely a tree goddess, or a fertility goddess, or a goddess of vegetation, or the forest mother. The kneeling figure with similar headdress may be a priest, the one who is exalted in status than ordinary human beings and classed in the status as the Goddess herself. The human faced goat, also a devotee, and the seven figures may represent the devotees who collectively worship the Goddess. They appear to be engaged in some sort of religious dance being a part of the ritual.

A number of legless figurines have also been discovered from the Harappan site, which have been identified with the Earth Goddess by Sir Aural stein (MASI NO. 43, pp. 126-162, pl. XXII) on the basis of Buddhist and Hellenic iconography. Mackay, however, does not agree with this identification and thinks that this truncation was formed utilitarian point of view, which made these figurines stand more securely, and were householder deities, kept on a shelf or in a little recess in the wall. (Mackey, 1935). Piggott takes these to be a grim embodiment of the mother goddess, who is also the guardian of the dead as an underworld deity, concerned alike with the crops and the seed buried beneath the earth. (Piggott, 1950). In disagreement with Mackay, it may be pointed out that these legless types are definitely representations of the Earth Goddess, which suggests a parallel with the latter images of Earth Goddess in which she is portrayed as half emerging from the ground (Marshall, 1931) and such half female figurines have been discovered from Crete (Evans, 1929) also, which are undoubtedly divine in character.

Mackay observes on a figure of Mother Goddess from Mohenjo-Daro a dove like object seated on her headdress. If it be a dove, then the figure signifies a bird mother, thus categorically speaking, Indus Valley people worshipped Mother Goddess in all her forms-

Earth mother, Human mother, or mother of gods, forest mother, animal mother, Corn mother, Bird mother. That means they conceived Mother Goddess as the mother of everything—animate and inanimate within their knowledge. The worship of a particular type must be motivated by expecting certain benefits out of her special power of safeguarding life and property from the menace of subjects of their respective domain.

1.4 The Evolution of the Mother Goddess in the Vedic and Post-Vedic Periods

In the Hindu Vedic texts, Goddess Aditi—the unbound one—is believed to have made the universe. In the Rig Veda, she is introduced as the formless ‘Mighty Mother’. She is described as ‘protectress of all men, her children. She is all that there is.’ Aditi is the creator, the protector and the regenerator. She mediates between life and death. In the Hindu pantheon today, only a handful of deities can be regarded as descendants of the original mother goddess of the Vedas. Durga is simultaneously a descendant of the Vedic mother-goddess and a creation of the gods. Her origin stories and forms are many and vary across cultures. The best known of the myths of Durga are celebrated during the festival of Dussehra in the month of October-November. During this time, she is worshipped in her nine forms, each depicting a phase of her life. Some of these forms, enumerated below, are worshipped as goddesses in their own right.

2. Early Fertility Rituals and the Cult of the Mother Goddess: Shakti as Prakriti and Maya

In Indian philosophy, Shakti represents the cosmic energy that permeates and sustains the universe. As a feminine principle, she embodies power, dynamism, and creativity. Shakti manifests in dual aspects: Prakriti (nature) and Maya (illusion), which are foundational concepts in understanding the universe's creation, sustenance, and dissolution in Vedic and Upanishadic literature. These dual aspects reflect Shakti's role as both the material cause of the universe and the veil that obscures its true nature (Kinsley, 1986; Bhattacharyya, 1999).

The Vedic hymns and Upanishadic discourses introduce Shakti not as an isolated force but as an integral principle responsible for cosmic balance. As Prakriti, she is the natural world, the fertile ground from which all life emerges. As Maya, she creates the illusion of separateness and multiplicity, veiling the ultimate unity of Brahman, the supreme reality. The interplay of these dual forms of Shakti is crucial to understanding the cycles of life and death, as well as the deep connection with early fertility rituals (Radhakrishnan, 1994; Shastri, 1962).

In the Vedic texts, particularly the Rigveda, the principle of creation and sustenance is closely associated with feminine energy. Prakriti, often referred to as the Mother of the Universe, is the source of all life. She is the fertile power through which the cycles of creation, preservation, and destruction unfold. Prakriti is the embodiment of the physical world—the earth, water, sky, and everything that arises from it (Doniger, 1981; Kinsley, 1986). The Rigvedic hymns frequently invoke the Earth as Prithvi, the nurturing mother who sustains all living beings. In this role, Shakti as Prakriti is both the life-giver and the

life-sustainer, responsible for the continuous cycle of birth, growth, and death. Through Prakriti, the cosmic rhythm of life is maintained, and the forces of nature—wind, water, fire—are personified as expressions of her power (Gupta, 2009).

This association with fertility is profound in early Vedic rituals. Yajnas (sacrificial rituals) performed for agricultural fertility, rain, and abundant harvests were directed at appeasing the forces of nature, which were understood as manifestations of Prakriti. The fertility of the earth, the abundance of crops, and the prosperity of human life were seen as reflections of her creative power (Bhattacharyya, 1999).

While Prakriti represents the tangible, material aspect of Shakti, Maya is her illusory side, introduced more fully in the Upanishads. The concept of Maya in early Indian thought does not imply falsehood but rather refers to the illusory nature of the world as perceived by human senses. Maya is the force that causes the multiplicity of forms, creating the appearance of diversity and separation in what is, in reality, the unity of Brahman (Radhakrishnan, 1994). In the Upanishads, Maya is responsible for veiling the true nature of the self (Atman) and the universe, which are ultimately non-dual and rooted in Brahman. Through Maya, the phenomenal world is created and experienced as real, but it is transient and ever-changing, masking the eternal, unchanging reality beneath it. This illusion is necessary for the play of life to continue—without Maya, there would be no experience of individuality, no creation, and no evolution of life forms (Vivekananda, 1989). The Isha Upanishad states: "That which moves is always moving, yet it is unmoving," suggesting the paradoxical nature of Maya. Through her, the universe appears to exist in constant flux, yet behind this veil lies the unchanging Brahman (Radhakrishnan, 1994).

The cyclical nature of existence—birth, death, and rebirth—is one of the key themes in both Vedic and Upanishadic philosophy, with Shakti playing a central role in this cycle. As Prakriti, she generates life; as Maya, she conceals the true nature of life and death, allowing the cosmic dance to continue. Through her energy, life manifests in countless forms, only to dissolve and be reabsorbed into her womb (Woodroffe, 1918). In the context of early fertility rituals, the life-death cycle becomes especially significant. Fertility rituals were not just about ensuring abundant crops or offspring but also symbolized the broader cosmic processes of regeneration. These rituals acknowledged the destructive aspect of Shakti, recognizing that death is necessary for new life to emerge. This is evident in the Tantric tradition, which later developed these themes further, presenting Shakti in both her nurturing and terrifying forms (as Kali or Durga), embodying both creation and destruction (Gupta, 2009).

The early Vedic and later post-Vedic fertility rituals were deeply intertwined with the worship of the Mother Goddess, who embodied Shakti in her Prakriti form. These rituals were agricultural, sexual, and spiritual in nature, celebrating the generative power of the feminine. Fertility symbols such as the yoni (womb) and linga (phallus) became central motifs, reflecting the balance of creative forces within the universe (Kinsley, 1986). The fertility rituals not only emphasized the continuity of life but also recognized the inextricable

link between birth and death, where destruction was seen as a prelude to creation. The cosmic sacrifice (Yajña) itself symbolized this cycle, with the offering of life through fire seen as a way to sustain the universe (Bhattacharyya, 1999).

The dual nature of Shakti as both Prakriti and Maya is a profound philosophical concept that permeates early Indian thought. As Prakriti, she represents the nurturing, life-giving aspect of the universe, while as Maya, she generates the illusion of multiplicity and change, ensuring the ongoing cycle of life and death. The interconnectedness of these aspects is reflected in early fertility rituals, which celebrated the creative and destructive forces at play in the cosmos. In recognizing the generative power of Shakti, these rituals acknowledged the deep rhythms of nature, tying human existence to the cycles of the universe itself. Through her dual manifestations, Shakti remains the eternal source and sustainer of all life (Woodroffe, 1918; Kinsley, 1986).

3. The Philosophical and Devotional Elevation of Shakti according to Devi Mahatmya

The Devi Mahatmya describes Shakti as both immanent and transcendent, controlling the cyclical process of creation, preservation, and destruction (Coburn, 1991). Her defeat of Mahishasura and other demons, such as Shumbha and Nishumbha, represents the triumph of Dharma (cosmic order) over Adharma (chaos). Through her various forms—Durga, Kali, and Ambika—the goddess exemplifies the protective and nurturing aspects of the divine feminine, while simultaneously asserting her role as a fierce warrior who restores balance.

Beyond her warrior persona, Shakti in the Devi Mahatmya is also revered as the ultimate reality (Brahman), emphasizing the non-dualistic nature of the text. She is the source from which all other deities and cosmic principles emanate, making her not only a protector but the very foundation of existence (Foulston & Abbott, 2009). Devotees, therefore, venerate Shakti not only in ritualistic worship but also through philosophical contemplation, recognizing her as the energy that permeates all life. By presenting her as both the destroyer of demons and the protector of Dharma, the text affirms her role as the ultimate cosmic force that sustains and preserves universal order.

3.1 The Threefold Manifestation: Mahakali, Mahalakshmi, and Mahasarasvati

The Devi Mahatmya, a key scripture in Shaktism, describes the goddess Shakti in her threefold manifestation as Mahakali, Mahalakshmi, and Mahasarasvati. These forms correspond to the cosmic principles of destruction, preservation, and creation, respectively, and together embody the cyclical nature of the universe. This triadic manifestation demonstrates Shakti's central role in maintaining cosmic balance, reflecting her multidimensional power and influence.

Mahakali is the fierce form of Shakti associated with destruction and transformation. As the goddess who defeats the asuras (demons), she represents time and the inevitable process of change, embodying the dissolution necessary for rebirth. Mahalakshmi, often seen as the goddess of wealth and prosperity, in this context takes on the role of the preserver, upholding

Dharma (cosmic order) and maintaining harmony in the universe. Mahasarasvati, the goddess of wisdom and knowledge, is linked to the creative forces of the universe, symbolizing the birth of life and the unfolding of cosmic intelligence (Brown, 1998).

When comparing these forms to Vedic goddesses, we see a clear evolution. The Vedic goddesses, such as Ushas (dawn), Prithvi (earth), and Vac (speech), were primarily linked to natural forces and abstract principles. Over time, the more personal and active forms of Shakti in the *Devi Mahatmya* evolved, embodying both philosophical and devotional elements. The triadic manifestation of Shakti reflects a synthesis of Vedic and post-Vedic concepts, integrating the abstract cosmic principles with a personalized divine feminine who is worshiped as the source of all life and power (Kinsley, 1988).

3.2 Shakti as the Ultimate Reality: Vedanta and Tantra Perspectives

In Vedantic philosophy, particularly in the non-dualistic (Advaita) school, Shakti is understood as *Maya*, the creative power that manifests the universe while veiling the true nature of reality, which is Brahman. While Brahman is seen as the unchanging, formless absolute, Shakti operates as the dynamic aspect of this ultimate reality, giving rise to the empirical world (Radhakrishnan, 1927). In this sense, Shakti is both the cause of creation and the force that maintains the illusion of separateness, thereby allowing the cosmic play of existence.

In Tantric traditions, Shakti holds an even more elevated status, being worshipped as the ultimate reality itself. Here, Shakti is not merely an aspect of Brahman but is considered the supreme force that animates all of existence. Tantra emphasizes the immanence of Shakti, focusing on the divine energy present in every aspect of life. Through specific rituals and meditative practices, practitioners seek union with Shakti to attain spiritual liberation (*moksha*) and the realization of the interconnectedness of all beings (Avalon, 1919). Unlike Vedanta, which views the world as ultimately illusory, Tantra celebrates the physical and material as expressions of the divine, advocating for the realization of Shakti within the embodied experience.

3.3 The Saundarya Lahari: Shankaracharya's Eulogy to Shakti

The *Saundarya Lahari*, attributed to Adi Shankaracharya, is a devotional hymn that intricately blends Vedantic and Tantric concepts of Shakti. While Shankaracharya is known for his Advaita Vedanta philosophy, which emphasizes the non-duality of Brahman, the *Saundarya Lahari* reflects a deep reverence for Shakti's creative and transformative powers. The text not only extols Shakti's beauty but also her supreme power over the cosmos, portraying her as both transcendent and immanent (Devi, 1987).

The *Saundarya Lahari* has significantly influenced later devotional traditions, particularly in the worship of the goddess in South India. It celebrates Shakti in her multifaceted forms, blending aesthetics with philosophy, and inspires both intellectual inquiry and emotional devotion. The goddess is depicted as a compassionate force, accessible through devotion, and

as the ultimate reality that transcends the limitations of the material world. The Saundarya Lahari bridges these perspectives, offering a poetic and devotional tribute to the goddess as the source of both material beauty and spiritual liberation.

4. Symbolism of the Mother Goddess: Fertility, Protection, and Cosmic Balance

The Mother Goddess in Hinduism is a symbol of divine feminine energy, representing fertility, protection, and cosmic balance. Her role as a life-giver and protector has been revered since ancient times, manifesting in both agricultural practices and mythological narratives. The symbolism associated with the Mother Goddess is richly woven through Sanskrit hymns from texts like the Devi Mahatmya and other scriptures, which glorify her as the source of all creation and destruction.

In ancient agricultural societies, the Mother Goddess was worshipped as the source of fertility, both of the earth and of human life. Rituals dedicated to her were meant to ensure bountiful harvests and the continuity of life. The Mother Goddess's connection to fertility is symbolized by depictions of her in early civilizations, such as the Indus Valley, where seals portray her with vegetation growing from her body. These representations link her directly to the cycles of nature—life, death, and rebirth (Bakker, 1983). One of the most powerful verses from the Devi Mahatmya (also known as Durga Saptashati or Chandi Path) encapsulates her role as the source of all creation:

Yā Devī Sarvabhūteṣu Mātrūpeṇa Saṁsthitā
Namastasyai Namastasyai Namastasyai Namo Namaḥ (Devi Mahatmya, 5.16)
या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

This hymn reflects her nurturing aspect, acknowledging her presence in all beings as the universal mother and life-giver. Beyond her role as a nurturer, the Mother Goddess also embodies the fierce protector of the universe.

Yā Devī Sarvabhūteṣu Shaktirūpeṇa Saṁsthitā
Namastasyai Namastasyai Namastasyai Namo Namaḥ (Devi Mahatmya, 5.17)
या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

This verse emphasizes the Goddess's protective and empowering aspect, which manifests as Shakti, the force that conquers evil and maintains order in the universe.

The triadic representation of the Mother Goddess as Mahasarasvati, (The goddess of creation and wisdom) Mahalakshmi, (The goddess of wealth and prosperity) and Mahakali (The fierce goddess of time and destruction) illustrates her role in maintaining the balance of the universe through creation, preservation, and destruction (Agarwala, 1963). This triadic form is praised in the Devi Mahatmya:

(Sriṣṭi-Stithi-Vinaśānām Shakti-Bhute Sanātani,
Guṇāśraye Guṇamayā Nārāyaṇī Namostute) (Devi Mahatmya, 11.10)

‘‘सृष्टि-स्थिति-विनाशानां शक्तिभूते सनातनि ।
गुणाश्रये गुणमये नारायणी नमोऽस्तुते ॥’’

In this verse, the Goddess is recognized as the force behind the cosmic functions, embodying the principles of creation (Sṛiṣṭi), sustenance (Stithi), and destruction (Vināśa). These three aspects reflect the cyclical nature of the universe, where the balance between life and death is continuously maintained.

5. The Symbolism of Heptads in Vedic and Puranic Traditions: The Sapta Matrikas and Sacred Number Seven

The Sapta Matrikas, or "Seven Mothers," hold a significant place in Indian religious traditions, symbolizing the collective power of feminine divinity. Their connection with the sacred number seven is deeply rooted in Vedic cosmology, where the number represents cosmic order, completeness, and balance. The Vedic Aryans considered that the universe consisted of seven regions having seven Adityas. Also the chariot of Surya, or Sun God in Hindu mythology, is driven by seven horses.

These symbols emphasize the idea of cosmic order and balance, wherein the number seven acts as the fundamental unit for structuring the universe. The Rig Veda makes several references to this sacred number:

‘‘सप्त धामानामधि तिष्ठन्ति सप्त योऽश्वानां सूर्यः सप्तिरश्मिः’’

(*Sapta dhāmānāmadhi tiṣṭhanti sapta yo aśvānām sūryaḥ saptiraśmih*) (Rig Veda, 1.164.3)

The heptad thus becomes a recurring theme in Vedic thought, denoting a pattern of cosmic balance that permeates both natural and divine realms (Macdonell, 1897). The colour of the spectrum was reinforced on the idea that seven was the basic unit of measuring life. Therefore, the connection of the Sapta Matrikas with the Vedic sources would be fundamental.

5.1 Sapta Matrikas: The Collective Power of Seven Goddesses

The Sapta Matrikas, or the Seven Mother Goddesses, are a prominent group in Hindu iconography and mythology, particularly in the Puranas. Each of these goddesses represents the female counterpart of a male deity, such as Brahmani (consort of Brahma), Vaishnavi (Vishnu), and Maheshwari (Shiva). The collective power of these seven goddesses is invoked in myths, particularly during battles where they assist in the destruction of demons and the preservation of cosmic order (Gopinatha Rao, 1971).

The Markandeya Purana contains one of the earliest references to the Sapta Matrikas, describing their creation and roles in cosmic warfare. The collective might of the seven goddesses is essential for maintaining balance in the universe, echoing the Vedic emphasis on the number seven as a foundational element of cosmic structure.

In the Devi Mahatmya, the goddesses come to aid Durga in her battle against the demons

Shumbha and Nishumbha:

“सप्त मातरः शक्तयः पर्वताद्रुते जनार्दनाः ।”

(*Sapta mātarah śaktayah parvatādrute janārdanaḥ*) (Devi Mahatmya, 10.6)

The Sapta Matrikas are invoked as embodiments of Shakti, the cosmic force, further reinforcing their role as essential elements in maintaining universal harmony. In the later stages of Hindu iconography, particularly by the 9th and 10th centuries CE, the Sapta Matrikas took on more territorial control and spatial manifestation. The goddesses became associated with specific regions, temples, and shrines, each embodying distinct cosmic forces. This concept of territorial goddess worship is reflected in the arrangement of goddess temples across India, symbolizing the body of the Great Goddess (Anneharpen, 1983). The spatial archetypes further project the idea of "Greater India," where goddess places are linked to different parts of her divine body. The evolution of these archetypal forms reflects the continuous adaptation of religious symbolism, where the Sapta Matrikas represent both spiritual and material power, protecting against disease, sickness, and other calamities, particularly those affecting children.

Conclusion

The exploration of Shakti and the Sacred Feminine: Tracing the Cult of the Mother Goddess in Early India highlights the profound role of the Mother Goddess as a symbol of fertility, protection, and cosmic balance. The divine feminine, rooted in the concept of the Earth Mother, has been central to Indian spiritual and cultural life from prehistoric times. Through Sanskrit hymns and scriptures like the Devi Mahatmya, her multifaceted nature is celebrated in various forms, representing creation, sustenance, and destruction. The Mother Goddess is not only the nurturer of life but also a fierce protector. Her roles extend beyond nurturing to include the defense of cosmic order. She balances the forces of creation, preservation, and destruction through her manifestations as Mahasarasvati, Mahalakshmi, and Mahakali, ensuring the stability of the universe. In the Shvetashvatara Upanishad, the universal nature of the Mother Goddess as the cosmic force is further emphasized:

“यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥”

(*Yo devānām prabhavaśchodbhavashcha vishvādhipo rudro maharṣih,*
Hiranyagarbham janayāmasā purvam sa no buddhyā śubhayā samyunaktu)

(*Shvetashvatara Upanishad, 3.4*)

This verse underscores the role of Shakti, in her primordial form, as the cosmic force responsible for creation and the source of wisdom that guides and sustains life. The Mother Goddess's influence spans both material and spiritual realms, and her worship has been deeply integrated into the daily lives of people through rituals, festivals, and art. Her depictions in sculpture and iconography—from the Indus Valley seals to the later elaborate forms of Durga and Lakshmi—illustrate her ongoing relevance.

In conclusion, the veneration of the Mother Goddess in Indian culture reflects a deep spiritual connection with the forces of nature, fertility, and cosmic balance. Shakti, the sacred feminine, continues to be an enduring symbol of life and strength, uniting the physical and metaphysical realms. Through her various manifestations, she guides her devotees and ensures the harmony of the universe, embodying the eternal cycles of birth, death, and renewal.



(Fig 1) Mohenjo Daro Seal with 7 Mothers
<https://www.inditales.com/saptamatrikas-legends-history-iconography-temples/>



(Fig 2) Durga Slaying the Buffalo Demon (Durga Mahishasuramardini) India MP, <https://vmfa.museum/piction/6027262-15946090>



(Fig 3) Chausath Yogini Temple Jabalpur Madhya. <https://imagewrighter.com/chausath-yogini-temple-jabalpur-india/>



(Fig 4) Bas relief of Gaja Lakshmi at the Sanchi Stupa, Stupa I, North gateway,



(Fig 5) Four of the seven Mother Goddesses c. 750–800
 India; Madhya Pradesh state museum



(Fig 6) The Hindu deity Chamunda c. 1000–1100
 Central India, sandstone Asian Art Museum of San Francisco, the Avery Brundage Collection.

References:

1. Maine, Sir Henry. (1833). Dissertation on Early Law and Custom. London. (pp. 202).
2. Crook, 1926, Religion and Folklore of North India (Vol. 1). pp 29.
3. Aural Stein, An Archaeological Tour in Waziristan and Northern Baluchistan, 1929 (MASI NO. 43, pp. 126-162, pl. XXII)
4. Sankalia. H.D., Prehistory and Protohistory in India and Pakistan by University of Bombay, 1962. 315 pp.
5. Agarwala, Aditi and the great goddess, Indian culture, Vol IV, pp 401-409
6. Evans, A., Palace of Minos at Knossos (Vol. 2), 1935, pp 151-52.
7. Marshall, J. (1931). Mohenjo-Daro and the Indus Civilization (Vol. 1). London. Page 48.
8. Bhattacharyya, N. N. (1999). *History of the Sakta Religion*. Munshiram Manoharlal Publishers.
9. Doniger, W. (1981). *The Rig Veda: An Anthology of One Hundred and Eight Hymns*. Penguin Books.
10. Gupta, S. K. (2009). *Shakti: The Feminine Divine*. HarperCollins.
11. Kinsley, D. R. (1986). *Hindu Goddesses: Visions of the Divine Feminine in the Hindu Religious Tradition*. University of California Press.
12. Radhakrishnan, S. (1994). *The Principal Upanishads*. HarperCollins Publishers.
13. Shastri, J. L. (Trans.). (1962). *The Brahma Sutra with Shankara's Commentary*. Motilal Banarsidass.
14. Vivekananda, S. (1989). *The Complete Works of Swami Vivekananda* (Vol. 1). Advaita Ashrama.
15. Woodroffe, J. (Arthur Avalon). (1918). *Shakti and Shakta*. Luzac & Co.
16. Coburn, T. B. (1991). *Encountering the Goddess: A Translation of the Devi Mahatmya and a Study of Its Interpretation*. State University of New York Press.
17. Foulston, L., & Abbott, S. (2009). *Hindu Goddesses: Beliefs and Practices*. Sussex Academic Press.
18. Avalon, A. (1952). *Principles of Tantra: tantratattva*
19. Devi, Y. (1987). *Saundarya Lahari of Shankaracharya*. Motilal Banarsidass.
20. Radhakrishnan, S. (1927). *The Philosophy of the Upanishads*. Oxford University Press.
21. Brown, C. M. (1998). *The Triumph of the Goddess: The Canonical Models and Theological Visions of the Devi-Bhagavata Purana*. State University of New York Press.
22. Kinsley, D. R. (1988). *Hindu Goddesses: Visions of the Divine Feminine in the Hindu Religious Tradition*. University of California Press.
23. Agarwala, V. S. (1963). *The Glorification of the Great Goddess (Devi Mahatmya)*. Motilal Banarsidass.
24. Bakker, H. T. (1983). *Iconography of Indian Mother Goddesses*. E. J. Brill.
25. Dehejia, V. (1999). *Devi: The Great Goddess: Female Divinity in South Asian Art*. Smithsonian Institution.
26. Griffith, R. T. H. (1896). The Hymns of the Rigveda.
27. Gopinatha Rao, T. A. (1971). *Elements of Hindu Iconography: Volume I Part II*. Indological Book House.
28. Macdonell, A. A. (1897). *Vedic Mythology*. Motilal Banarsidass.
29. Possehl, G. L. (2002). *The Indus Civilization: A Contemporary Perspective*. Altamira Press.
30. Agarwala, V. S. (1963). *The Glorification of the Great Goddess (Devi Mahatmya)*. Motilal Banarsidass.
31. Anneharden, K. (1983). *Iconography of Saptamatikas*. E. J. Brill.
32. Gopinatha Rao, T. A. (1971). *Elements of Hindu Iconography: Volume I Part II*. Indological Book House.
33. Macdonell, A. A. (1897). *Vedic Mythology*. Motilal Banarsidass.
34. Mackey. (Year). *Chanhudaro Excavations* (Vol. 19).
35. Marshall, J. (1931). *Mohenjo-Daro and the Indus Civilization (Vol. 1)*. London. Page 48.
36. Piggot. (1950). Prehistoric India, pp 127.
37. Agarwall, V. S. (1963). *The glorification of the great Goddess (Devi Mahatmya)* (p. 49).
38. Dehejia, V. (Ed.). (1999). *Devi: The Great Goddess, Female Divinity in South Asian Art* (pp. 37-57)..
39. Evans, A. Palace of Minos at Knossos (Vol. 2), 1935, pp 340, 1935-36.
40. Gopinatha Rao, T. A. (1971). *Elements of Hindu Iconography. Volume 1, Part 2* (p. 145). Varanasi: Indological Book House.
41. Bhandarkar, ASIAR 1913-14, pp. 213, 221, 224, Pl. LXIV, 24 to 26
42. Banerjea, 1956, Development of Hindu iconography, p 170.

Ritual to Recreation: A Continuum in Bundelkhand Folklore

Anamika Shukla

Abstract:

The present paper attempts to examine the transmogrification of the folktales of Bundelkhand. It aims to analyse the processes involved and the role of thematic substance and structural coherence as they evolve from verbal renditions to written documents. This research undertakes a comprehensive examination of the folklores of Bundelkhand, recognizing its significance as a repository of cultural heritage. What does the folklore of Bundelkhand do for the people of Bundelkhand? Can a continuum be drawn between ritualistic performances and entertainment-oriented performances? In the process, I wish to detail the salient features and understand how the region of Bundelkhand limits /delimits the interaction between fixity and variation. This research aims to contribute to the broader understanding of the role of folklore in shaping cultural identity and the challenges associated with safeguarding intangible cultural heritage. The paper examines the ritualistic underpinnings of Bundelkhand Folk Performances and the masks of Tradition ie Ritual and Entertainment in Bundelkhand Folktales.

Keywords: Folktales, Bundelkhand, culture, oral and written tradition, history.

Folklore may be a critical, yet understudied, component of human society. Beyond entertainment, these traditional narratives, rituals, and symbolic expressions could serve as a subconscious framework influencing beliefs, behaviours, and worldviews. By examining folklore across cultures, researchers may uncover patterns suggesting profound implications for psychology, sociology, and anthropology. Folk as a genre is the conveyor of history that is told and retold from one generation to the next. The culture, history, politics and also the way of life are all reflected in the folk literature of the region. I would not hesitate to say that Folk literature has a proclivity to communicate between generations. Folk literature serves as an authentic source of information, behaviour patterns, and reservoir of morals and values that we inherit from our ancestors. Since there is an underlying continuum of traditions, it affects our way of life, our patterns of thought, and our sense of connection within the community. The Folk as a genre continues to influence, though in a subtle manner, the culture of today. It has the power to bind humanity, regions, people and families.

Oyekan Owomoyela, (1979), in his book, *African Literature: An Introduction*, expresses that there is hardly any phase of tradition and life that is not affected or regulated by some

aspect of the folklore, because it is the medium through which the behavioural values of the community, the cumulative wisdom and technology devised by, bygone ages are made available to the present generation and preserved for posterity (1)

Ramanujan, the great scholar defines folklore as one of several systems, several languages or registers that people use. These systems— Sanskrit, classical literature, bhakti, folklore— intertwine with and comment on each other. They cannot be understood in isolation. They are not independent of each other. Folklore is a religio-mythical body of knowledge, in combination with oral communication and associated media such as ballads, proverbs, riddles, parables, superstitions and beliefs. This concept, as originally developed by Robert Redfield suggests that a great civilization, such as India, evolved from local folk that contributed to its unique cultural heritage. Susan Wadley believes that Spoken language has a notable “concreteness”, for its personal quality and emphasis on people and actions, as well as for its use of parallelism, paralinguistic features, and the lack of complex grammatical constructions, such as relative clauses. Folklore encompasses ancient customs and traditions. It is replete with tales of dateless ballads, myths and legends that are archaic, talks about fables, timeless tales and proverbs, surviving festivals and stories of fairies, ghosts, and maybe goblins and spirits peculiar to the region. Folk is nuanced to be irrational but is the tale of the masses, of the countryside, of the wanderers, and the hunters, of nature, and the rustic. Jane Nandwa and Austin Bukenya define oral literature as “those utterances, whether spoken, recited or sung, whose composition and performance exhibit to an appreciable degree of the artistic character of accurate observation, vivid imagination and ingenious expression.”

Bundelkhand, stationed in the northern part of Bharat enjoys a rich cultural history. Reigning over the northern Vindhya Ranges of mountains, spread over the states of Madhya Pradesh and Uttar Pradesh, Bundelkhand symbolises rich and varied cultural, religious, historical and archaeological heritage. The land served as the abode of Lord Ram and his brother, during their exile, is celebrated throughout ancient Indian literature, and finds mention in all literature of the country. Replete with natural beauty, it has the power to infuse spiritual and cosmic consciousness. The sacred heart, as I propose to call it has the charm to provide a peace-endowed land for tapasya to many great sages and saints. Atri, Anasuya, Dattatreya, Maharshi Markandeya, Sarbhang, Sutikshna are few to name. Tulsidas makes mention of Bundelkhand in all his major compositions, RamcharitManas, Kavitaawali, Dohavali and also Vinay Patrika. Bundelkhand has usually been identified with its classical traditions and culture. There is an underlying harmony, sometimes in counterpoint and sometimes autonomous, found in India’s folk traditions. These folk traditions are to be found in the form of myths, ballads, rhymes, proverbs, songs, and rituals. These constitute what is known as ‘folklore’. Bundeli, spoken by the habitants of Bundelkhand, namely Banda, Hamirpur, Jalaun, Jhansi, Lalitpur, Chitrakoot, Mahoba, Datia, Chhatarpur, Panna, Tikamgarh, Sagar, Damoh, Niwari districts., is part of the Indo-Aryan language family. It is an Apbhransh (Narrated Form) of Shauraseni. It was termed Bundeli by George Gerson. Bundelkhand has

a rich culture of Folk songs that are sung in the Bundeli Dialect. The famous folk songs of Bundelkhand are Alha Gayan, Hardaul ki Manouti, Faag Gayan, Barayata Gayan, Bhola Geet, Devari Gayan and Jawar Geet and Jagdev ka Puara, usually sung in Bundeli. The study aims to investigate Comparative research, research on performance traditions and research on culture-specific patterns of the folklore of Bundelkhand.

The folklores of Bundelkhand, replete with myths and narratives, bring to us, through ages metaphysical truth, and thoughts of our ancestors, giving us solutions, guiding us in times of dismay, telling us the truth of the highest order in an array of stories, easy to comprehend and interpret. They tell us stories of the past, of the kings and the Gods, of valour and battles, of the festivals and celebrations, talk about human emotions, and give us an insight into how life was in old times. Bundeli folk is a rich panorama of folktales. Not merely folktales but all forms of oral traditions – proverbs, aphorisms, anecdotes, rumours, songs, impromptu folk street plays. Bundelkhand has a varied cultural tradition, ranging from the Phag sung to celebrate the festival of colours, and stories of Alah Udal and Hardaul to commemorate the proud triumphal victories, Lamtera sung to the tunes of Dholak and Nagare, and the Bhajans sung to claim the blessings of the nature God. Folk of the land give us a glimpse of the cultural values and patterns of life in Bundelkhand. These tales knit together the people of the region, celebrating the rich diversity of customs and traditions. The rusticities of Bundelkhand and the natural and old-world charm of the region get a glorious representation through these tales.

Before delving into the understanding of the folktales of Bundelkhand, we need to formulate a theoretical analysis as to how and why folk existed. Human identity is at the core of every literature and provides stability and a sense of belonging to an individual. An element of inherent dynamism, depending on temporal and societal matrices, constitutes this identity. The transformation of cultural traits can be understood in terms of diffusion and modification. The process of diffusion is a feasible cause of transformation. Theorists of the Primordial school do not believe in the process of uniformity. Ethnic boundaries exist, and intermingling and interchange contribute to ethnic identity. The primordials do not hesitate to say tradition and ethnicity are the result of this identity creation and its process. It becomes equally important to pay heed to modern or constructionist theorists, who emphasise that identity changes by entering into a new relationship with elements other than their own. The demands of the present conjuncture influence a fundamental change in these traits. The present reworks identities either through political reconfiguration of identity or emotive reconfiguration of identity. Ethnic identity is the outcome of the need for a social and a psychological need. Theoretical studies claim that all identities have primordial social and cultural roots along with genetic and biological determinants. Identity formation is argued as an ephemeral elaboration of a primordial root, as opposed to the theory of functional adjustment. However, a claim, agreed upon is, that identities have a homogenous stability. The formation and transformation of this identity are never homogeneous but rather are marked by an element of unevenness. The theory of struggle and exploitation

due to local, transnational and institutional progress, formulate the formation of identity as an entirely uneven process where pan-identity co-exists with particularistic identity. Theorists also refuse to give attributes to the concept of anthropological and sociological reductionism. They believe that identity formation results from fractious political processes and discourse. Transformation of identities, according to the dialectical theory, is the outcome of historically determined processes of struggle and exploitation. Folktales are interpreted as counter-discourse when they celebrate the valour of heroes who fought against established rules. I would like to emphasise that community identity, concept of discourse, and counter-discourse, the discourse of Palace Paradigm paved the way for the discourse of civilisation. Handoo believes that folk literature was the epicentre of ordinary discourse in India.

It was only natural, Handoo argues, that the civilizing power of oral discourse such as fairy tales and animal tales which have significant influence on the people, especially the children, in shaping their social attitude and behaviour, was recognized and were therefore assimilated into the so-called 'high art' conforming to the ideology of the ruling elites and then frozen into an ideology of subversion. (Handoo 2006: 26). The reversal of role play is a theory contented to counter the existing social hierarchies, the customs and the anxiety imposed by the hegemony of exploitation and the struggle against it. The study of the folk traditions of a region is varied, encompassing the archaic customs of a region or a society, and the idea of reinforcing ethnicity. Hence folklore is a discourse, offering space for negotiation between identities, opening new horizons to interpret human and community behaviour.

The study attempts to look at a few folklores of Bundelkhand and understand the continuum as being revered to this day. The 160-year-old tale of Natbali BeeranBaba celebrates eternal love—the story of love between Beeran, the Nat and the daughter of the Senapati of Bhuragarh fort. Banda district of Bundelkhand, enjoys 'natbali ka mela', to celebrate the devotion of Beeran and the eternal love of his beloved, on Makar Sankranti. They are said to bless young couples with blessings for togetherness for eternity. Songs praise his attempt to face the challenge posed by the Senapati and are integral to the celebrations of Makar-Sankranti.

Diverse songs, dance forms, tales and art forms are a rich heritage of the land of Bundelkhand. The colourful array of festivities, songs of bravery and valour, celebrating love, harvest season, deities and Gods, marriages and deaths fill the land with happiness and joy. Diwari, a folk dance that enjoys the harvest season, is performed in tunes with Dholak and Nagare celebrates the story where Lord Krishna raised "Govardhan Parvat". People of Bundelkhand, dressed in colourful attire, with sticks and colourful peacock feathers dance under the spell, praising the majesty of lord Krishna, who is said to have saved lives. Performed to exhibit funny expressions and humorous actions Ravala, is a popular dance drama of this region. The dance is associated with the farmers and labourers, especially weddings, giving them an escape and filling them with happiness.

Raai, a folk dance of Bundelkhand is a competition between the beats of music and the dancers, the drummer and the dancer, is a folk dance of the Bundelkhand region. Natives of the Bundelkhand, to the tunes of songs and tales, filled with joy. Similar popular dances

include Pahunai, Horse dance, Kachhiaayi. etc. Bundelkhand is replete with popular folk songs, sung with rhythm, to ease the people from the routine monotony of farm labour. The music and rhythm of Faag reverberate throughout the land of Bundelkhand during spring, sung to celebrate the beginning of the harvest season. Faag Gayan is performed like Isuri Ki Faag (Chaukadiya Char kadi Faag), Rai Faag, and Thakur Faag, to the accompaniment of the festival of colours, Holi. Isuri (1838—1909) is a Bundeli poet from Bundelkhand region. He is credited with having composed over a thousand Phaag, a form of folk songs. The poetic works of Isuri have gained widespread acclaim among the people of the Bundelkhand region. His four-lined compositions, known as Chaukaria Phag, have become integral to the local folk musical tradition of the region of Bundelkhand and Madhya Pradesh.

Performed with Dholak and Nagariya, Alah Gayan celebrates the heroism of Alha and Udal, two brothers known for their bravery. Jagnik, a poet in the Chandela court created 52 verse, that speak of 52 wars fought by them. Alahait is said to perform/sing these melodies of veterans, in Veer ras, and the people of Bundelkhand are thrilled to sing these songs of war and victory, of the bravery of Allah and Udal who fought for the Chandela kings against Prithviraj Chauhan. Heroic deeds of Allah and Udal continue to reverberate in the land of Bundelkhand and are sung with pride and joy.

Lamtera, a folk song sung to solemnise the enthusiasm of the farmers, to show their praise and gratitude to the Almighty for the blooming and blossoming crop, is heart-pouring. The period from January to March witnesses the blossoming Rabi crop and is relished with celebrations. Lamtera voices the joy and pleasure of the people, relaxing after the year long schedule of working in the farms. It speaks of praise, joy and of happiness. The Bundeli people set out to go on pilgrims, for holy dips and celebrate the season with humble gratitude., Bhola Geet, known as Bambuliya or Lamtera, is dedicated to Lord Shiva and Parvati. It is sung to celebrate the festivals of Basant Panchami, Sankranti, etc fills the mind and soul of Bundelkhand with melody.

Gari, as the Hindi meaning suggests, is sung to tease and indulge in a mood of love and togetherness during the marriage ceremony. This folk song has the capability to create an atmosphere of togetherness, to bring the two families close to each other, to break the ice, to develop a sense of belonging. Gari is also sung to express and address feelings and emotions that are otherwise difficult to share. It is amazing, what a wonderful mechanism was nurtured by our ancestors of Bundelkhand to vent out their concerns and worries, without offending the grooms family. Bundeli people sing Dadre to bless the newlywed couple, filling them with the thrill of starting a new life. These songs remind subtly of the responsibilities and duties, the dos and don'ts, the virtues and vices. How beautifully they teach and preach, is the magic and charm of these folk songs. The folklores of Bundelkhand are compilations, rather than a single extended narrative, or storyline.

Hardaul ki Manouti cherishes the Bravery of Hardoul, a great warrior of Bundelkhand, who sacrificed himself to prove his righteousness. Barayata Gayan, a religious folk song tells the story of the characters of the Mahabharata. Jawar Geet and Jagdev ka Puara, performed

during Chaitra maas (Month) are Bhajans /hymns of a religious nature. Accompanied by the melodies of Dholak, Nagadiya and Pakhawaj, tuned with flute and *shahnai* popular folk music and the Dance of Bundelkhand includes Kaharwa, Sohar, Got, Ahri etc. During Navami and Kajari Navami, Forms of Folk -art, symbolising purity and serenity, drawn with pounded rice on a land layered with cow dung, to bring positivity to the house mark the land of Bundelkhand. The genesis of life is revered by sprouting the seeds of wheat and barley to mark the auspicious occasion of sowing the seeds in the fields. Bundelkhand, despite being a small region in Madhya Pradesh is a rich storehouse of Folktales and songs and has a cultural heritage, that speaks of posterity.

The folklore studies provide a peek into the cultural richness of the region in which they emerge. It has been observed that in the Indian socio-cultural subsystems such as that of Bundelkhand the folk heroes are not only popular but have endured over time in the collective memory of the people alongside the national heroes. The following six important tales of Bundelkhand such as - Aalha-Udal, Dhola-Maru, Narsingh Dev, Rani Durgavati, Hardaul Lala, and Raja Bhoj and Kalidas are part and parcel of the collective conscience and to say the least form an essential part of the cultural tapestry of the region. It is also observed the folklores are an interesting blend of the mundane and the mystique. They often serve the purpose of entertainment, share a common history, highlight important traditions and go a long way in strengthening the core cultural values. The saga of Aalha and Udal resonates through generations in Bundelkhand. They were legendary war heroes of Bundelkhand who served as generals in the army of the Chandela King Parmal Deva of Mahoba. They fought and won several wars for the Chandela king and contributed to the growth of his empire. Their war with Prithviraj Chauhan of Ajmer gives insight into their military prowess, challenges faced and their indomitable spirit. The folklore reinforces the values of courage, loyalty, patriotism, valour and resilience.

The narrative of Dhola- Maru is deeply rooted in the oral traditions and folklore of the different regions of the country such as Rajasthan, Punjab, Chhatisgarh and so on. This clearly shows that the process of acculturation has rendered a continuity to this tale with variations in their versions due to the cultural assimilation. It is a romantic tale of enduring commitment that calls attention to the myriad human emotions and consequent challenges, reactions and responses. Rani Durgavati often referred to as the embodiment of Goddess Durga was the brave queen of the Gond kingdom of Garha Katanga. Widowed and endowed with the responsibility of her minor son, she took charge of the reins of her kingdom and proved to be an able administrator and visionary who consolidated her empire far and wide. She was one of the most revered sovereigns who took on the might of the Mughals and preferred to die in glory. Rani Durgavati in folklore is viewed as an embodiment of grace, beauty, sacrifice, strength and a proud woman with exemplary courage who was always at the forefront in the battles.

Lala Hardaul is revered as a folk deity of Bundelkhand. He was the youngest son of Maharaja Vir Singh Deo of Orchha. The story goes that he was falsely accused by his elder

brother of illicit relations. To prove his innocence he willingly accepted the punishment of death accorded to him by his brother to protect the family honour. Local legend says that after death his ghost saved the honour of his sister by helping with her daughter's wedding. Lala Hardaul is alive in the hearts of the people who invite him for weddings and seek his blessings. The temple of Lala Hardaul is a center for pilgrims wherein he is worshipped with immense fervor during Baisakh and wedding season. The values of morality, honesty, integrity, sacrifice, family honour, faith all come alive in this tale and are cherished till date.

The warp and weft of the varied folklore transports one into the realms of history, myth, culture and divinity. It subtly unfolds the stories from the past to the present with its struggles and triumphs, courage and valour, allies and adversaries, love and war, ideals and values and lessons for mankind. The amalgamation of the oral tradition with the written tradition goes a long way in not only preserving the spirit of the region for posterity but also establishing an identity and unity of the people of the region amidst the diversity. The exploration of select folktales shows that more often than not they are the basis on which the culture is built. The stories set moral boundaries and ideals for the layman, explains his social world and provide a meaning to his everyday life.

It is observed that the folklore of different regions have devised ways to perpetuate themselves in the changing world scenario. Bundelkhand folklore is no exception to the developing means of keeping the narratives and their essence alive in the collective memory of the people of the land. The oral-written continuum thus finds expression in various art forms like paintings, textiles, pottery, ceramics, films, architecture, printmaking, sculpture, and cultural performances such as dance, drama, theatre, natak – nautanki, folk songs, ceremonial celebrations and so forth. It can be safely concluded that the folklore of Bundelkhand is an evolving, growing genre that has learnt to adapt to changing times and captivate its audiences.

The folk practices of Bundelkhand ie folk dance and folk songs, give the land of Bundelkhand its unique tradition and an identity typical of its own, exuding the cultural flavour of Bundelkhand. Oral traditions are never static, they evolve when transmitted to generations, creating a melting pot of diverse ethnicities. To analyse the folklores of Bundelkhand in the context that they are performed becomes imperative. They need to be learnt in the manner in which they are performed and perpetuated. Recording them in sophisticated oral forms is bound to distort the spirit and misrepresent the mode of expression. The folklores of the land of Bundelkhand demonstrate life values, and perpetuate a shared understanding of life., bringing to life artistic talents, are witty and beautifying the insignificant, laying value and worth to the minor details of life. They provide an alternative history, preserving and linking the past to the present. It can be referred to as a Democratised history, in the absence of written records, speaking of facts other than those that interest historians. The folklores of Bundelkhand continue to educate generations on the lessons of philosophy and utilitarianism.

Comparison of oral and written renditions of Bundelkhand folklore divulges conspicuous discrepancies in the instrumentation, formation, and outcome. The orally communicated specimens often display a fluidity and spontaneity attributed to the storyteller's improvisation and interaction with listeners. There are discrepancies in plots, dialogues, and character descriptions, which seem inherent to the singular mode of the storyteller and the developing tradition. The mode allows for flexibility in the linear sequence and the utilisation of local vernacular and sociocultural allusions. Meanwhile, the written form conveys rigidity and immutability. Details are permanently cemented. The audience loses its impact on content malleability. Regional turns of phrase and cultural nuances risk standardisation. Both narrations uphold significance, though divergence in delivery medium generates dissimilar storytelling impacts and sociocultural repercussions.

While oral folktales often vary in their retellings, possessing an improvised nature, transcribed works seek to stabilise language and storyline, striving for lucidity and consistency. Interpreters and editors may rework the content to comply with literary norms or to appeal to a more extensive viewership. This method can lead to losing elements of the story's genuineness and extemporaneity found in oral versions. Sunil Dipak says, "We do not have similar data from the past, but probably for the majority of Indians, oral traditions have always been of significant importance. Though today the literacy levels have improved, oral traditions conserved through sacred texts, ballads and folk-songs, continue to play an important cultural role in the popular transmission of history, especially in smaller towns and villages." (Dipak) At the same time, penned forms guarantee the preservation of these stories for posterity, permitting easy access so they can be investigated and appreciated beyond their initial community setting. Familiar characters and plots will continue engaging children of subsequent generations. The trader tweaks content while maintaining the original word count, attempting to inject diversity into sentence structures and themes just as the best storytellers deliver surprises and varied rhythms with their speeches. Indeed, the journey from spoken word to published page frequently invites novel understandings or alterations of the original tale. There is a profound susceptibility among authors and editors to embellish or re-envision the story to grace it in the light of modern literary tastes or convey a particular message. Such medium-borne metamorphosis improves the tale by making it more appealing or relevant but substantially detaches it from the cultural framework and purposes of the oral storyteller. With the advent of communication technologies, both written and oral forms of Bundelkhand Folktales have become available, providing an invaluable opportunity to understand the highly intricate, dynamic interrelations between storytelling traditions and the impact of the medium on the shape of the narrative and cultural transmission. Thus, the protection of oral traditions and revival of dying tales may not be treated as utterly incompatible with the contemporary manner of storytelling as it had been previously.

Conclusion

Bundelkhand folk tales are a poignant medium to speak of the dynamic bond between oral and literate traditions. These cultural narratives exemplify how continuity is adaptation,

as seen across generations. Still, upon closer inspection, one will inevitably see that oral telling thrives on both improvisation and participation, fostering a dialogical relationship between a storyteller and the respective community. Conversely, the written form of a tale suggests stability, extended availability, and sharing on a broader scale, even though it occasionally misses the nuances of live sharing. In conclusion, both oral and literate forms of a tale serve the preservation of the regional identity but often distort the perception of the outer world, that relatively abstract background, and the context of concrete events.

The study's implications reach into the cultural reservoir of Bundelkhand as part of common debates on cultural survival and circulation. There are sufficient reasons to see the directness of an oral tradition as a key stepping stone to both the survival of heritage and accessibility of communal identity and distributed knowledge in times of trial and to also see the shift to a written tradition as a step forward in archiving and globalising this knowledge through academia and cultural exchange. A note of carefulness must be struck in the cascade between the two, taking careful cognisance of both the constrained condition of knowing the moral value of an existing archive and the opportunity to express and circulate through written forms. Such a critical position permits one interested in the transmission of folktales to maintain a sufficiently documented trace of their origin and form such that survivorship allows others to enjoy these stories in times ahead. Such availability arguably suffuses our understanding of inventiveness, perseverance and the resounding social power of literacy in all peoples throughout all history.

School of Humanities
IGNOU, New Delhi
anamikashukla@ignou.ac.in

References

1. Bhatta, Hikmat Dahal & Balaram. "Folktales: A Moral Message from the Past to the Future Generation." *Nepal Journal of Multidisciplinary Research* 4.1 (2021): 31-43. <<https://www.nepjol.info/index.php/njmr/article/view/36618>>.
2. Dipak, Sunil. Legends and stories of Orchha. 14 November 2017. 8 July 2023. <<https://kyabaat.blogspot.com/2017/11/legends-and-stories-of-orchha.html>>.
3. Editor. Bundelkhandi Folk songs on Water: A critical analysis. 31 July 2020. 8 July 2023. <https://gaurilankeshnews.com/bundelkhandi-folk-songs-on-water-a-critical-analysis/#google_vignette>.
4. J. Smith, J. and P. Wiese. "Authenticating Children's Literature: Raising Cultural Awareness with an Inquiry-Based Project in a Teacher Education Course." *Teacher Education Quarterly* (2014).
5. Kennedy, X.J. et al. *Handbook of Literary Terms: Literature, Language, Theory*. New Delhi: Pearson, 2007.
6. Kirmani, Mubira Hassanali and Sarulkh Kirmani. *Oral Literature of the Asians*. East African Educational Publishers, 2002.
7. Miruka, Simon Okumba. *Encounter with Oral Literatures*. East African Publisher, 1980.
8. Shobhit. Exploring the Enchanting World of Bundeli Lokgeet. July 18 2023. 10 July 2024. <https://bundelilokgeet.com/articles/read/exploring-the-enchanting-world-of-bundeli-lokgeet_1.html>.
9. Why Are Folktales Important? 2023. <<https://www.augusthouse.com/why-are-folktales-important>>.

The Nature of Consciousness: Metaphysical Presuppositions of Advaita Vedānta

L Vijai¹, Padmakumar P. R.²

Abstract:

One of the most significant enquiries in metaphysics in every tradition of philosophy has been the enquiry into the metaphysics of consciousness. Intriguing indeed are the questions about origin of consciousness; its relation to the body and mind; the pivotal role it plays in human life and many others. The enquiry into consciousness in metaphysics begins with an analysis of the state of empirical awareness that constitutes the most mundane sense of consciousness. But the enquiry crosses over to deeper questions like the ontology of consciousness, and the origin and role of consciousness in the physical system to which it belongs. In the school of *Advaita Vedānta*, the enquiry into consciousness forms the most important dimension of its metaphysics. *Advaita Vedānta* also reveals a complete range of the analysis of consciousness ranging from the analysis of the dichotomy of the empirical experience that involves the content of the experience 'I' and the content of the experience 'You', to the identification of consciousness as the ultimate reality, the substratum of all existence. This research paper attempts to delineate the metaphysical presuppositions of consciousness in the school of *Advaita Vedānta*.

Keywords: *Advaita Vedānta, Brahman, ātman, prajñā, māyā, pratyagātman*

Introduction

Of all the mysteries involving human existence, the most conspicuous is the phenomenon of consciousness. Intriguing indeed are the questions about origin of consciousness; its relation to the body and mind; the pivotal role it plays in human life and many others. Philosophers from time immemorial have attempted to answer these perennial questions and have offered solutions that vary in degrees of depth and clarity. Consciousness being a state of self-awareness, integrates in itself the process of knowing and the state of being in a single unity. This is possible owing to the inherent potentiality of consciousness to turn inward and understand itself from within. This research paper shall delve into the nuances of the metaphysical presuppositions of consciousness in *Advaita Vedānta*.

1. Consciousness as the Ultimate Reality

According to *Śaṅkara*, consciousness is the ultimate reality, its inherent nature (*svarūpa*) being Sat (infinite existence) *Cit* (infinite consciousness) *Ānanda* (infinite bliss). However,

this true nature of consciousness is revealed only when the veil of ignorance that covers it is destroyed as a result of true knowledge. The individual living being (*jīva*), and the universe of our experience (*jagat*), are alike pervaded by the non-dual consciousness. But why is this infinite true nature of consciousness not experienced by one and all? Śaṅkara says that though ātman is Reality and Consciousness and ever present everywhere, yet it is perceived by the eye of wisdom only. But one whose vision is obscured by ignorance does not see the radiant ātman, as the blind do not see the resplendent sun (*Nikhilananda* 1947, Verse 65). He admits that *Brahman* which is of the nature of pure consciousness, which is devoid of all specific adjuncts, which is quiescent, endless, one and non-dual, and which is called infinite, cannot be known easily (*Gambhirananda* 1957, II ii, 1). The aim of the *Upaniṣads* is also to reveal the nature of the ultimate reality as consciousness which is beyond the reach of the mind and the senses (*Gambhirananda* 1957, II, iv, 1).

2. Consciousness as Conditioned and Unconditioned

Brahman or pure consciousness has two forms: the conditioned and unconditioned. In his commentary on the *Brahmasūtras*, Śaṅkara explains that *Brahman* is known to be of two forms: that which is qualified by the adjunct of difference, caused by the modifications of name and form, and that which, on the contrary, is devoid of all adjuncts. Though *Brahman* is one without a second, the *Vedāntic* texts teach *Brahman* as what is to be meditated upon as being related to assumed adjuncts, and as what is to be known as being devoid of any relation to adjuncts (*Gambhirananda* 1977, I.i.11). In his commentary on the Bhagavad-Gita, Śaṅkara says that *Brahman* does not belong to a species of existents, and so it cannot be referred to as an existent. It does not have qualities as it is qualityless and therefore it cannot be expressed in terms of any quality, nor can it be indicated by any word connoting action, because it is actionless (*Nikhilananda* 1995, xiii, 12). Again, Śaṅkara in his commentary on the *Brahmasūtras*, asserts that “that omniscient, omnipotent cause from which occur the origination, sustentation and destruction of this world which is manifest as name and form, which is associated with many agents and enjoyers, which is the abode of fruits regulated in accordance with place, time and action and the structure of which is by mind inconceivable, that is Brahman.” (*Gambhirananda* 1977, I, i, 2). This apparent difference is caused only on account of the differences in the perspectives of viewing the same reality. The *Brahman* that is indeterminable and free from all attributes or qualities appears to be having them on account of perceiving the *Brahman* through the limiting adjuncts of name and form. The sky which is colourless appears to be blue in colour owing to the refraction of sun’s light rays. Similarly, the nature of *Brahman* which is pure consciousness appears to be possessed of various qualities and attributes, owing to the superimposition of the limiting adjuncts such as physical, subtle and causal bodies on them, owing to primal ignorance. Knowledge destroys the primal ignorance itself and so the superimposition born out of ignorance also disappears automatically. Śaṅkara categorically asserts that the idea of *Brahman* simultaneously possessing attributes and also being free from it is absurd and self-contradictory. The *Brahmasūtras* also assert that “not even according to place can

Brahman have a twofold characteristic, for everywhere (it is taught to be without attributes)” (*Gambhirananda* 1977, III, ii, 11). “*Brahman* is formless to be sure, for that is the dominant note of the Upaniṣadic teaching” (*Gambhirananda* 1977, III, ii, 14). However consciousness immanent in names and forms seems to undergo changes like increase and decrease in size and other qualities because of which it is spoken of by some as subject to changes. Śāṅkara denies the possibility of any such change in consciousness. He explains this problem in the following manner in the commentary to the *Brahmasutras*:

A ‘participation in increase and decrease’ in as much as the reflection of the sun in water increases with the increase of water, and decreases with its reduction, it moves when the water moves, and it differs as the water differs. Thus the sun conforms to the characteristics of the water; but in reality the sun never has these. Thus also from the highest point of view, *Brahman*, while remaining unchanged and retaining its sameness, seems to conform to such characteristics as increase and decrease of the limiting adjunct (body), owing to its entry into such an adjunct as the body (*Gambhirananda* 1977, III, ii, 20).

3. Levels of Reality

Advaita propounds four levels of Being (*sattā*). They are not however degrees or gradations of truth. It is common to refer to three levels of Being but taking the insignificant being (*tuccha sattā*) also into consideration, the number becomes four. The insignificant being is a mere product of imagination. Horns of a hare, lotuses of the heavenly river (sky-lotuses), the son of a barren woman, the circular square etc are examples. These are epistemologically insignificant. Since a definition like ‘The son of a barren woman is a baby born to a woman who never bears any children’ also involves a recognition that the object whether of thought or imagination is false, the Advaitins deem it fit to include it among the levels of reality. The subjective cognition born out of imagination of a hare with horns is not false but it has no objective referentiality.

The illusory or apparent being (*prātibhāsikasattā*) is of a higher ontology than the insignificant being as it has referentiality, though only temporary. A classical example is the perception of an illusory snake. The initial assertion that “this is a snake” is found to be false upon subsequent observation. The illusory being is experienced subjectively by an individual and its perception lasts only for a small period of time that is only until the subsequent cognition removes the illusion. The pragmatic being (*vyāvahārikasattā*) often translated as the empirical being, has a far greater ontology than the illusory being. The pragmatic being can be sharply distinguished from the illusory being by the possibility of objective referentiality and commonality of experience. This is the being that conforms to our activity. It is the product of our past ethical actions and is meant for future actions. While the illusory being is contradicted by perceptual experience, within the world itself and also by the experience of action, the pragmatic being is not contradicted either by perception or action, but by dialectical reason and intuition of *Brahman*. Even though a person is convinced of the rational incoherence of the world, the objects of the world continue to be experienced

by him and it never contradicts his active life. However, when the perception of illusory snake is contradicted by the perception of the rope, a person can no longer perceive a snake there and the active life also contradicts the being of the illusory snake.

The inherent self-contradictions in the pragmatic being presuppose an Ultimate Being beyond all self-contradictions that is never sublated by a subsequent experience. This Ultimate Being (*pāramārthikasattā*) is the summum bonum of all existence and experience. According to Śaṅkara, each of the lower levels excluding the insignificant being is superimposed (*adhyasta*) on the level immediately higher than it. Thus the snake is superimposed on the rope and the rope on Brahman.

4. Proofs for the Existence of Consciousness

The existence of consciousness is a fact of experience and no one ever thinks that ‘I do not exist’. The existence of ātman is thus woven inextricably with the idea, ‘I exist’ and this persists at all levels of consciousness. Consciousness is the transcendental subject, that which can never be objectified and hence it never becomes an object of knowledge, even though everyone refers to it by the term ‘I’ or the ‘Self’, for it is one without a second and known immediately within oneself. The existence of pure consciousness is an axiom of knowledge, for all proofs presuppose its existence (*Tattwananda* 2002, verses 474,475).

5. Nature of Pure Consciousness

Pure Consciousness which is the innermost Self of all beings is self-effulgent, devoid of parts, unattached, pure and subject to no kind of modification. It is bliss eternal. It is this witnessing Self that is the source of all consciousness. It is indivisible, free from adjuncts, and devoid of all attributes (*Tattwananda* 2002, verses 458). It is not subject to birth or growth, or to death or dissolution. The ātman is not killed when the body is destroyed (*Tattwananda* 2002, verses 459). Pure Consciousness or *Satcitānanda* is also known as ‘*pratyagātman*’. It is at once ‘sat’ or the true, and eternal as its existence is not negated during any three levels of consciousness. It is to be noted here that for Śaṅkara, ‘abhādyatā’ or non-sublatability is the criterion of truth. Pure consciousness alone satisfies this criterion of truth. The term ‘*cit*’ indicates consciousness and is of the nature of knowledge itself. *Ānanda* indicates that it is bliss eternal. Infancy and childhood, youth and old age come and go. Waking gives place to dreaming, and dreaming gives place to deep sleep. Good and evil rise and fade away like ripples on water but the stream of consciousness alone goes on forever. It is in this sense that the ātman is the witnessing consciousness (*Tattwananda* 2002, verses 611, 614). No perception whatever, in waking, dream or deep sleep, belongs to pure consciousness. They are the products of an illusion as these states do not have an independent existence nor one dependant on the Self. The Self does not possess a body and hence it is free from sin and virtue, caste or order of life, and bondage or liberation. Though encased in a body, it does not get attached to it on account of its subtleness, like the ether which though being all-pervading does not get tainted.

6. *Māyā* and Creation

If such be the nature of consciousness, then how does Śaṅkara explain the experience of the world around us? In his commentary on the *Māṇḍūkya* kārika, Śaṅkara raises this problem. He asks, “If it is established that the Self is verily one, how does it come to be imagined to be multifarious, such as prāṇa etc, that are characterised by phenomenality?” To this he replies thus “All this(referring to the world), is that shining Self’s *māyā*. Just as the magic employed by the magician makes the absolutely pure sky, filled with trees blooming with flowers and luxuriant with leaves, so also does the *māyā* of this self-shining Self make it self-deluded as it were.” (Nikhilananda 1995, 2, 19). He makes it more explicit in the Brahmasutra bhāṣya. He says that the seed power responsible for creation is of the nature of nescience (avidya). It is designated by the word avyakta, the unmanifest. It is dependant on God, is of the form of *māyā*, the great sleep. In it the transmigrating souls sleep devoid of the knowledge of the Self. The unmanifest indeed is *māyā*, because it is not possible to define it as being either true or untrue (Gambhirananda 1977, I, iv, 3). Going strictly by the criterion of reality adopted by Śaṅkara, *māyā* is unreal. In one instance he makes this very clear when he states “*Māyā* is that which does not exist. *Māyā* is the name of the non-existent.” (Nikhilananda 1995, iv, 58). *Māyā* therefore accounts for a world in time and space. It accounts for everything subjective or objective that can be ‘known’ in the empirical sense. *Māyā* is a power that creates a world different from Brahman. A power cannot exist or function by itself. It must reside in some kind of Being. Being is therefore primary and the power is secondary. Here the *Brahman* is therefore primary and *Māyā* is secondary. Again the being may be united to its power or lose the power to which it was united. But a power can never exist independent of the Being. *Māyā* resides in *Brahman* and functions as the power of Brahman. Since *Māyā* according to Advaita is only a power of creating illusory appearances, it is best understood as the power of erroneous perception. The power of erroneous perception can further be analysed into the power of ignorance and the power of error proper. Ignorance prepares the ground for error. It does not necessarily lead to error but is a necessary precondition of error. The power of ignorance and the power of error together constitute the structure of *māyā*. They are known as the power of veiling (*āvaraṇa-śakti*) and the power of projection or distortion (*vikṣepa-śakti*). These powers however require an intelligent being as their ground (*adhiṣṭāna*) and *Brahman* is that ground. It is a fact of common observation that a substance that partakes of the nature of the veil cannot be further veiled. That which is by its very nature darkness or is unintelligent, cannot be further veiled; only that which is resplendant or intelligent by nature can be veiled. Hence that which *māyā* veils must be *Brahman* alone which is by its very nature intelligent and luminous. The power of error too like the power of ignorance must have a ground (*āśraya*) and an object (*viśaya*). *Brahman* is both the support and object of *Māyā*. Erroneous perception also requires a real object that is erroneously perceived, e.g., the rope that is perceived as a snake.

Śaṅkara does not support any theory of creation at all. According to him those who theorize about creation always commit the fallacy of thinking that creation is the expansion of God. Seeing a magician throw a rope into the sky, climbing on it fully armed, even going beyond sight and getting torn up in a battle, falling and rising again, one does not believe in the reality of the magic that he does. He compares the throwing of the rope into the air as the appearance of sleep, dream etc. The magician mounting the rope is compared to the states of *prajñā* and *taijasa*. However, the real magician is different from both the rope and the one who mounted it. He always remains on the ground, hidden by his own magic and unseen. The fourth state, *turīya*, which is the supreme reality is like the magician in the analogy. He therefore recommends for the real aspirant of truth, meditation only on the reality. He should not have any theory of creation which is futile (*Nikhilananda* 1995, I, 7). *Śaṅkara* points out that it is not the case that the snake that is assumed illusorily in the rope existed there in fact and then was removed through discrimination. Nor is it that the magic produced by the magician exists in fact and is then removed when the veil is lifted off the sight of the onlookers. Even thus here, the duality which is called the world, is a mere illusion. Non-duality comparable to the rope and the magician is the supreme truth. Therefore, no world either as evolving or dissolving exists (*Nikhilananda* 1995, I, 17). Duality which is the nature of difference is said to exist because it is perceived and is practically useful. Therefore, *Śaṅkara* concludes that perception and practicality are not the criteria for the reality of duality (*Nikhilananda* 1995, iv, 44). Where does the appearance of the world subsist? Does it have a reality apart from Brahman? *Śaṅkara* answers that just as pot-ether, basin-ether etc, are not different from the ether-at-large, and just as the mirage-water etc, are not different from the desert sand etc, because they are of the nature of what appear and are subsequently sublated, and because their nature cannot be defined, even so the aggregate called the world, consisting of objects of enjoyment and enjoyers, has no existence apart from *Brahman* (*Gambhirananda* 1977, II, i, 14). Just as all empirical usages relating to dream is true before one wakes up, similarly, all empirical usages are true only before the realization dawns that the Self is the *Brahman* itself. As long as there is no knowledge of the one true Self, for no one there arises the knowledge that the modifications characterized by the means of knowledge, objects of knowledge, fruit etc, are unreal. It is the modifications that all beings apprehend as 'I' and 'mine' identifying them with the Self on account of nescience, rejecting the natural truth that *Brahman* is indeed the Self. If this be the case the question remains as to why the scriptures like the *Upaniṣads* speak of creation explicitly? *Śaṅkara* says that wherever creation has been declared in the scriptures through illustrations of clay, metal, spark etc, are only a means to generate in us the cognition of the oneness of the individual soul and the supreme soul. He takes the example of the story of the organs of speech etc, being smitten with evil by the demons, as related in the sections on *prāṇa*, which serves as a prelude to the teaching of the excellence of the *prāṇa* and also points out that in different sections on *prāṇa*, the story is related differently. According to him if the story were absolutely true, then the narration would be identical in all the sections, and not in various forms which are even mutually contradictory, as they appear in

those sections. Therefore the narration is not for teaching that the story is true; similarly, the texts dealing with creation are but a prelude to the cognition of the oneness of the Self (Nikhilananda 1995, iii, 15).

Śaṅkara furnishes a formal proof for the illusoriness of the world in keeping with the structure of the *Nyāya* inference. The premise (*pratijñā*) is that the things perceived in the waking state are illusory. The reason (*hetu*) is because they are perceived. Like the things perceived in dream: this is the example (*dṛṣtānta*). The subsumptive correlation (*upanaya*) is that just as in dream the things perceived are illusory, so it is even in the waking state. Therefore there is illusoriness in the waking state also: this is the conclusion (*nigamana*). Because of being within and in enclosed space, the things perceived in dream are different from those perceived in waking. But ‘being perceived’ and ‘being unreal’ are common to both (Nikhilananda 1995, ii, 4). The things perceived in the waking state do not exist at the beginning nor in the end, hence they are illusory. Śaṅkara further argues that that which does not exist at the beginning or in the end, e.g. mirage etc does not exist in the middle also. So, these things that are perceived in the waking are illusory since they are similar to the illusory mirage which is non-existent in the beginning and the end. Only the dull-witted people who do not know the nature of the Self refer to them as real.

7. Causation

Śaṅkara regards the world as an ordered whole in which the laws of space, time and causation hold true. He accepts two kinds of material cause: the Self-transforming (*pariṇāmakāraṇa*) and the Self-transfiguring (*vivartakāraṇa*). In the realm of the empirical that is defined by space, time and causation, Śaṅkara accepts the causal relation to be transformative. He accepts the transformation of *Prakṛti* into 24 evolutes ranging from the subtlest to the gross. The same cannot be extrapolated and applied to the level of the Absolute which transcends space, time and causation. The Absolute being free from any kind of mutation, any change that is experienced can only be transfigurative and not transformative, i.e., the change from cause to effect is merely apparent and not real. Śaṅkara opposes and refutes the *Nyāya-Vaiśeṣika* contention that the effect is a non-being before it is born. Taking the example of a pot, the *Nyāya-Vaiśeṣika* philosophers argue that the pot is not the same as the clay before its creation and therefore, its status is that of a non-being. Śaṅkara argues that before the creation of the pot it existed as clay and the clay is not non-being, i.e., the pot is in its causal state and is identical to its cause which is certainly not non-being. Śaṅkara argues that the effect is not in fact different from the cause; if it were different from the cause, we must be able to get a pot without the clay. What is new here is only the form of the pot. We can therefore say that the form of the pot does not have its own being before it is made, for its being is the being of clay. As the form does not have its own being, we can safely conclude that it has no reality of its own. Generalizing from this example Śaṅkara says that no effect has a reality of its own; only the cause has reality. Applying this line of reasoning to metaphysics, Śaṅkara argues that the *Brahman* alone is real; everything other than it is relatively unreal.

Conclusion

According to Śaṅkara, what is usually connoted by the term ‘awareness’, is a fusion of consciousness with the psycho-physical adjuncts, or rather the reflection of consciousness on these adjuncts which are in fact material and hence insentient. Therefore, the enquiry into consciousness should begin with an analysis of our awareness, i.e., an analysis of everything that is presented to our consciousness. By a rigorous analysis, the eternal is separated from the non-eternal; the true subject is isolated from the object. The residuum of this analysis is pure consciousness that can never be objectified. The principle of consciousness is not merely caged in the psycho-physical organism but extends infinitely beyond, pervading the whole of creation and also transcending it. This is not merely a logical extrapolation, but a fact known through experience in the state of samādhi. This state of pure consciousness is experienced in turiya, the fourth state that transcends the empirical states of waking, dream and dreamless sleep. Consciousness is infinite knowledge and bliss. Creation is but a mere shadow superimposed on it.

In tune with the Upaniṣadic dictum that the ultimate reality is one that the mind cannot grasp and from where words return unable to reach them, Śaṅkara says that the definition of Sat-Cit-Ānanda has only a negative implication. Sat implies that the reality is not non-existent; Cit implies that the reality is not devoid of consciousness and Ānanda implies that it is not devoid of bliss. Consciousness for Śaṅkara is a principle that excludes the universe of name and form though it pervades everywhere. It is the substratum of the universe of diversity wherein the names and forms are grafted on it. Logically it is arrived at by a process of negation (*neti-neti*), where, after negating everything other than consciousness, the remaining residuum, indescribable though it is, is consciousness. Such a negative process ensures that consciousness is totally different from any entity or action in the world, be it physical or psychological. It transcends them entirely. Even the perspective wherein consciousness is identified as possessed of infinite qualities (*saguṇa*), is born out of viewing consciousness through the limiting adjuncts of name and form superimposed on it. True knowledge destroys and dispels this superimposition thereby leaving room only for pure consciousness unconditioned by adjuncts. Śaṅkara categorically dismisses as absurd and self-contradictory, the view that consciousness can simultaneously be possessed of and free from attributes.

Non-sublatability (*abādhyatā*) as the criterion of truth is the pivot around which the whole of the metaphysics of Śaṅkara revolves. The levels of reality which is the backbone of Śaṅkara’s metaphysics, is rooted in this criterion of truth. Śaṅkara categorically dismisses as unreal anything that does not stand the test of this criterion of truth. On the basis of this he gives to the universe of experience, a lower ontological status. Regarding the Upaniṣadic dictum that everything is Brahman, Śaṅkara explains that it has to be understood in a specific sense. Brahman or consciousness is the substratum (*adhiṣṭhāna*) of all entities in the world. The existence of every entity is rooted in the consciousness that supports and gives reality to it. In this sense every entity is essentially the consciousness that supports it. But the

identity of an entity marked by the name and form acting as limiting adjuncts is rooted in an eternal principle of nescience that at once veils the true nature of consciousness (*āvaraṇa*) and projects a universe of name and form (*vikṣepa*) that is superimposed on it. This identity being opposed to the true nature of consciousness, can never be equated with it. Moreover, the whole ontology of this principle of nescience is indescribable (*anirvacanīya*) as it can neither be termed existent (*sat*) as it is sublated in the knowledge of Brahman, nor can it be called non-existent (*asat*) as it is an object of experience and anything that is an object of experience cannot be dismissed away as non-existent, as without an element of existence, it cannot become an object of experience. The knowledge of *Brahman* completely destroys this principle of nescience along with all its products just like fire burns camphor without leaving any residue. So any entity can be called ultimately real only when it is shorn of its limiting adjuncts of name and form. And when name and form are desuperimposed from an empirical entity, what remains is the infinite pure consciousness that is unbound. Therefore *Śaṅkara* says that when the scriptures speak of the objects of the world as Brahman, its meaning should not be construed in a literal sense but in the sense of consciousness that gives existence to it. Such statements in the scriptures are mere pointers which draw our attention to the reality that underlies all objects constituted of name and form. The scriptures never intend to describe an empirical entity delimited by name and form and bound to an existence in space, time and causation, as ultimately real or as having the same ontological status as Brahman. If such an equal ontological status is granted, then it would defeat the very objective of an enquiry into the nature of the ultimate reality.

According to *Śaṅkara*, consciousness which is in fact free from attributes and limitations appears to be limited and conditioned by certain limiting adjuncts like names and forms, when it is perceived in conjunction with them. These limiting adjuncts are superimposed on pure consciousness owing to the principle of nescience (*avidyā*). Pure consciousness in its true nature can be comprehended only in the plane of the absolute (*pāramārthika drṣṭi*). When viewed from the plane of the empirical (*vyāvahārika drṣṭi*), it appears to be conditioned by various limiting adjuncts. Consciousness at all times remains completely free from the taints of the limiting adjuncts though it appears to be bound by them. Just as the plane of the absolute dawns only when the empirical is sublated, similarly, the unconditioned consciousness is realized only when the conditioning factors are sublated. Their co-existence is impossible.

Śaṅkara however maintains the dichotomy of the Self and not-Self which is in fact a watertight division made between consciousness and the world. To think of consciousness as dynamic is an error that is committed due to a lack of discrimination between the consciousness that illumines and the whole of creation that is illumined and animated by it. Consciousness only lends the light; the power of sentience which illumines the insentient Prakṛti. It does not transform itself but only transfigures into the world of creation. *Brahman* or consciousness is the transfigurative cause of the universe while Prakṛti or *māyā* is the transformative cause. Now the argument of *Śaṅkara* is that when creation occurs without

any change whatsoever in its source which is consciousness, it can only be apparent and not real. The term change or transformation can be applied only to empirical entities where there is a depletion of source when something is created out of it. For example, when a pot is created out of clay, the lump of clay is completely used up in the process. The word creation cannot be used if the source remains unchanged. Moreover giving equal ontology to *Brahman* or consciousness and creation would put the universe at par with *Brahman* and logically when two entities are equally real and at par with each other, one's existence cannot be completely dependant on the other. But the scriptures categorically state that it is *Brahman* that provides existential reality (*satta*) to the world. Moreover an equal reality to consciousness and world would create a situation where two independent realities exist side by side. This undermines the non-dual nature of reality.

¹Department of Philosophy
Government College for Women, Thiruvananthapuram
lvijai@gmail.com
²Amrita School of Spiritual and Cultural Studies
Amrita Vishwa Vidyapeetham, Amritapuri
padmakumarpr@am.amrita.edu

References:

1. Gambhirananda, Swami. 1977. *Brahma-sūtra bhāṣya of Sri Śaṅkarācārya*. Calcutta: Advaita Ashrama.
2. Gambhirananda, Swami. 1957. *Eight-Upaniṣads with the commentary of Śaṅkarācārya* Volumes 1 & 2. Calcutta: Advaita Ashrama.
3. Sastry, Alladi Mahadeva. 1977. *The Bhagavad-Gita with the commentary of Sri Śaṅkarācārya*. Madras: Samata Books.
4. Nikhilananda, Swami. 2002. *Self-Knowledge*. Madras: Sri Ramakrishna Math.
5. Jagadananda, Swami. 2000. *A Thousand Teachings (Upadeśa Sāhasri) of Sri Śaṅkarācārya*. Madras: Sri Ramakrishna Math.
6. Nikhilananda, Swami. 1995. *The Māṇḍūkya Upaniṣad with Gaudapāda's Kārika and Śaṅkara's commentary*. Calcutta: Advaita Ashrama.
7. Madhavananda, Swami. 2000. *Viveka-Cūdāmaṇi of Sri Śaṅkarācārya*. Calcutta: Advaita Ashram.
8. Shraddhananda, Swami. 1993. *Laghu Vākya Vṛtti of Sri Śaṅkarācārya*. Calcutta: Advaita Ashrama.
9. Madhavananda, Swami. 1997. *The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad with the Commentary of Śaṅkarācārya*. Calcutta: Advaita Ashrama.
10. Gambhirananda, Swami. 1997. *Chāndogya Upaniṣad with the commentary of Śaṅkarācārya*. Calcutta: Advaita Ashrama.
11. Gambhirananda, Swami. 1995. *Śvetāśvatara Upaniṣad with the commentary of Śaṅkarācārya*. Calcutta: Advaita Ashrama.
12. Samvid. 2003. *Prabhodasudhākara of Śaṅkarācārya*. Madras: Samata Books.
13. Nair, G. Balakrishnan. 1974. *Maniṣāpañcakam of Śaṅkarācārya (Malayalam translation)*. Thrissur: Sri Ramakrishna Ashram, Puranattukara.
14. Tattwananda, Swami. 2002. *The Quintessence of Vedānta of Sri Śaṅkarācārya*. Kalady: Sri Ramakrishna Advaita Ashrama.
15. Jagadīś Śāstri, Ācārya. 2000. *Brahmasūtraśaṅkarabhāṣyam*. Delhi: Motilal Banarsidass.

ISSN 0974-0066



डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

सागर (मध्यप्रदेश) - 470 003

दूरभाष : 91-7582-264455

ई-मेल : madhyabharti_ss@dhsgsu.edu.in

